EDUCATION SYSTEM IN ANCIENT INDIA
(From the Earliest Times to Circa 600 AD)
(In Hindi)

A

Thesis Submitted for the Degree of
DOCTOR OF PHILOSOPHY
of
University of Allahabad
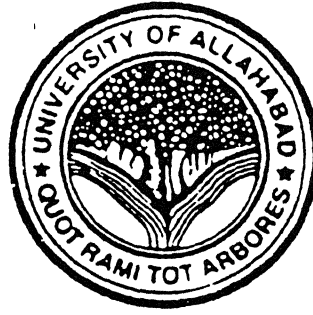
Under the Supervision of
DR. RAM PRASAD TRIPATHI

Presented By
SANJAY KUMAR SINGH

Department of Ancient History Culture and Archaeology
University of Allahabad, Allahabad

2001

अनुक्रमणिका

पुरोवाक्

प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्वति पर शोध कार्य करते हुए सांस्कृतिक गवाक्षों से सुदूर अतीत में झाँकना अपरिहार्य था । यदि किसी युग विशेष की केवल शिक्षा पद्वति की परख की जाय तो आलोच्य युग की सभ्यता, संस्कृति, जीवन–शैली, आचार–विचार, यहाँ तक समग्र युगीन इतिहास की भी सम्यक् विवेचना हो जाती है । चूँकि 'शिक्षा' भारतीय जीवन का आवश्यक अंग एवं सस्कति की आधार शिला रही है । अत उसमें धर्माचरणों, वर्णाश्रमों, संस्कारों, सामाजिक–सांस्कृतिक वैभवों, परवर्ती युग धर्म, राष्ट्रीय चरित्र, पारस्परिक संवेदनाओं एवं स्थापित नैतिक आदर्शों के लिए भी पर्याप्त स्थान रहा है। उसके महत्व को इस रूप में माना गया कि उसका उद्देश्य तत्कालीन समाज में चरित्र–निर्माण,धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति, सांस्कृतिक मूल्यो का संरक्षण और सवर्द्धन, व्यवहारिक–सामाजिक गृहस्थ जीवन के उद्देश्यो की पूर्ति एवं भावी-पीढी के नव–निर्माण में निहित रहा है । वस्तुतः शिक्षा ही वह कड़ी है, जो वर्तमान को सुनहरे अतीत से जोड़ती है । हमारा वर्तमान यदि शिक्षा–पद्धति की डोर पकड कर अन्वेषण मार्ग पर शनैः–शनैः विभिन्न कालों से होता हुआ अतीत की ओर चले, तो देख सकेगा कि उसका सम्पूर्ण इतिहास सहसा ज्ञान की दीप्ति से आलोकित हो उठा है तथा शिक्षा–प्रविधि विषयक् महानतम् स्थापनाएँ एवँ संभावनाएँ इसी मिट्टी में बिखरी पड़ी है, जिन्हें समझने और विवेचित करने का प्रयास प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध् में किया गया है । उपलब्ध साक्ष्यों का यथासंभव आलोचनात्मक एवं वस्तुनिष्ठ विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है। तदन्तर ब्राह्मण एवं बौद्ध–शिक्षा पद्धति के मध्य तुलनात्मक अध्ययन का भी प्रयास किया गया है । समय–समय पर पाठ्यक्रम एव प्रविधि में जो परिवर्तन होते रहे, उनपर भी दृष्टिपात करते हुए कारणों को अनुरेखित किया गया है । समकालीन विश्व की शिक्षा–पद्धतियों का तुलनात्मक विश्लेषण करते हुए एकरूपता एवं वैभिन्नता को यथास्थान विवेचित किया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध छः अध्यायो मे विभक्त है । शिक्षा का स्वरूप, ध्येय एवं अवधारणा प्रथम अध्याय का विषय है । इसके अन्तर्गत प्राचीन भारत में शिक्षा की व्याप्ति, स्थापित स्वरूपों, उददेश्यों एवं प्रचलित अवधारणाओ का अनुशीलन करते हुए वर्णाश्रम धर्म के साथ इसके सामंजस्य को समझने की चेष्टा की गई है। इस क्रम मे प्राचीन शिक्षा के निहितार्थ, उसके आदर्शो एवं विभिन्न संदर्भो में उसकी सार्थकता को रेखांकित करने के साथ ही शिक्षा के सामाजिक–सास्कृतिक व्यक्तिपरक, चारित्रिक एवं धार्मिक उद्देश्यों का संवीक्षण किया गया है ।

द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत आचार्यो के प्रकार, आचार्यात्व का आधार, उनकी योग्यता, प्रशिक्षण, कर्त्तव्य एवं अध्यापन वृत्ति की उदात्तता आदि पर विचार करते हुए शिक्षक–शिक्षार्थी सम्बन्धो की सम्यक् विवेचना की गई है। इस क्रम में शिक्षा सम्बन्धी संस्कारों की वैज्ञानिकता एवं ब्रह्मचर्य आश्रम की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए शिक्षार्थी के प्रकार, उसकी योग्यता, आचरण, दिनचर्या, भिक्षाटन एवं उसके महत्व तथा सामान्य कर्त्तव्यों का तार्किक परीक्षण किया गया है ।

तृतीय अध्याय के अन्तर्गत शिक्षालयों में प्रवेश–प्रणाली, पात्रता, शैक्षणिक–अवधि, शिक्षण–सत्र, पाठ्यक्रम, अध्ययन एवं परीक्षा–प्रविधि की सम्यक् रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए शिक्षारंभ से शिक्षा समापन तक विभिन्न शिक्षालयों में अपनाई जानेवाली प्रविधियों को पहचानकर उसकी उपादेयता पर विचार किया गया है ।

चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत ब्राह्मण शिक्षण–संस्थाओं, देवालय आश्रित शिक्षालयों, अग्रहार गांवो, टोलों, बौद्ध शिक्षण–संस्थाओं आदि पर प्रकाश डालते हुए उनके सामान्य प्रबंधन एवं वित्तपोषण आदि विन्दुओं की ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण किया गया है ।

पंचम अध्याय में स्त्री–शिक्षा के महत्व एवं शिक्षित स्त्रियों की बहुआयामी भूमिकाओं पर प्रकाश डाला गया है । उनका उपनयन एवं ब्रह्मचर्य जीवन,

छात्राओं के प्रकार, शैक्षिक वर्गीकरण, शिक्षिकाओं की स्थिति, पाठ्यक्रम तथा उनके शिक्षा विषयक् अधिकारों की विवेचना की गई है। स्त्री शिक्षण–शालाओं के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए स्त्री–शिक्षा मे उत्पन्न अवरोधों एवं व्यवधानों पर भी विचारणा प्रस्तुत की गई है।

अंतिम अध्याय उपसंहार में प्राचीन शिक्षा–पद्धति के महत्वपूर्ण पक्षों का आकलन करते हुए उसकी उपादेयता पर प्रकाश डाला गया है । वर्तमान शिक्षा–प्रणाली की खोखली सभावनाओं, उपभोक्तावादी प्रवृत्तियों तथा उद्देश्य विहीनता की स्थिति में यह अपरिहार्य हो गया है कि प्राचीन शिक्षा–पद्धति के धार्मिक–आध्यात्मिक पक्षों की वर्तमान सदर्भ में प्रासंगिकता पर विचार किया जाय । प्राचीन शिक्षा–पद्धति और नवीन युग बोध के मध्य उपादेय समन्वय की अभ्यर्थना पर प्रकाश डाला गया है।

अपने शोध विषय पर कार्य करते हुए जब भी कोई कठिनाई उत्पन्न हुई शोध पर्यवेक्षक डॉ. राम प्रसाद त्रिपाठी जी का पुत्रवत् स्नेह, अपेक्षित सहयोग एवं स्नेहिल मार्गदर्शन समय–समय पर प्राप्त होता रहा। डॉ. साहब की वरद् प्रेरणा के कारण ही यह शोध प्रबन्ध इस कलेवर मे प्रस्तुत कर पा रहा हूँ । अतः अपने श्रद्धेय गुरूवर का ह्रदय से आभारी हूँ। विषय के अनुशीलन एवं निबंधन में जिन अन्य आचार्यो से मुझे जो दिशानिर्देश प्राप्त हुआ, उसके लिये उन सभी के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। गुरू पत्नी श्रीमती निर्मला त्रिपाठी का मुझे सदैव पुत्रवत स्नेह एवं आशीर्वाद मिलता रहा है, मैं उनका कृतज्ञ हूँ । अग्रज डा0 राजीव श्रीवास्तव, भाभी श्रीमती रमा श्रीवास्तव एवं डा0 उदय वीर सिंह जैवार जी का मैं विशेष आभारी हूँ, जिन्होने मुझे हर तरह का सहयोग प्रदान कर समय–समय पर प्रेरित किया । अग्रज तुल्य श्री शैलेन्द्र एडवोकेट ने मुझे जो स्नेह एवं सम्बल प्रदान किया, उसका अंकन शब्दों में असंभव है । मित्रवर डा0 त्रिभुवन सिंह, डा0 योगेन्द्र प्रताप सिंह, डा0 सुनील विक्रम सिंह, श्री वेद प्रकाश शुक्ला, सुधांशु त्रिवेदी, डा0 घनश्याम उपाध्याय, डा0 के0एन0 सिंह,डा0 ओम प्रकाश, डॉ. सुरेश जैन, अमरेन्द्र सिंह सेंगर, अनुज

सिंह, अरविन्द कुमार वर्मा, डॉ जयशकर मिश्र, इन्द्रजीत सिंह, कृष्णकान्त प्रसाद एवं नीरज गुप्ता का भी विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने समय–समय पर अपने अमूल्य सुझाव और सहयोग से इस श्रमसाध्य कार्य को सुगम बनाया। अनुज मृत्युंजय, अनन्त, आशुतोष, प्रदीप एवं बहन श्वेता तथा डॉ. मंजू शर्मा भी धन्यवाद के हकदार हैं, जिन्होंने शोध कार्य की पूर्णता में अपना यथोचित सहयोग दिया। विशाल बाजपेई एवं उनके सहयोगी रूपेश श्रीवास्तव को भी धन्यवाद देता हूँ, जिन्होने शोध प्रबंध के टंकण में हर तरह का सहयोग प्रदान किया।

अन्त में अपने पिता जी श्री हरेश्वर सिंह एवं माता जी श्रीमती रामकुमारी सिंह को नमन करता हूँ, जिन्होंने मुझे नैतिक बल प्रदान किया ।

(संजय कुमार सिंह)
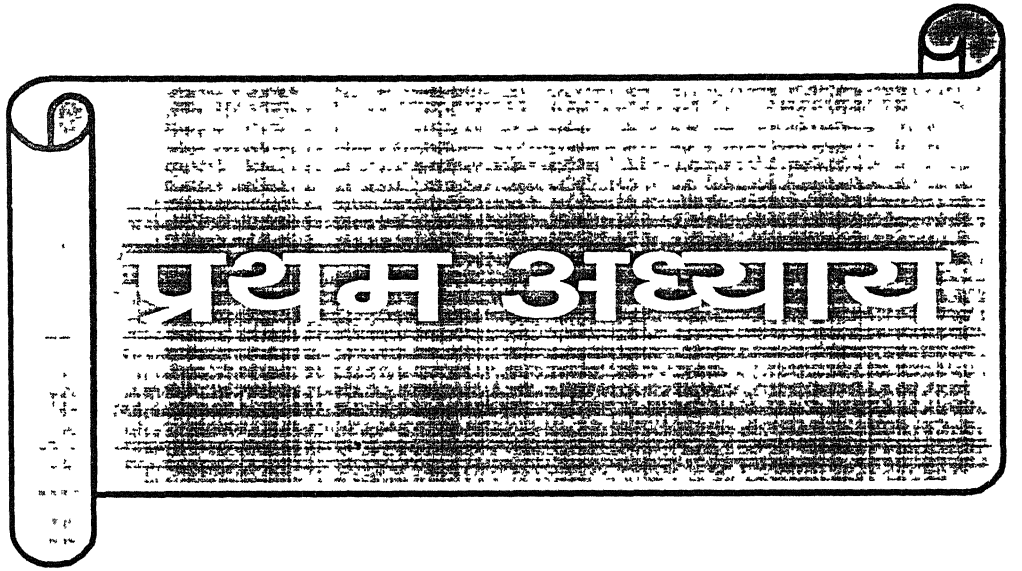
प्रथम अध्याय

शिक्षा का स्वरूप, ध्येय एवं अवधारणाएँ

अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा आयोग के 1971 के प्रतिवेदन के अनुसार प्रत्येक देश मे शिक्षा व्यवस्था वहाँ की राष्ट्रीय चेतना, संस्कृति एवं परम्पराओं की सर्वोच्च अभिव्यक्ति होती है, जिससे उस राष्ट्र की आत्मा को समझा जा सकता है। उदीयमान संततियो को राष्ट्रीय परम्पराओं के उच्च आदर्शो के रग में रंगने, तदनुकूल आचरण करने तथा जीवन के वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त कराने में शिक्षा की महती भूमिका होती है। इस दृष्टि से आलोच्यकालीन शिक्षा पद्धति की भूरि–भूरि प्रशसा की जानी चाहिए, जिसमें वह पर्याप्त सफल थी।

अधिकाश विद्वानों ने अपने लेखो मे प्राचीन भारतीय शिक्षा–पद्धति की कतिपय विशेषताओं को समेकित रूप से विश्लेषित करने का प्रयास किया है जिनमे काल–क्रम तथा परिवर्त्ती मूल्यो की सामान्यतया उपेक्षा कर दी गई है, ऐसे प्रयासों को वैज्ञानिक आधार पर उचित नहीं ठहराया जा सकता है, क्योंकि कोई भी घटना किसी काल के लिये तो सत्य हो सकती है, लेकिन वह अन्य कालों के लिए भी सत्य हो यह आवश्यक नहीं। उदाहरण स्वरूप प्राचीन भारत में लोगो के व्यवसाय जाति के आधार पर निर्धारित होते थे। यह बात स्मृति काल के लिये तो सत्य है, लेकिन वैदिक काल के लिये नहीं। वैदिक समाज में शिक्षा के अवसर प्रदान करने में लिंग भेद तथा पुरूषों की भाँति स्त्रियों को भी वेदाध्ययन एवं उच्च शिक्षा प्राप्त करने की समान पात्रता मान्य थी लेकिन कालान्तर में स्त्रियों को वैदिक शिक्षा से वंचित कर दिया गया। एक समय हिन्दू समाज शिल्पगत ज्ञान, ललित कलाओं का ज्ञान, चिकित्सकीय–औषधीय ज्ञान को प्रदान करने के पक्ष में था तथा उनके ज्ञान को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था, लेकिन उत्तरकाल में ऐसे ज्ञान को हेय समझा जाने लगा। अतः भारतीय शिक्षा पद्धति की विशेषताओं को विभिन्न कालक्रमों के परिवर्त्ती मूल्यों एवं अपेक्षाओं के परिप्रेक्ष्य में रेखांकित किया जाना तथा तद्नुसार उन्हें मूल्याकित किया जाना अभिहित है।

शिक्षा, प्राचीन भारतीय संस्कृति की आधारशिला रही है, जिसका स्वरूप सुव्यवस्थित, सुनियोजित एव ज्ञानपरक था तथा जिसका उद्देश्य व्यक्ति के लौकिक एव पार-लौकिक जीवन का उत्थान और प्रदत्त उत्तरदायित्वों का सम्यक निष्पादन करना था। प्राचीन शिक्षाविदो की ऐसी मान्यता थी कि ज्ञान से मुक्ति मिलती है।[1] ज्ञान के प्रकाश से मनुष्य का जीवन प्रकाशित होता है तथा वह किसी भी कार्य को वैज्ञानिक कसौटी पर कसकर करने में समर्थ होता है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार विद्या (ज्ञान) और अविद्या (अज्ञान) जीवन के दो खण्ड है। अत. जो व्यक्ति विद्या को साथ लेकर चलता है और कार्य को सच्ची निष्ठा से करता है, वह हर लक्ष्य को प्राप्त करता है।[2] इस प्रकार विद्या से न केवल व्यक्ति का कर्म और आचरण परिष्कृत व परिमार्जित होता है, बल्कि वह ज्ञानी होकर देवतुल्य हो जाता है, जैसे कि वैदिक काल में न केवल पुरूष बल्कि अपाला, घोषा इत्यादि विदुषी स्त्रियों के भी उद्धरण मिलते हैं। वैदिक काल में ऐसे व्यक्ति को उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त थी और ज्ञान सम्पन्न वह व्यक्ति ऋषि—ऋण से मुक्त माना जाता था। उस युग में ऊँचे विचार, ज्ञान की महिमा, त्यागमय जीवन, आध्यात्मिक चिंतन भौतिक आकर्षण के प्रति विरक्ति आदि मानव जीवन के मूल्य थे। ऋग्वेद में वर्णित् गायत्री मंत्र ज्ञान के उच्चतम आधार थे। वेदांग के अन्तर्गत शिक्षा का सम्मलित होना शिक्षा की महत्ता को प्रतिबिम्बित करता है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि स्वाध्याय और प्रवचन के पथ पर चलने से मानव मन एकाग्र होता है। परिणामतः चिन्तन शक्ति बढ़ती है तथा प्रवचन से उसे नित्य धन की प्राप्ति होती है, सुखद, निद्रा आती है, वह अपना चिकित्सक स्वय बन जाता हैं, इन्द्रियां संयमित हो जाती है। वह प्रज्ञावान और यशस्वी होकर संसार के शैक्षिक एवं नैतिक उत्थान में लग जाता हैं। समाज उसे आदर एव सुरक्षा प्रदान करता है तथा दान देता है। प्राचीन ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि जो लोग विभिन्न विद्याओ का अध्ययन करते हैं, उनसे न केवल देवता प्रसन्न होते है, बल्कि वे अपनी समस्त कामनाओं को पूर्ण करते हैं।[3] बृहदारण्यक् उपनिषद् में तीन लोक की कल्पना की गई है — मनुष्य लोक, पितृ

लोक, एवं देव लोक। इनमें मनुष्य लोक पुत्र प्राप्ति द्वारा, पितृ लोक यज्ञादि कर्म द्वारा जबकि देव लोक विद्या प्राप्ति द्वारा जीता जा सकता था। ऐसी मान्यता थी कि तीनो लोक में देव लोक श्रेष्ठ होने के कारण विद्या प्रशंसनीय है,[4] विष्णु पुराण के अनुसार विद्या के बिना मानव जीवन बोझिल एवं व्यक्तित्व संकुचित होता है, अतः अज्ञानता अंधकार के समान है।[5] छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार अक्षर विज्ञ और अविज्ञ दोनों कर्म करते हैं, किन्तु जो कर्म विद्या, श्रद्धा एवं योग से संयुक्त होकर किया जाता है, वही प्रबलतर होता हैं।[6] इसीलिए बृहदारण्यक् उपनिषद् मे कहा गया है कि जिसे ज्ञान का प्रकाश उपलब्ध नही, वह नेत्रहीन की भांति होता है और नरक में जा गिरता है।[7] ऋग्वेद मे मनुष्य की श्रेष्ठता का आधार ज्ञान को स्वीकार किया गया है।[8]

शिक्षा का तात्पर्य

प्राचीन भारत में शिक्षा शब्द का प्रयोग संकुचित एवं विस्तृत दोनों अर्थो में प्रयुक्त हुआ है। विस्तृत अर्थ में अपने को सभ्य, सुसंस्कृत एवं उन्नत बनाना ही शिक्षा थी, जो कि जीवनपर्यन्त चलती थी। एक विचारक के अनुसार विप्र आजीवन विद्यार्थी रहता है।[9] व्यवहार में एक चिकित्सक, अध्यापक, वकील, चित्रकार, संगीतकार, व्यापारी एवं मूर्तिकार आदि को जितने ज्ञान की आवश्यकता होती है, वह किसी विद्यालय से प्राप्त नहीं हो सकता, बल्कि निरंतर नित नये अनुभव ही उसके विस्तृत ज्ञान काआधार बनता है। किन्तु संकुचित शिक्षा का तात्पर्य उस शिक्षा से था जिसे प्रत्येक स्नातक अपने व्यवसाय में प्रविष्ट होने से पूर्व ग्रहण करता था। उपनिषदकालीन शिक्षा जीवनपर्यन्त चलती थी। पूर्णता तब प्राप्त होती थी, जब व्यक्ति आत्मसाक्षात्कार करता था। उदाहरण स्वरूप नारद विभिन्न शास्त्रों के अध्ययनोपरान्त मंत्रविद् हो गये थे, लेकिन उनकी व्यग्रता तब शांत हुई जब वे सनत्कुमार से ज्ञान प्राप्त कर आत्मविद् हुए। इस प्रकार प्राचीन शिक्षा का सम्बन्ध संपूर्ण जीवन से था।

'शिक्षा' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम उपनिषदों में मिलता है।[10] जो 'शिक्ष्' धातु से बना है, जिसका तात्पर्य सीखने से है। यद्यपि उपनिषदों में 'शिक्षा' शब्द का प्रयोग संकुचित एवं वृहद् दोनों अर्थों में हुआ है।[11] शंकराचार्य के अनुसार शब्द एवं वर्णादि का उच्चारण सीखना ही शिक्षा है।[12] निःसंदेह इस विवेचन के मूल में संकुचित दृष्टिकोण छिपा हुआ है। जबकि उपनिषद् काल में शब्द एव वर्णादि का ज्ञान ही शिक्षा नहीं था, बल्कि उसमें[13] धर्म, दया, दान, सादृश्य, आत्मिक गुणों के विकास के साथ–ही–साथ शाश्वत मूल्यो के विकास का प्रावधान भी समाहित था। यही कारण है कि स्नातको के उपदेश विधान में व्यक्ति के भौतिक एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष का विधान पाया जाता है।

उपनिषदो में विद्या का चरम उद्देश्य विमुक्ति बताया गया है,[14] जिसके दो पक्ष है– परा एवं अपरा विद्या। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद अथर्ववेद एवं वेदागों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द और ज्योतिष) का संबंध अपरा विद्या से है, जो अक्षर परमात्मा से संबंधित है।[15] यद्यपि दोनों में कोई परस्पर विरोध नहीं है। लौकिक जीवन के लिए वेद तथा वेदांगो की महतीय आवश्यकता समझी गयी, जो आत्मज्ञान के लिये साधक बनकर पूर्व पीठिका का कार्य करती थी। नारद् ऐसे ही मंत्रविद् थे, जो समस्त विषयों को आत्मसात् करने के उपरान्त भी आत्मविद् नहीं हो पाये थे। अतः वे सनत्कुमार के पास गये थे। उपनिषदों में ऐसे ज्ञान को ही पूर्ण ज्ञान माना गया है, जिसके द्वारा ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति संभव थी और ब्रह्म को जानने वाला स्वतः ब्रह्म हो जाता था।[16]

अपरा विद्या का अधिकारी पुत्र या शिष्य के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं हो सकता था। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार क्रियावान, क्षेत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, श्रद्धालु तथा व्रतानुष्ठाता ही इसका अधिकारी हो सकता था।[17] इसकी महत्ता प्रदर्शित करने के उद्देश्य से ही इसका संबंध ब्रह्मा से जोड़ा गया है, जिसे उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वी को दिया था। इसी क्रम मे क्रमशः ज्येष्ठ से कनिष्ठ को प्राप्त होते हुए यह ज्ञान उतरोत्तर विकास को प्राप्त हुआ।[18] अन्यत्र इस ज्ञान को ब्रह्मा ने

प्रजापति को प्रजापति ने मनु को एवं मनु ने प्रजा को सुनाया था। इस प्रकार इस ज्ञान का संबंध विशुद्धतः देवों से करने का अभिप्राय संभवत यही था कि यह ज्ञान प्रतिष्ठा को प्राप्त होता हुआ सर्वजनीय महत्व को प्राप्त हो।[19]

शिक्षा की सार्थकता

वैदिक काल से ही शिक्षा का तात्पर्य प्रकाश के स्रोत से रहा है। एक विचारक का कथन है कि ज्ञान मनुष्य का तीसरा नेत्र है, जो उसे मूल तत्व को समझने योग्य बनाकर सही कार्यो मे प्रवृत्त करता है।[20] ज्ञान की ज्योति के बिना व्यक्ति को अन्धा माना गया था।[21] महाभारत के अनुसार विद्या के समान कोई दूसरा नेत्र नहीं होता[22] विद्या हमें पारलौकिक जीवन मे मोक्ष दिलाती है तथा लौकिक जीवन में समृद्धि एवं प्रगति।[23] विद्या से जिस ज्योति की प्राप्ति होती है, वह संशयों का उच्छेदन, कर कठिनाइयों को दूर करती है और एक सच्चे मार्ग दर्शक की भाँति जीवन के वास्तविक महत्व को समझने योग्य बनाती है। इसीलिए प्राचीन भारतीय विचारकों ने दृढ़ता से कहा था कि शिक्षा के द्वारा विकसित व परिष्कृत बुद्धि ही सच्चा बल है[24], जिसका लाभ निःसंदेह वर्णातीत है। ऋग्वेद (10.71.7) में विद्या को मनुष्य की श्रेष्ठता का आधार स्वीकार किया गया है। प्राचीन ग्रथो में विद्या की महत्ता स्थापित करते हुए कहा गया है कि विद्या, माता की भांति हमारी रक्षा, पिता सदृश शुभ कार्य में सन्नद्ध एवं पत्नी की भाति दुःखों को दूर कर प्रसन्नता प्रदान करती है।[25] उससे कीर्ति बढ़ती है, बाधायें नष्ट होती हैं और हम पवित्र तथा सुसंस्कृत बनते हैं। जब हम किसी यात्रा पर जाते हैं या विदेश में होते हैं तो एकांत में हमारी सहचरी बनकर हमारे सारे मनोरथ सिद्ध करती है।[26] अतः समस्त आनन्द की मूल विद्या ही है, जिससे हमारी योग्यता में वृद्धि होती है और हमें सर्वथा आदर व सम्मान मिलता है तथा धन एवं यश की प्राप्ति होती है। विद्या से प्राप्त धन से महज सुख की प्राप्ति ही नहीं होती, बल्कि उससे धार्मिक एवं लोकजनित पुण्य कार्यों की ओर मूल प्रवृत्ति

भी अग्रसर होती है। इस प्रकार परोक्ष रूप में विद्या हमें मोक्ष का मार्ग भी दिखलाती है[27] और लौकिक एवं पारलौकिक दोनों पुरूषार्थों को सिद्ध करती है।[28]

शिक्षा से प्राप्त प्रकाश एवं परिज्ञान से व्यक्तित्व का पूर्ण रूपान्तरण हो जाता है। एक वैदिक ऋषि का वचन है कि यदि कोई दूसरों से बड़ा है तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि उसके पास कोई अतिरिक्त नेत्र या हाथ होते हैं, बल्कि वह इसलिए बड़ा है क्योंकि उसकी बुद्धि और मस्तिष्क शिक्षा के द्वारा अधिक प्रखर एवं परिष्कृत होती है।[29] भर्तृहरि का कथन है कि विद्या विहीन मनुष्य पशु है,[30] क्योंकि शिक्षा ही हमें मनुष्य बनाती है। अतः शिक्षा रहित जीवन व्यर्थ एवं मूल्यविहीन होता है।[31] एक नीतिकार के अनुसार शिक्षा संस्कार से पूर्व एक ब्राह्मण भी शूद्र रहता है और शिक्षा ही उसके स्वभाव को शुद्ध एवं सुसस्कृत बनाती है।[32] इस प्रकार शिक्षा हमारी नैसर्गिक प्रतिभा को विकसित करने में सहायक होती है। स्वामी विवेकानन्द का विचार है कि मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है। ज्ञान मनुष्य में स्वभाव–सिद्ध है। कोई भी ज्ञान बाहर से नहीं आता, सब अंदर ही है। वह प्रकाशित न होकर ढका रहता है और जब आवरण धीरे–धीरे हट जाता है, तो हम कहते हैं कि हम सीख रहे हैं।[33]

शिक्षा स्वच्छता एवं आचार की सम्यक् कल्पना प्रदान करती है। प्राचीन विचारकों ने यह नियम बना दिया था कि नये ब्रह्मचारी को सर्वप्रथम स्वच्छता एवं शिष्टाचार के ही नियम बतलाने चाहिए।[34] शिक्षा न केवल हमारे अंध विश्वासों को मिटाती है, बल्कि दूसरों के दृष्टिकोण को समझने में सहायता भी प्रदान करती है। परिणामतः व्यक्ति दूरदर्शी व न्यायप्रिय बनता है।[35] शिक्षा से बुद्धि प्रखर, बोध क्षमता विकसित और विवेक पुष्ट होता है, जिसकी परिणति त्रुटियों से हमारी रक्षा करने में दिखती है।[36] नैतिक बल पुष्ट हाने के कारण प्रलोभनों के सम्मुख च्युत न होने की शक्ति प्रदान करती है।

चूँकि, मजबूत संकल्प के लिये स्वस्थ शरीर का होना आवश्यक होता है। अतएव, प्राचीन शिक्षाविदों ने बल देकर कहा था कि प्रत्येक ब्रह्मचारी को अपने शरीर को स्वस्थ रखने हेतु नियम–संयम का पालन करना चाहिये, क्योंकि स्वस्थ शरीर सांसारिक कार्यो के साथ–ही–साथ धार्मिक कार्यो के लिये भी आवश्यक है।[37] प्रत्येक ब्रह्मचारी को आत्म रक्षार्थ लागूड के प्रयोग में निपुणता प्राप्त करने के साथ ही साथ सर्वदा अपने पास दंड रखना पड़ता था। फेफड़े को बलवान बनाने एवं सम्पूर्ण शरीर को पुष्ट रखने हेतु नित्य प्रातः प्राणायाम एवं सूर्य नमस्कार का प्रावधान था। उपलब्ध साक्ष्यों से विदित होता है कि विभिन्न शास्त्रों का ज्ञान रखने पर भी यदि व्यक्ति में अन्तर्दृष्टि का विकास नहीं हुआ और उसे अंतर्ज्योति प्राप्त नहीं हुई, तो वह मूर्ख है। अतः क्रियावान पुरूष ही सच्चे अर्थो में शिक्षित होते हैं।[38] शिक्षा ज्ञानवान बनाने के साथ ही साथ उदरपूर्ति की समस्या भी हल करती है, क्योंकि एक विचारक का कथन है कि कुछ शब्द मात्र रट लेने से शुक भी भोजन प्राप्त कर लेता है, तो एक विद्वान भला कैसे भूखों मर सकता है।[39] किन्तु, प्राचीन भारत में शिक्षा को कभी जीविका का साधन नहीं माना गया, बल्कि ऐसे मत वालों की सर्वथा निन्दा ही की गयी, जो इसे मात्र जीविका का साधन समझते थे।[40]

इस प्रकार प्राचीन भारतीय शिक्षा अन्तर्ज्योति और शक्ति की स्रोत मानी गयी थी, जो शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आत्मिक शक्तियों का संतुलित विकास कर जीवन को श्रेष्ठ बनाती है।[41] शिक्षा का आदर्शात्मक विनियोग मनुष्य को क्रियाशील बनाना था, जिससे वह अपने मूल उद्देश्यो की प्राप्ति कर सके। आत्मज्ञान के साथ–साथ जगत का ज्ञान भी अपेक्षित माना जाता था। ब्राह्मणों के सम्बन्ध मे अत्रि ऋषि का कथन है कि ब्राह्मण, जन्म से ब्राह्मण होता है तथा जब वह संस्कारिक होता है तब वह 'द्विज' कहलाता है, विद्या प्राप्त कर लेने पर वह विप्र एवं तीनों के समन्वित होने पर वह 'श्रोत्रिय' कहा जाता है जो वेदों एवं शास्त्रों को पढ़ता है और उसंके अर्थ का सेवन करता है, उसे 'वेदावित्' कहा जाता है तथा उसके वचन पवित्र करने वाले होते है।[42] चूँकि, प्राचीन भारत में

अशिक्षित ब्राह्मणों के लिये अपनी जीविका चला पाना व्यवहारतः असंभव था, अतः शिक्षा उनके लिए जीविको पार्जन का एक महत्वपूर्ण साधन हुआ करता था। शिक्षा की सार्थकता इस बात में निहित थी कि शिक्षार्थी को पूर्ण बनाकर उसे संतुलित एवं श्रेष्ठ जीवन प्रदान करें। आत्मिक शक्तियों का विकास, सासारिकता से आध्यात्मिकता की ओर बढने की प्रवृत्ति, गुण—अवगुण परखने की क्षमता इत्यादि प्रवृत्तियों के विकास मे शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका थी। डा. सम्पूर्णानन्द की अध्यक्षता में भारत सरकार द्वारा नियुक्त "भावनात्मक एकता समिति" के प्रतिवेदन में कहा गया है कि शिक्षा उन दार्शनिक मान्यताओं का योग है, जो शिक्षार्थी के पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करने में शिक्षण को प्रभावी बनाते हैं, अन्यथा शिक्षार्थी विद्यालय छोड़ने के पश्चात जीवन—सागर में बिना पतवार की नौका के समान भार ढोता हुआ अपने को पायेगा।

शिक्षा के आदर्श

शिक्षा से मानव जीवन विशुद्ध, प्रज्ञा सम्पन्न, शोधित, परिष्कृत, नैतिक मूल्यों से युक्त उच्च आदर्शों से प्रेरित, धर्मप्रवण, बहुमुखी व्यक्तित्व वाला ही नहीं होता, बल्कि मानव समाज भी सात्विक और नैतिक निर्देशों का पालन करता हुआ सन्मार्ग पर चलकर विकसित होता है। अथर्ववेद मे शिक्षा के परिणाम का उल्लेख करते हुए श्रद्धा, मेधा, प्रज्ञा, धन, आय और अमृतत्व को सन्निहित किया गया है।[43]

प्राचीन समय में शिक्षा को प्रकाश और शक्ति का स्रोत समझा गया था, जिसके द्वारा मनुष्य अपने मस्तिष्क और बुद्धि को प्रखर कर जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सही मार्ग का अनुसरण करता था। ऋग्वेद् के अनुसार, शिक्षा के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपनी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्तियों का विकास कर लौकिक एवं पारलौकिक जीवन के वास्तविक सुख को प्राप्त कर सकता था।[44] इस प्रकार प्राचीन शिक्षा का अंतिम ध्येय सांसारिक प्रलोभनों से मुक्त होकर जीवन के वास्तविक सत्य की खोज करना था, जिससे मनुष्य मोक्ष

प्राप्ति की ओर अग्रसर हो सके। शिक्षार्थियो से यह आशा की जाती थी कि वह सदैव गुरुजनो का आदर करे, सत्य का आचरण करे तथा उन्ही कार्यो को करे, जिसे धर्मात्मा व्यक्ति करते है। तैतिरीय उपनिषद् मे गुरु कहता है कि हे शिष्य तू सदा सत्य बोल, धर्म का आचरण कर, स्वाध्याय और प्रवचन में प्रमाद मत कर।[45] संतानोत्पत्ति का ध्यान रख, सत्य, धर्म और आरोग्यता एवं ऐश्वर्य प्रदान करने वाले कार्यो में प्रमाद न कर। माता, पिता, आचार्य व अतिथियों की सेवा में प्रमाद न कर। मेरा जो उचित आचरण है, उसी का तू अनुकरण कर। धर्म संबंधी कार्यो में संशय होने पर तू उसी प्रकारकाआचरण कर जिस प्रकार बेदवेत्ता, विचारशील एवं धर्मात्मा ब्राह्मण आचरण करते हों। चूंकि, प्राचीन शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति के कर्तव्यों पर बल देती थी। अतः सामाजिक कार्य क्षमता विकसित करने में इससे पर्याप्त प्रोत्साहन मिलता था।

जहां तक बौद्ध शिक्षा पद्धति के आदर्श का प्रश्न है, बौद्ध शिक्षा पद्धति का आदर्श भिक्षुओं का बौद्धिक विकास करना, उनमें अनुशासन, विनय और शील की भावना जागृत करना, जिससे उनका नैतिक एवं चारित्रिक विकास हो सके तथा बौद्ध सिद्धांतों का प्रतिपादन मुख्य था। जबकि जैन शिक्षा का मुख्य आदर्श व्यक्ति को पूर्णतया नैतिक बनाना और उन्हें शाश्वत मूल्यों की ओर अग्रसर करना था।

शिक्षा के उद्देश्य

विद्या से न केवल शिक्षार्थी का बौद्धिक विकास होता है, बल्कि वह उचित-अनुचित का निर्णय कर-पाने में भी अपने को समर्थ पाता है। उसमें नैतिक एवं शाश्वत् मूल्यों की भावना प्रबल होती है, और वह दूसरों के प्रति करूणा एवं सहानुभूति पूर्वक तर्क संगत व्यवहार करने योग्य बनता है। इस प्रकार प्राचीन शिक्षा का उद्देश्य शिक्षार्थी की अन्तःशक्तियों का पूर्ण विकास कर उसकी व्यक्तिगत उन्नति करना एवं समाज के लिये उसे उपयोगी बनाना था। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार, प्राचीन शिक्षा ऐसी थी, जिससे व्यक्ति चरित्रवान

बने, उसकी बुद्धि का विकास हो और वह अपने पैरों पर खड़ा हो सके।[46] इसके अन्तर्गत मनुष्य की धार्मिक वृत्तियों का उत्थान, चरित्र-निर्माण व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास, सामाजिक उत्तरदायित्वों का सम्यक् निर्वहन और उसके सांस्कृतिक जीवन का उन्नयन शामिल था।[47]

धार्मिक-वृत्तियों का उत्थान

प्राचीन भारतीय जीवन में धर्म का बड़ा महत्व था। पुरोहित ही प्रायः आचार्य हुआ करते थे। साहित्यिक एवं व्यवसायिक शिक्षा के प्रारंभ में जिन सस्कारों का विधान था तथा अध्ययन काल में जिन व्रतों का पालन करना प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिये आवश्यक था, उनमें गायत्री मंत्र को आत्मसात् करना, सध्या, पूजन, व्रतों का अनुपालन तथा धार्मिक उत्सव, जो प्रायः प्रत्येक मास आचार्य कुल या शिक्षणशाला में सम्पादित होते थे। शिक्षा का प्रारम्भ गायत्री मंत्र से होता था, जिसके द्वारा शिक्षार्थी यह प्रार्थना करते थे कि ईश्वर उनकी बुद्धि को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करे। जिसका एकमात्र ध्येय प्रत्येक ब्रह्मचारी के अदर ईश्वर भक्ति और धार्मिकता की भावना को जागृत करना था। इस प्रकार धार्मिक वातावरण के कारण प्रत्येक ब्रह्मचारी को न केवल पारलौकिक जगत का बोध होता था, बल्कि उसे अंततः यह विश्वास हो जाता था, कि उसका पार्थिव शरीर प्रकृति प्रदत्त विभिन्न तत्वों से निर्मित हुआ है लेकिन अन्तर्यामी आत्मतत्व आध यत्मिक जगत की वस्तु है।

चूंकि, आचार्य कुलों में यज्ञ यज्ञादि निरंतर होते रहते थे। अतः शिष्यों को भी यज्ञीय परम्परा से अवगत कराया जाता था। दैव और पितृ कार्य[48] में प्रमाद न करने का उपदेश भी इस बाद का द्योतक है कि जीवन मे जिन देवताओं से ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है, उन्हें विस्मृत न किया जाय। साथ ही पूर्वजों के प्रति श्रद्धा एवं आस्था भाव भी बनाये रखा जाय। ऐसा उल्लेख मिलता है कि प्रत्येक आचार्य अपने शिष्यों को भी विभिन्न यज्ञीय समारोहो में ले जाते थे।[49] याज्ञवल्क्य अपने शिष्यों को जनक के दरबार में आयोजित यज्ञावसर पर साथ

ले गये थे। विभिन्न अवसरों पर उन्हें धर्माचरण का उपदेश दिया जाता था तथा उनसे अपेक्षा की जाती थी कि वे धर्म में प्रमाद न करें।[50] इस प्रकार प्रत्येक शिक्षार्थी के जीवन में भक्ति, धर्म, शुद्धता, पवित्रता, आस्था एवं विश्वास की भावना का आरोपण व्यवहारिक शिक्षा के माध्यम से होता था। प्राचीन शिक्षाविदों की ऐसी अवधारणा थी कि जीवन के उत्थान और विकास के लिये आत्मबल और आत्मिक शक्ति की आवश्यकता पड़ती है, जो धार्मिक भावना के द्वारा और सबल होती है। व्रतों के पालन से निश्चय ही अपने उस गूढ़ स्वरूप का बोध होता है, जो आत्मविश्वास को विकसित करने मे सहायक होता है।[51] अग्नि परिचर्या का नैतिक नियम न केवल धार्मिक व्रत था, बल्कि वह एक अनुशासन का अंग भी होता था।[52] मनु के अनुसार शौच, पवित्रता, आचार, स्नान–क्रिया, अग्नि कार्य तथा संध्योपासना प्रत्येक ब्रह्मचारी का धर्म था। साथ ही धर्म के पालन मे प्रमाद न करने का निर्देश भी दिया जाता था, जिससे उसका धर्मनिष्ठ–व्यवहार बना रहे।[53]

गुरु के सान्निध्य में रहने वाला प्रत्येक ब्रह्मचारी धार्मिक निर्देशों का पालन करता था। किसी बात की शंका होने पर गुरु उसका निवारण करता था। 'तैत्तिरीय उपनिषद्' में वर्णित है कि "यदि तुम्हे अपने कर्तव्य अथवा सदाचार के विषय मे संदेह उत्पन्न हो, तो जो विचारशील, तपस्वी, कर्तव्य परायण और कोमल स्वभाव के विद्वान हो उनकी सेवा मे उपस्थिति होकर समाधान करो और उनके आचरण तथा उपदेशों को आत्मसात् करो।[54] सत्यभाषण भी प्रत्येक ब्रह्मचारी का धर्म माना गया था और कहा गया था कि सत्य न बोलने से धर्म का क्षय होता है।[55] इस प्रकार तप, दान, सादगी, सरलता, सत्य और अहिंसा जैसे तत्व प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिये अनिवार्य आचार माने गये थे,[56] जिनके आधार पर वह अपने लौकिक और पारलौकिक जीवन को समझ पाने तथा विभिन्न उत्तरदायित्वों को सम्यक सम्पादित कर पाने में अपने को सक्षम बनाता था। साथ-ही आध्यात्मिक जिज्ञासा शांत कर धार्मिक प्रवृत्तियों के माध्यम से जीवन को सात्विक बनाता था। उनकी शिक्षा चाहे धार्मिक रही हो या साहित्यिक, उसका

उद्देश्य प्रत्येक ब्रह्मचारी को इस योग्य बनाना था कि वह समाज का एक धर्मनिष्ठ एवं आदर्श सदस्य बनकर सफल गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए अतिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सके।

चरित्र का निर्माण

प्राचीन शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य प्रत्येक शिक्षार्थी के चरित्र का सम्यक् रूपान्तरण और उन्नति कर नैतिक भावनाओं का विकास करना था। प्राचीन शिक्षाविद्रों की मान्यता थी कि समस्त वेदों का ज्ञाता भी यदि चरित्रवान नहीं है तो वह आदरणीय नहीं हो सकता। जबकि केवल गायत्री मंत्र का जानकार, यदि चरित्रवान है तो पूज्यनीय होगा।[57] इस प्रकार सच्चरित्रता और सदाचरण प्रत्येक ब्रह्मचारी का आभूषण माना जाता था। सद्कर्मो से सच्चरित्र का निर्माण होता है और सद्कर्म नैतिक मूल्यों से संचालित होते हैं, ऐसी मान्यता थी। इसीलिए शिक्षाविधि में ही प्रत्येक शिक्षार्थी के आचरण और चरित्र को उन्नत करने का प्रयास किया जाता था। सहिष्णुता और सौहार्द्र, सत्यनिष्ठा और नैतिकता तथा सदाचरण और आदर्श चरित्रोत्थान के प्रधान तत्व थे। अतः धार्मिक और चरित्रवान व्यक्ति ही पंडित माना जाता था।[58] शिक्षा के द्वारा व्यक्ति न केवल अपनी तामसिक और पाशविक–वृत्तियों पर नियंत्रण प्राप्त करता है, बल्कि सत्य का बोध हो जाने पर वह अपने आचरण व चरित्र को तद्नुकूल बना लेता है, ऐसी प्राचीन शिक्षाविदों की मान्यता थी।

ब्रह्मचारी का जीवन संत्, तप और अनुशासन का माने जाने के कारण कहा गया था कि ब्रह्मचारी जो कि ब्रह्मचर्य–व्रत को धारण करता है तेजोमय ब्रह्म अर्थात ज्ञान को धारण करता है और उसमें समस्त देवता निवास करते हैं।[59] ऐसी मान्यता थी कि ब्रह्मचर्य के ताप से ही राजा राष्ट्र की रक्षा करने में समर्थ होता है तथा आचार्य अपने शिष्यों को सम्यक् शिक्षित करने की योग्यता अपने में समाहित कर पाता है।[60] अतः चरित्र और आचारण के उत्थान हेतु

प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिये ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना अनिवार्य धर्म माना गया था और इसीलिए उसे 'ब्रह्मचर्य व्रती' भी कहा गया था। ज्ञान प्राप्ति के निमित्त अनिवार्य रूप से आवश्यक इंद्रिय–निग्रह और व्रत पालन का विचार प्रारंभ से ही संयुक्त हो गया था।[61] वस्तुतः चरित्र के उत्थान में ब्रह्मचर्य पालन का मौलिक अभिप्राय ज्ञान को प्राप्त करना था।[62] जबकि तप ब्रह्मचर्य का आवश्यक अंग था,[63] और शौच, पवित्रता, आचार, स्नान–क्रिया, अग्निकार्य तथा सध्योपासना प्रत्येक ब्रह्मचारी के चरित्र निर्माण के आधारभूत तत्व थे, जिससे उसके चरित्र का उत्थान होता था।[64]

प्रत्येक ब्रह्मचारी को ऐसे वातावरण मे रखा जाता था, जिससे उसका चरित्र अभीष्ट की ओर उन्मुख हो। वे आचार्य की प्रत्यक्ष देख–रेख में रहते थे, जो उनके बौद्धिक विकास के साथ ही साथ आचरण-निर्माण के प्रति भी सजग रहा करते थे। उस समय आचार्य का यह कर्तव्य होता था कि वे इस बात का ध्यान रखें कि उनका ब्रह्मचारी गुरुजनों, बधुजनों और अनुजों के प्रति शिष्टाचार एव सदाचार के नियमों का सम्यक् पालन करता है या नही। हरिश्चन्द्र, भीष्म, राम, लक्ष्मण, भरत, हनुमान, सीता, सावित्री और द्रौपदी जैसी राष्ट्र की महान विभूतियो का आदर्श उनके सम्मुख बारम्बार उपस्थित किया जाता था, जिससे उनके चरित्र-निर्माण में सहायता मिल सके।

कतिपय अद्यतन विद्वानों की धारणा है कि प्राचीन शिक्षा शास्त्री समान पाठ्यक्रम लागू कर और सदाचार के नियमों का कड़ाई से पालन कर शिक्षार्थियों के स्वतंत्र व्यक्तित्व का दमन करते थे, जबकि ऐसी बात नहीं थी, क्योंकि ईसा पूर्व पांचवी शताब्दी तक जाति–व्यवस्था की जड़ें मजबूत नहीं हो पायी थीं। प्रत्येक को अपना व्यवसाय और जीविका के साधन को चयनित करने की स्वतंत्रता थी। लेकिन, कालान्तर में जब जाति व्यवस्था की जड़े मजबूत होने लगीं तब यह धारणा विकसित हुई कि प्रत्येक को अपने पैतृक व्यवसाय में ही लगना चाहिए। यद्यपि यह बाध्यता नहीं थी। चूँकि तत्कालीन समय व्यवसायिक विशेषज्ञता का था, अतः प्रत्येक को अपना पैतृक व्यवसाय चयनित करना

आसान रहता था । यह धारणा भी स्वीकार करने योग्य नहीं है कि प्रत्येक आर्य, नही तो कम से कम ब्राह्मण ही 12 वर्ष तक वेदाध्ययन के लिये बाध्य किये जाते थे ।[65] कालान्तर में, चूंकि क्षत्रिय और वैश्यों ने गंभीरता पूर्वक वेदाध्ययन में रूचि लेना बंद कर दिया, जबकि ब्राह्मणों का केवल एक वर्ग ही वेदाध्ययन हेतु समर्पित था, शेष उतने ही वैदिक मंत्रों को आत्मसात् करते थे जितने दैनिक कार्य के लिये आवश्यक होते थे तथा वे अपनी इच्छानुसार न्याय, दर्शन, काव्य, साहित्य या व्यवहार शास्त्र का अध्ययन करते थे। अतः उपरोक्त आरोप स्वतः खडित हो जाता है।

स्मरणीय है कि नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों को नष्ट करने वाली, सदाचार एवं संस्कार से रहित आज की वैज्ञानिक प्रगति का दुष्परिणाम न केवल विदेशों में बल्कि भारत में भी देखा जा सकता है। प्राचीन भारतीयों ने बहुत पहले ही नैतिक, आध्यात्मिक, सदाचार एवं संस्कार रहित शिक्षा के परिणाम को महसूस कर लिया था और इसीलिए उन्होंने दृढ़ता पूर्वक कहा था कि शिक्षण काल में ही प्रत्येक व्यक्ति के अंदर नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था एवं मानवता के प्रति सौहार्द्र की भावना का पोषण होना चाहिए। जिससे संवेदना एवं संस्कार युक्त चरित्र का निर्माण संभव हो सके। साथ-ही शिक्षण काल में इस बात परभी ध्यान देना चाहिए, जिससे उसमें आत्मसंयम और आत्मानुशासन की भावना का विकास होता रहे, तभी वह अपनी अन्तरात्मा की पुकार सुनकर तद्नुकूल आचरण कर सकेगा।[66] इस प्रकार प्राचीन भारत में चरित्र निर्माण के अनन्तर नैतिक मूल्यों से युक्त भावना का विकास और आदिम जनित पाशविक वृत्तियों पर अंकुश लगाकर मानव स्वभाव को संस्कार युक्त बनाना शिक्षा का उद्देश्य था, जिससे वह लौकिक एवं पारलौकिक कर्तव्यों का सम्यक् निष्पादन करने योग्य बन सके। श्री अरविन्द के अनुसार शिक्षार्थी को ज्ञान देना जितना आवश्यक है, उससे भी अधिक आवश्यक है, इसके अन्दर ज्ञान–शक्ति का निर्माण करना। यह प्राचीन शिक्षा की विशेषता थी।[67]

व्यक्तित्व का विकास

प्राचीन शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना था। विभिन्न प्रकार के निर्देशों, नियमों ओर सयमो से न केवल छात्र जीवन व्यवस्थित होता था, बल्कि उसमें आत्मसयम, आत्मचितन, आत्मानुशासन, आत्मविश्वास, आत्मविश्लेषण, विवेकशीलता, न्यायवृत्ति और आध्यात्मिक प्रवृत्ति का भी उदय होता था। ऐसी मान्यता थी कि व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास हेतु आत्मविश्वास का होना आवश्यक है। अतः प्रत्येक ब्रह्मचारी में यह आत्मविश्वास जागृत कराया जाता था कि वह भावी जीवन की भयंकर कठिनाइयों में भी स्थिर रहे। उपनयन सस्कार के समय प्रत्येक ब्रह्मचारी में आत्मविश्वास जागृत कर अग्नि से प्रार्थना की जाती थी कि वह उसपर अपनी दया दृष्टि रखे तथा उसकी बुद्धि, मेधा और शक्ति मे वृद्धि करें,[68] जिससे अग्नि शिखा की भांति उसकी विद्या एवं शक्ति की कीर्ति सभी दिशाओं मे प्रसारित हो। देवताओं के पूजन के समय प्रत्येक ब्रह्मचारी में यह भावना भरी जाती थी कि रोग, चोट एवं मृत्यु के समय देवतागण उसकी रक्षा करेंगे।[69] सम्यक् रूपेण शिक्षित स्नातक राजा से भी अधिक सम्मान का अधिकारी होता था। निर्धन शिक्षार्थियों के भरण–पोषण का दायित्व राज्य एवं समाज का होता था। इन सभी आदर्शो से प्रत्येक शिक्षार्थियों मे आत्मसम्मान की भावना जागृत होती थी।

उपनयन संस्कार के समय प्रत्येक ब्रह्मचारी से कहा जाता था कि यदि तुम अपने कर्तव्यों का सम्यक् रूपेण पालन करोगे, तो तुम्हारे उद्देश्यों की सिद्धि में ईश्वर भी तुम्हारी मदद करेंगे।[70] यह उद्बोधन प्रत्येक शिक्षार्थियों में आत्मविश्वास जागृत करता था। आदर्श ब्रह्मचारी वह समझा जाता था, जो भिक्षा पर निर्भर रहता था। निःसंदेह भविष्य की अनिश्चितता आत्मविश्वास को चंचल बनाती है, किन्तु प्राचीन शिक्षार्थी ऐसी भावना से मुक्त थे। क्योंकि धार्मिक, साहित्यिक या व्यवसायिक शिक्षा ग्रहण करने वाले शिक्षार्थियों का भविष्य पूर्व निश्चित होता था। व्यवसायों में जीवनधाती प्रतियोगिता नहीं थी। जो धार्मिक शिक्षा ग्रहण करते थे, वे निर्धनता संबंधी आदर्श को सहर्ष स्वीकार करते थे।

कर्तव्य पालन में इंद्रिय और मन को वश में रखना प्रत्येक ब्रह्मचारी का आदर्श माना गया था। ऐसी मान्यता थी कि व्यक्तित्व का उत्कर्ष स्वाभाविक गति से होता है। अतः प्रत्येक शिक्षार्थी में आत्मसंयम होना चाहिए। गीता में कहा गया है कि सयमयुक्त योग उस व्यक्ति के दु खों को दूर करता है, जो यथायोग्य आहारविहार करने वाला, कर्मों में यथायोग्यरत रहने वाला तथा यथा योग्य सोने और जागने वाला होता है।[71] इस प्रकार दैनिक जीवन एवं व्यवहार में सादगी की अपेक्षा की जाती थी, जिसका उद्देश्य योग्य और सक्षम गृहस्थ बनाना था। आत्मसंयम का विकास मुख्यतया ब्रह्मचर्य जीवन मे सदाचार की वृद्धि के द्वारा किया जाता था। यह संयम स्पार्टा की भांति शारीरिक दमन या दंड पर आधारित नही था बल्कि आचार्य से यह आशा की जाती थी कि वह शिक्षार्थी को समझा–बुझाकर उचित रास्ते पर लाएगा। इस प्रकार प्राचीन शिक्षा का उद्देश्य प्रत्येक ब्रह्मचारी के व्यक्तित्व का सम्यक् विकास करना था जो आत्मसंयम से संभव था। शारीरिक दंड की जगह प्रायश्चितनुमा भावनात्मक दंड का सहारा लिया जाता था, जो ब्रह्मचारी के मस्तिष्क पर स्थायी प्रभाव डालता था।

आंतरिक शुद्धि हेतु आरंभ से ही ब्रह्मचर्य धर्म का पालन कराया जाता था। सत्य बोलने की शिक्षा, बड़ो एवं गुरुजनों के प्रति सम्मान की भावनातथा संशयात्मक स्थिति में उनके द्वारा बताये गये मार्ग पर चलने का उपदेश दिया जाता था।[72] शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टि से स्वस्थ रहने हेतु गुरु और शिष्य दोनों सचेष्ट रहते थे; क्योंकि अंगों की पुष्टता, वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत, बल तथा इंद्रिय समुदाय की पुष्टि के लिये प्रार्थना का उल्लेख मिलता है।[73] आचार्य कुलों में गोधन की अधिकता इस बात को प्रमाणित करता है कि उनसे उपार्जित होने वाले दूध, घी का सेवन शिष्य भी करते थे, जिनसे उनका शरीर पुष्ट होता था।

इस प्रकार स्पष्ट है कि व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास में आत्मविश्वास, आत्मसम्मान, आत्मसंयम उत्तम आचरण और शारीरिक एवं मानसिक पुष्टता की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, जिसके विकास के लिए प्राचीन शिक्षक और शिक्षार्थी सर्वथा सजग रहा करते थे।

सामाजिक उत्तरदायित्वों का निष्पादन

शिक्षित और ज्ञानवान व्यक्ति अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों का सम्यक् एवं निष्ठापूर्वक निर्वहन करता है, ऐसी मान्यता थी। प्राचीन स्नातक अपने हित को स्मरण रखने के साथ ही साथ जिज्ञासु शिक्षार्थियों को निःशुल्क शिक्षा भी प्रदान करता था। पुत्र, पति एवं पिता के रूप में वह अपने विभिन्न सामाजिक दायित्वों का निष्ठापूर्वक निर्वहन करता था। समावर्तन संस्कार के समय दिये गये उपदेशों से उनके कर्तव्यों की जानकारी प्राप्त होती है कि – सदा सत्य बोलना, धर्म का आचरण करना, स्वाध्याय मे प्रमाद न करना, आचार्य को शिक्षण–शुल्क देना, संतति–उत्पादन की परंपरा को बनाये रखना, लाभ कार्य में प्रमाद न करना, महान बनने के अवसर से न चूकना, पठन–पाठन के कर्तव्य में प्रमाद न करना, यज्ञ–यज्ञादि और श्राद्धजनित संस्कार में प्रमाद न करना, माता को देवी, आचार्य और अतिथि को देवता समझना, अन्याय एवं दोष रहित कार्यो को करना।[74]

सभी वर्ण एवं जातियो के अपने–अपने कर्त्तव्य निर्धारित थे, जिन्हें निष्पादित करना उनका परम धर्म माना गया था। अपने सुख को त्यागकर एवं जीवन की बाजी लगाकर रोगी को दुःख–दर्द से मुक्ति दिलाना प्रत्येक चिकित्सक का धर्म माना गया था। ऐसी मान्यता थी कि योद्धा अपने प्रतिद्वन्दी पर तभी वार करे, जब वह युद्ध के लिये तैयार हो। यद्यपि ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जब विभिन्न वर्णो के कतिपय सदस्यों ने आपद्काल में अपने वर्णगत कर्म को त्यागकर दूसरे वर्णो के कर्म को आत्मसात् किये थे, जैसे क्षत्रियों ने ब्राह्मणो के, ब्राह्मणों ने क्षत्रियों के, वैश्यों ने शूद्रों के एवं शूद्रों ने वैश्यों के। यह इस बात का प्रमाण है कि व्यक्ति आपद् स्थिति में अन्य वर्ण के कर्म को अपनाकर अपना और अपने परिवार का भरण–पोषण करता था। इस प्रकार प्राचीन शिक्षा का मूल उद्देश्य प्रत्येक व्रह्मचारी को उस व्यवसाय की शिक्षा देना था, जिसे वह अपने जीवन में अपनाता था। चूंकि, तत्कालीन समाज कार्य विभाजन के सिद्धांत को

अपना लिया था, जो उत्तरकाल में पैतृक आधार पर होने लगा था। यद्यपि प्रतिभावान व्यक्ति अब भी उसी व्यवसाय को अपनाते थे, जिनमें उनकी रूचि होती थी। किन्तु साधरण जन के लिये पैतृक व्यवसाय को अपनाना ही हितकर समझा जाता था। प्रत्येक निगम और परिवार अपनी संतति को अपने व्यवसायों की शिक्षा देते थे। विविध व्यवसाय विभिन्न जातियों मे बंटने के कारण एवं प्रत्येक परिवार द्वारा एक ही व्यवसाय को अपनाये जाने के कारण वे न केवल उन व्यवसायो में निपुणता प्राप्त करते गये, बल्कि विशिष्टीकरण की प्रवृत्ति ने उन व्यवसायो को वैज्ञानिक आधार भी प्रदान किया। इस प्रकार विभिन्न शास्त्रो, कलाओं और व्यवसायों की उन्नति, वंशानुगत पेशे का चलन तथा कार्यक्षमता का निष्पादन सामाजिक उत्तरदायित्वों के अन्तर्गत सम्मिलित हुए, जिन्हें प्राचीन भारतीय स्नातकों द्वारा सफलता पूर्वक सम्पन्न किया गया।

चूंकि, प्राचीन भारतीय सरकारें प्रायः सामाजिक व्यवस्था मे हस्तक्षेप नहीं करती थी, अतः राजनैतिक परिवर्तनों का ग्रामीण जनता पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पडा। संभवतः इसी कारण से देशभक्ति सम्बन्धी भावना नागरिक कर्तव्यों में विशेष स्थान नहीं बना पायी थी।

सांस्कृतिक जीवन का उन्नयन

शिक्षा से ही अतीत की संस्कृति वर्तमान में जीवित रहती है तथा परम्पराएं जीवंत हो उठती है। अतः अपनी संतति को शिक्षित कर संस्कृति की ओर प्रवृत्त करना प्राचीन भारतीय शिक्षा का प्रधान लक्ष्य था। वैदिक ज्ञान के साथ ही साथ अन्य विषयों की शिक्षा और उसका प्रसार प्राचीन शिक्षा का प्रधान आधार था। वेदों को कंठस्थ करना और उन्हें मस्तिष्क में सुरक्षित रखना तत्काकालीन शिक्षार्थी का प्रधान कर्तव्य था। वेद–वेदांगों को कंठस्थ कर मस्तिष्क में सुरक्षित रखना प्रत्येक ब्राह्मण का धर्म माना गया था।

वैदिक साहित्य के संरक्षण का उत्तरदायित्व समस्त आर्य जाति पर था। प्रत्येक आर्य को वैदिक साहित्य का कोई न कोई अंश अवश्य याद करना पड़ता था। ब्राह्मण के लिये सम्पूर्ण वेदो को कठस्थ करना तथा उसे भावी संतति को कंठस्थ कराना धर्म माना गया था। यह सच है कि सभी ब्राह्मण ऐसा नही करते थे, किंतु उनका एक वर्ग इस कार्य के लिये अपने जीवन व प्रतिभा को अर्पित करने हेतु सदैव तत्पर रहा। यह कार्य जीवनपर्यन्त चलने वाली कष्टदायक तपस्या थी, क्योंकि उन्होंने उन ग्रंथों को कंठस्थ करने का उत्तरदायित्व लिया था, जिसका अर्थ वे स्वय भी नही जानते थे। साथ ही इससे सांसारिक लाभ की आशा न के बराबर थी। शेष ब्राह्मण व्याकरण, साहित्य, काव्य व्यवहार, दर्शन और न्याय जैसे शास्त्रों का अध्ययन अध्यापन करते थे। इन शास्त्रों का अध्ययन कर न केवल वे अपने पूर्वजो के ज्ञान का संरक्षण करते थे, बल्कि अपनी सृजनशीलता से उसकी समृद्धि भी करते रहे। परिणामस्वरूप प्राचीन शिक्षा विशिष्टीकरण के अनन्तर विस्तृत ही नहीं बल्कि गंभीर भी हुई।

सांस्कृतिक जीवन के उन्नयन हेतु त्रिऋण की अनिवार्यता मानी गयी थी,[75] जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति तीन ऋणों के साथ जन्म ग्रहण करता है, जिनसे मुक्त होना प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक था। देव–ऋण से मुक्ति यज्ञ–सम्पन्न करने पर सभव था। इससे धार्मिक परम्पराओं का संरक्षण होता था। ऋषि ऋण से मुक्ति ग्रंथों के सम्यक् अध्ययन से जबकि पितृ ऋण से मुक्ति न केवल संतान उत्पन्न कर, बल्कि उन्हें भली–भांति शिक्षित करने के उपरान्त संभव था।

माता–पिता की आज्ञाओं का पालन, गुरुजनों के प्रति आदर व सम्मान तथा प्राचीन ऋषियों के प्रति आभार प्रदर्शित करने हेतु आग्रह किया जाता था। इसके लिए स्वाध्याय और ऋषि तर्पण की विशेष व्यवस्था थी।

उत्तर काल में जब जन–सामान्य के लिये वेद भाषा और दर्शन के गूढ़ सिद्धांत को समझ पाना दुष्कर होता गया, तब उनमें राष्ट्रीय संस्कृति एवं

परम्पराओं का बोध कराने हेतु नये साहित्य का सृजन हुआ, जिसे पुराण कहते हैं। प्रतिदिन लोक भाषा में इसकी व्याख्या की जाती थी। परिणामत. प्राचीन सास्कृतिक परम्पराए न केवल शिक्षितों के मध्य प्रचारित हुई, बल्कि समाज के अशिक्षित वर्ग द्वारा भी आत्मसात् कर सुरक्षित किया गया। लोक साहित्य के विकास ने इस कार्य को और सरल बना दिया।

जहा तक बौद्ध शिक्षा का प्रश्न है, इसका इतिहास वस्तुत. बौद्ध विहारो में प्रदत्त बौद्धिक जीवन की प्रक्रिया का इतिहास है। भिक्षु की प्रशिक्षण—पद्धति इसका प्रारभिक रूप था। कालान्तर मे नई बौद्धिक आवश्यकताओ और रूचियो के अनुरूप इसका क्षेत्र और उद्देश्य विस्तृत होता गया। इस प्रकार प्रारभिक बौद्ध विहार जो धार्मिक चिंतन और मनन के प्रमुख केन्द्र थे, कालान्तर मे ज्ञान और सस्कृति के प्रमुख केन्द्र के रूप में विकसित हुए। लगभग ईसा पूर्व चौथी शताब्दी मे बौद्ध विहारों के समक्ष यह प्रश्न उठ खडा हुआ कि नवदीक्षित भिक्षुओं को किस प्रकार की शिक्षा दी जाए। इसके लिये जो पद्धति निश्चित की गई उसे 'नि सह्य पद्धति' (प्रशिक्षण मे रहने की पद्धति) कहते हैं। इस पद्धति के अनन्तर जो व्यक्ति विद्वान होता था, उसे मात्र पांच वर्ष तक 'नि सह्य' में रहना पड़ता था, जबकि साधरण व्यक्ति जीवनपर्यन्त नि सह्य' मे रहते थे। बौद्ध शिक्षाविद्ों का प्रमुख उद्देश्य नव—दीक्षित भिक्षुओं को ऐसी शिक्षा और प्रशिक्षण देना था, जिससे कुछ समय बाद वह एक योग्य भिक्षु बन सके। कालान्तर में वे बौद्ध विहार, जो प्रारंभ में मात्र आध्यात्मिक प्रशिक्षण के केन्द्र थे, विभिन्न विषयो की शिक्षा प्रदत्त करने वाले प्रमुख केन्द्र के रूप मे विकसित हुए। अन्य धर्मावलम्बियों को बौद्ध बनाने हेतु यह आवश्यक था कि बौद्ध भिक्षु उनसे शास्त्रार्थ कर यह सिद्ध कर सकें कि अन्य की तुलना में उनके सिद्धांत सही है। अत बौद्ध शिक्षण पद्धति के अनन्तर तर्क और न्याय की शिक्षा पर विशेष बल दिया जाता था। 'सप्तदश भूमिशास्त्र' (जिनकी रचना चौथी शताब्दी मे हुई थी) के पन्द्रहवें खंड के मैत्रेय सात अध्यायों मे वाद—विवादकी कला का विवेचन मिलता है।

स्थापित विद्यापीठों मे शिक्षा प्राप्ति के साथ ही साथ प्रत्येक भिक्षु को उनके लिये निर्धारित अनुशासन का पालन करना भी अपरिहार्य था। कालान्तर में वहां भिक्षुओं के साथ ही साथ शिक्षार्थियों के दो अन्य वर्ग सिद्धविहारिक एवं मानव शिक्षार्थी भी शिक्षा ग्रहण करने लगे। सद्धिविहारिक वे भिक्षु थे, जो बौद्ध ग्रथो का आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर अपनी आध्यात्मिक उन्नति करते थे। 'मानव' शिक्षार्थी वे थे, जो बौद्ध सिद्धांतों का अध्ययन भविष्य में भिक्षु धर्म की दीक्षा लेने के उद्देश्य से करते थे, जबकि शिक्षार्थियों का एक अन्य वर्ग जिन्हें ब्रह्मचारी कहा जाता था, साधारणतया धर्मेतर ग्रंथों का अध्ययन करते थे, तथा उपासक का जीवन व्यतीत करते थे। ह्वेनसांग के अनुसार, भारतीय अध्यापक सदैव अपने शिष्यो को ज्ञान प्राप्ति हेतु प्रोत्साहित किया करते थे और उनकी बुद्धि को तीक्ष्ण बनाते थे। सभी बौद्ध विहारो में शिक्षार्थी के चरित्र निर्माण एवं चरित्र उन्नति पर विशेष बल दिया जाता था। कालांतर में चारित्रिक पतन के उपरान्त ही बौद्ध धर्म का ह्यस क्रमशः प्रारंभ हुआ और अपने मूल स्थान से ही वह विलुप्त हो गया।

इस प्रकार स्पष्ट हैं कि बौद्ध शिक्षा का उद्देश्य जिज्ञासु शिक्षार्थियों का बौद्धिक विकास करना, उनमें अनुशासन की भावना भरना, लोकतंत्रीय व्यवस्था की शिक्षा देना एवं बौद्ध सिद्धांतों का प्रतिपादन मुख्य था। ब्राह्मण शिक्षा पद्धति के अनन्तर जिज्ञासु शिक्षार्थी गुरुकुलों में जाकर, जहां उनकी संख्या लगभग 10 से 15 होती थी, शिक्षा ग्रहण करते थे, किन्तु बौद्ध विहारों में शिक्षार्थियों की संख्या अत्यधिक होती थी। बौद्ध भिक्षु स्वयं कृषि कार्य द्वारा अपने लिये अन्न पैदा करते थे तथा मठों के अंदर ही पशुओं को पाल कर दूध, दही, घी, मक्खन आदि प्राप्त करते थे। प्रत्येक शिक्षार्थी चाहे वह किसी भी वर्ण या जाति का होता था, उन्हें उनकी अभिरूचिनुसार ही शिक्षा प्रदान की जाती थी तथा उन्हें एक प्रकार के अनुशासन में रहना पड़ता था। इस प्रकार उन्हें प्रारम्भ में ही भाई–चारे एवं लोकतंत्रीय व्यवस्था की शिक्षा मिल जाती थी, जिसका अभाव गुरुकुलों में था।

जहाँ तक जैन शिक्षा-पद्धति का प्रश्न है, जैन समाज को मुख्यतः गृहस्थ एवं साधु समाज दो वर्गों मे बांटा जा सकता है तथा दोनों का नैतिक उत्थान एवं विधान ही जैन शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य था। गृहस्थो के लिये 12 व्रतों के पालन जिनमे पांच अणुव्रत-सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य तीन गुण व्रत–दिग्व्रत, देशव्रत एवं अनर्थ दंडव्रत तथा चार शिक्षा व्रत–सामायिक, पोषधोपवास, भोगोपभोग परिणाम एवं अतिथि संविभाग के पालन का विधान था, अहिंसा को व्यापक अर्थ में लिया जाता था, जिसके अन्तर्गत कोई भी कार्य, जिससे दूसरो को कष्ट पहुंचे अहिंसा था। सत्य बोलना, चोरी न करना नैतिक जीवन के आदर्श थे। अपरिग्रह का अभिप्राय आवश्यकता से अधिक किसी वस्तु का संग्रह नहीं करना एव ब्रह्मचर्य का तात्पर्य परस्त्री से अपने को बचाए रखना था। निश्चित दूरी से अधिक किसी दिशा में न जाना, देश से बाहर अधिक न रहना एव आवश्यकता से अधिक वस्तुओं के संग्रह पर दंडित करना गुण व्रतों का तात्पर्य था। शिक्षा व्रत के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को एकांत में बैठकर मनन करना, एक माह में चार दिन खाद्य एवं पेय पदार्थों का त्याग करना, दैनिक आहार का आवश्यक अनुपात में लेना एवं धर्मात्मा तथा पवित्र व्यक्तियों को भोजन कराना अनिवार्य माना गया था। इस प्रकार प्रत्येक गृहस्थ को नैतिक एवं सयम का जीवन व्यतीत करने की शिक्षा दी जाती थी।

प्रत्येक जैन साधु समस्त सांसारिक वस्तुओं को त्यागकर मात्र एक कमडल एव एक मयूर पंख अपने पास रखते थे। संयमित जीवन के अन्तर्गत वे भूख प्यास, शीत, और मच्छर पीडा को सहजता पूर्वक सहन करते थे। सर्वथा नग्न रहकर अपने इद्रियों को वश में रखने का प्रयास करते थे। क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या एवं अहंकार जैसी भावनाओं से अपने को पूर्णतया मुक्त रखते थे। दया, ममता, करूणा के अन्तर्गत वे सदैव दूसरों की सहायता हेतु तत्पर रहा करते थे। इस प्रकार इंद्रियों को पूर्णतया अपने अधीन कर एवं प्रत्येक व्यक्ति का नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान कर उन्हें शाश्वत मूल्यों की ओर अग्रसर करना जैन शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य था।

शिक्षा के उद्देश्यों के संदर्भ मे एक मौलिक प्रश्न यह उठता है कि प्राचीन भारतीय शिक्षा का स्वरूप समसामयिक अन्य सस्कृतियो की तुलना में कहॉ तक पृथकत्व का द्योतन करताहै। यह प्रश्न भी विचारणीय है कि क्या प्राचीन भारत मे शिक्षा का उद्देश्य अन्य सस्कृतियों से पूर्णतः मेल खाता है या नहीं ? प्राचीन चीन में कन्फ्यूसियस का विचार था कि शिक्षा का उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्तव्य की शिक्षा देना है, जिसमे जीवन के व्यवसायों और संबंधो का सूक्ष्म विवरण होना चाहिए। यूनानी शिक्षा प्रणाली में व्यक्ति को सुसंस्कृत बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य था। प्राचीन भारतीय शिक्षा शास्त्रियों का मत था कि व्यक्ति का अस्तित्व समाज के लिये है, अतः शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को अपनी संस्कृति एवं परम्परा का बोध कराना होना चाहिए। प्राचीन यूनान की भांति संगीत, नृत्य, चित्रकला आदि ललितकलाओं को सामान्य शिक्षा में सम्मिलित नहीं किया गया था। स्पार्टा की शिक्षा प्रणाली का उद्देश्य राज्य को अधिकाधिक योग्य एवं कुशल सैनिक प्रदान करना था। चूँकि, प्राचीन भारत में आर्यो का अस्तित्व न तो संकट में था ओर न ही स्पार्टा वालों की भांति दासों का भय था, जो संख्या में उनसे 10 गुना अधिक थे। अतः उनकी शिक्षा महज सैनिक आदर्शो से प्रेरित नही थी। जेसूटो के शिक्षा का उद्देश्य कैथोलिक गिरिजा घरों हेतु विश्वसनीय एवं योग्य स्वयं सेवक तैयार करना था। यद्यपि प्राचीन भारतीय शिक्षा नीति का कमान ब्राह्मण, पुरोहितों के हाथों में था, किन्तु उन्होने कभी भी इतने संकुचित दृष्टिकोण को नहीं अपनाया। हालांकि कई स्नातकों ने अनेक बार प्राचीन परम्पराओ और विश्वासों को चुनौती दी थी तथा नये दार्शनिक सिद्धांत भी प्रतिपादित किये थे। किन्तु उनका भी दृष्टिकोण शिक्षा के द्वारा व्यक्ति को व्यवसाय योग्य बनाना ही रहा। मिल्टन का मत था कि शिक्षा का उद्देश्य ऐसे नागरिक को तैयार करना होना चाहिए जो युद्ध या शांति प्रत्येक समय में किसी भी पद पर योग्यता, कौशल और उदारता के साथ कार्य कर सके। रूसी शिक्षा प्रणाली का एक मात्र उद्देश्य श्रमजीवियों को शिक्षित कर उनका उत्थान करना रहा। चूंकि, प्राचीन भारत में वर्ग संघर्ष की स्थिति

नही थी। अतः प्राचीन शिक्षाविदो ने प्रत्येक वर्ग की आवश्यकताओं और परम्पराओं को ध्यान में रखकर शिक्षा की व्यवस्था की थी। व्यवसायों को विभिन्न वर्गों मे बांटकर हर एक वर्ग को पैतृक व्यवसाय की शिक्षा दी जाती थी।

उपरोक्त विवेचन एव साक्ष्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं है कि प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति का प्रमुख उद्‌देश्य मानव का सर्वागीण विकास करना था। इसके साथ ही साथ प्राचीन सांस्कृतिक परम्पराओं का संरक्षण एवं सवर्द्धन भी आवश्यक समझा गया। कोई भी राष्ट्र यदि अपनी सास्कृतिक परम्परा का संरक्षण एवं संवर्द्धन नही करता, तो उसे शिक्षित कहलाने का अधिकार नहीं है।

अवधारणा

प्राचीन भारत में शिक्षा को अन्तर्ज्योति एवं आत्मबोध का साधन माना गया था। आशा की जाती थी शिक्षित व्यक्ति जीवन की तमाम कठिनाइयों और समस्याओं का सामना करने में सक्षम होगा। शिक्षा के क्रम में इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था, जिससे प्रत्येक ब्रह्मचारी की स्मृति इस ढंग से परिष्कृत एवं परिमार्जित हो जाय कि अर्जित ज्ञान सदैव उसके काम आ सकें। व्यवसायिक शिक्षा प्राप्त करने वाले शिक्षार्थियों को क्षेत्र-विशेष में दक्ष बनाने हेतु प्रायोगिक शिक्षण पर विशेष बल दिया जाता था। शिक्षा प्रारंभ करने से पूर्व प्रत्येक ब्रह्मचारी का उपनयन संस्कार होता था, क्योंकि शिक्षा प्राप्ति के अनन्तर उपनयन एवं समावर्तन जैसे संस्कारों का निवर्हन अपरिहार्य था। ईसा की प्रथम शताब्दी से जब क्षत्रिय एवं वैश्यों का उपनयन क्रमशः प्रतिबंधित होने लगा, तब वे शूद्रों की श्रेणी में जा पहुँचे तथा उनकी धार्मिक एवं साहित्यिक शिक्षा क्रमशः बाधित हुई। किन्तु, व्यवसायिक शिक्षा ग्रहण करने की स्थिति बनी रही। सामाजिक विकास के क्रम में जब वर्ण ने जाति का स्थान ले लिया तथा जाति व्यवस्था क्रमशः रूढ़ होती गयी तब प्रत्येक परिवार से यह आशा की जाने लगी कि वह अपनी संतति को पैतृक व्यवसाय से संबंधित विषयों की शिक्षा देगा।

चूंकि, प्राचीन भारत में नि शुल्क शिक्षा का प्रावधान था, अतः धन लोलुप आचार्य तिरस्कार की दृष्टि से देखे जाते थे। शिक्षा के अनन्तर प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिये भिक्षाटन[76] को अनिवार्य धर्म माना गया था। शिक्षण संस्थाओं और आचार्यों को दान देना समाज के प्रत्येक वर्ण का कर्तव्य समझा जाता था।

प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिये ब्रह्मचर्य धर्म का पालन अपरिहार्य था। प्राचीन शिक्षाविदों की ऐसी अवधारणा थी कि त्वरा ओर अहंमन्यता दोनों ही विद्या के समान शत्रु हैं,[77] अतः आलसी, सुखार्थी, प्रभादी और चंचल वृत्ति वाले ब्रह्मचारियों को शिक्षा नहीं दी जा सकती।[78] प्रत्येक शिक्षार्थी के लिये तन और मन दोनों से ब्रह्मचर्य धर्म के पालन का प्रावधान था और इसीलिए उन्हें ब्रह्मचारी की संज्ञा से संबोधित किया जाता था। अध्ययनोंपरान्त वह गुरू की आज्ञा लेकर ही गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता था। ई. पू. छठी शताब्दी से वैवाहिक उम्र में क्रमशः ह्रास होने के कारण अध्ययन समाप्ति से पूर्व ही वैवाहिक सस्कार सम्पादित करने की परम्परा चल पड़ी। निःसंदेह इस व्यवस्था से शिक्षा का आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक पक्ष प्रभावित हुआ। परिणामतः कन्या का विवाह क्रमशः 16, 14, 12 और 10 वर्ष की अवस्था में, जबकि पुरुष का विवाह क्रमश 24, 22, 18 और 16 वर्ष की अवस्था में ही होने लगा। ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी के कई ऐसे उदाहरण मिलते है, जब पत्नी को घर छोड़कर शिक्षार्थी अध्ययन के निमित्त जाते थे।[79] उत्तर काल मे यह बात साामन्य हो जाने के कारण ब्रह्मचर्य के वैज्ञानिक पक्ष की अवधारणा खंडित हुई।

चूँकि बाल्यमन संस्कार ग्राही, स्मृति प्रखर एवं बुद्धि ग्रहणशील होती है,अतः शिक्षाविदों की अवधारणा थी कि शिक्षा का प्रारंभ बाल्याकाल में ही हो जाना चाहिए।[80] प्रारंभिक शिक्षा के लिये 5 वर्ष एवं माध्यमिक शिक्षा के लिए 8 वर्ष की उम्र उचित मानी गयी थी। किन्तु पारिवारिक परम्पराओं के आलोक में कुछ परिवर्तन संभव था। अर्जित ज्ञान को सदैव बनाए रखने हेतु नियमित स्वाध्याय का प्रावधान था। समावर्तन के समय स्वाध्याय मे प्रमाद न करने का

उपदेश दिया जाता था।[81] शिक्षाविदों की ऐसी अवधारणा थी कि मित्र और ब्राह्मण की हत्या से जो पाप लगता है, वही पाप अर्जित ज्ञान के विस्मरण से।[82] अर्जित ज्ञान की पुनरावृत्ति एवं विस्मृत होने वाली प्रवृत्ति को दूर करने के उद्देश्य से प्रत्येक स्नातक के लिये वर्षाकाल का समय स्वाध्याय हेतु निर्धारित था। श्वेतकेतु जैसे शिक्षाविदों की ऐसी परिकल्पना थी कि वर्षाकाल में प्रत्येक स्नातक अपने गुरूकुलों मे 2–3 माह निवासकर विस्मृत ज्ञान को पुनर्जीवित करें और नये ज्ञान को प्राप्त करें।[83] यह वर्तमान ओरियेन्टेशन/रिफ्रेशर प्रोग्राम की भाँति था।

शिक्षाविदों की ऐसी मान्यता थी कि शिक्षा का सर्वोत्तम परिणाम तभी लक्षित होगा, जब ज्ञान की तीव्र अभिलाषा शिक्षार्थी में हो। ऐसा न होने की स्थिति में उस पर समय और श्रम व्यय करना व्यर्थ माना गया था।[84] यद्यपि गुरु यथा संभव शिक्षार्थी में ज्ञान की तीव्र प्यास जगाने का कार्य करता था। अध्ययन के दौरान निरंतर लापरवाही बरतने वाले छात्रों के प्रति आचार्यो का व्यवहार अलग-अलग परिलक्षित होता है। आपस्तम्ब के अनुसार, आचार्य हठी विद्यार्थियों को अपनी उपस्थिति से दूर हटा दे या उन्हें उपवास कराये (1 2 8.30)। जबकि, मनु समझाने-बुझाने (2, 159–61), और अन्त में पतली छड़ी से दण्ड देने के पक्ष में थे। गौतम के अनुसार, जो आचार्य अपने छात्रों को कठोर दंड देगा, वह अपराधी माना जाएग।[85]

तक्षशिला का एक छात्र जो काशी का राजकुमार था, बारम्बार समझाने पर भी चोरी करना नहीं छोड़ा। परिणामतः उसे दण्ड देते हुए आचार्य ने कहा कि शारीरिक दंड को पूर्णतया बंद नहीं किया जा सकता।[86] ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन शिक्षाविदो की अवधारणा प्रायश्चित स्वरूप मनोवैज्ञानिक उपचार कर आत्मबोध कराने में ज्यादा रही तथा अति हो जाने पर ही कठोर दंड की व्यवस्था दी थी। यद्यपि प्राचीन समय में शारीरिक दंड का विधान लगभग हर देशो में था। स्पार्टा के विद्यार्थियों में सुधार के लिये ही नहीं अपितु उनके शरीर

को और कठोर बनाने हेतु भी शारीरिक दड का प्रावधान था। नगरीय पाठशालाओं में कोड़े लगाने का व्यायाम होता था। कठोर दंड के विरूद्ध प्रबल प्रतिक्रिया रूसों के समय जाकर हुई।

शिक्षाविदों की अवधारणा थी कि बाल्यमन, बुद्धि और शरीर संस्कारग्राही और ग्रहणशील होता है। अतः जो आदते उनमे डाल दी जाती है, वह जीवन पर्यन्त बनी रहती है। सदाचार के जो नियम बनाएं गए थे उनमें निषेधात्मक कम प्रवृत्यात्मक अधिक थे। ब्रह्म मुहूर्त मे उठना, जीवन में सादगी, विचारो की उच्चता प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिये अभीष्ट था। प्रत्येक ब्रह्मचारी का दैनिक जीवन इस प्रकार व्यवस्थित एवं नियमानुकूल बना दिया गया था जिससे उनमे अच्छी आदतें विकसित हों और उसके व्यक्तित्व का सर्वागीण विकास हो सके। काव्य और साहित्य के शिक्षार्थी निरन्तर निबन्ध और छन्द रचना के अभ्यास में व्यस्त रहते थे। तक्षण और चित्रकला के शिक्षार्थी गुरु के सान्निध्य में रहकर नियमित रूप से मूर्तियां एवं चित्र बनाते थे।

शिक्षाविदों की ऐसी मान्यता थी कि गुरु के सानिध्य में रहकर और उनके आचरण के अनुकरण से मूर्ख भी बुद्धिमान और चरित्रवान बन जाते हैं।[87] अतः चरित्र का निर्माण और ज्ञान प्राप्ति हेतु प्रत्येक ब्रह्मचारी को आचार्य के प्रत्यक्ष नियत्रण मे या गुरुकुल में भेजने पर जोर दिया जाता था। प्रत्येक ब्रह्मचारियो के लिये ऐसा विधान था कि वे आचार्य के सोने के उपरान्त ही सोयें तथा उनके उठने के पूर्व ही उठ जाय, मध्यान्ह में एकत्र की हुई भिक्षा आचार्य के सम्मुख लाकर रखें तथा अग्निहोत्र में उसकी सहायता करे।[88] गुरुकुल-प्रणाली में शिक्षार्थी को आचार्य के कुल में या किसी ख्यात आश्रम में रहना पडता था। स्मृतियों का आग्रह है कि उपनयन के बाद से ही विद्यार्थी को आचार्य के प्रत्यक्ष नियंत्रण मे निवास करना चाहिए। यद्यपि उच्च-शिक्षा के शिक्षार्थी ही गुरुकुलों में भेजे जाते थे। जातक साहित्य से विदित होता है कि शिक्षार्थी उपनयन के तत्काल बाद ही नहीं, बल्कि 14–15 वर्ष की अवस्था के उपरान्त, जब वे इस

योग्य हो जाते थे कि सुदूर स्थान मे वे अपना ध्यान रख सकें, शिक्षा के निमित्त गुरुकुलो मे भेजे जाते थे। प्रत्येक गुरुकुल वासी को 'अन्तेवासी' कहा जाता था, जिसका शाब्दिक अर्थ है, आचार्य के सान्निध्य मे वास करने वाला।[89] प्रत्येक गुरुकुल एव शिक्षालय की एक विशिष्ट परम्परा होती थी, जो अमूर्त होकर भी प्रत्येक शिक्षार्थी पर अपना प्रभाव डालती थी। परिवार में रहकर अध्ययन करने में बुराइयां उत्पन्न होती थी, गुरुकुलो मे उनका परिहार हो जाया करता था। ऐसी मान्यता थी कि परिवार मे रहने वाले शिक्षार्थी उतने सहज, सजग, अनुशासित एवं नियमबद्ध नही हो पाते, जितने गुरुकुल अन्तेवासी।[90] प्रचलित व्यवस्था में विभिन्न ज्ञान-विज्ञान की जानकारी प्राप्त होने के साथ ही साथ व्यवहारिक ज्ञान की प्राप्ति भी संभव थी। क्योंकि आचार्यगण जिनके संरक्षण में शिक्षार्थी रहते थे, वे प्रायः गृहस्थ ही होते थे। प्राचीन शिक्षालय गावों या नगरों मे ही होते थे। यद्यपि शिक्षालयों के निर्माण में इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था कि वे किसी उपवन या एकांत वातावरण में ही हों।[91] जातक साहित्य मे आचार्यो द्वारा काशी जैसे नगरीय जीवन का परित्याग कर हिमालय पर निवास का उल्लेख मिलता है। (जातक सं. 438)। ऐसा विश्वास था कि निकटस्थ ग्रामीण उनकी अल्प आवश्यकताओं की पूर्ति अवश्य कर देंगे। नालन्दा और विक्रमशिला जैसे बौद्ध विश्वविद्यालय, जो स्वयं में नगर थे, जहाँ सहस्रो विद्यार्थियों के आवास और भोजन की व्यवस्था सुनिश्चित् थी, प्रत्येक शिक्षार्थियो को नगरीय एवं आश्रमिक दोनो प्रकार के जीवन का लाभ मिलता था। तुलनात्मक दृष्टि से उल्लेखनीय है कि छठी शताब्दी में यूरोप के अविवाहित पादरी प्रत्येक शिक्षार्थियों को अपने साथ रखकर न केवल उन्हें शिक्षित करते थे, बल्कि एक योग्य पिता की भूमिका का निवर्हन भी करते थे, जिससे भविष्य में उन्हें योग्य उत्तराधिकारी प्राप्त हो सकें। इस प्रकार प्राचीन गुरुकुल-प्रणाली से इसकी काफी साम्यता दृष्टिगत् होती है। यद्यपि यूरोपीय शिक्षा–प्रणाली का एकमात्र उद्देश्य योग्य पादरी तैयार करना था जो चर्च का हित साध सके। जबकि भारतीय गुरुकुलो का ध्येय ऐसा नहीं था। भारतीय स्नातकों को

समावर्तन के अनन्तर न केवल गृहस्थ जीवन मे प्रवेश करने का उपदेश दिया जाता था बल्कि उनसे एक सफल गृहस्थ बनने की भी कामना की जाती थी।[92] यद्यपि यूरोपीय शिक्षा प्रणाली का कुछ उत्स बौद्ध शिक्षण व्यवस्था के अनन्तर देखने को मिलता हैं, जहा अविवाहित भिक्षु ही आचार्य होते थे तथा प्रत्येक शिक्षार्थियों को बौद्ध धर्म में दीक्षित करना ही उनका ध्येय होता था।

प्राचीन शिक्षाविद् वंश को बड़ा महत्व देते थे। उनकी मान्यता थी कि गर्भाधान के समय से ही बालक पर वे संस्कार प्रभाव डालने लगते हैं जो आगे चलकर उसके चरित्र-निर्माण में सहायक होते हैं। उनका ऐसा विश्वास था कि गर्भिणी जननी के मन एवं बुद्धि पर जो संस्कार प्रभाव डालते है, उससे गर्भस्थ शिशु भी प्रभावित होता है। अत उस जननी को गर्भकाल मे ही महापुरूषों का अध्ययन और मनन का उपदेश दिया जाता था। जिससे उसे ऐसी संतति प्राप्त हो, जो अपने चरित्र एवं व्यक्तित्व से न केवल कुल के गौरव को बढाए, बल्कि एक योग्य उत्तराधिकारी भी सिद्ध हो सके। इस प्रकार बालक के व्यक्तित्व के विकास में कुलीय संस्कारो का महत्वपूर्ण योगदान होता था। प्रारम्भ में पिता ही आचार्य की भूमिका का निर्वहन करते थे और कुल पाठशाला होती थी। वैदिक और उपनिषद साहित्य में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनके अनुसार पिता ही पुत्र का आचार्य होता था।[93] वेदों की शिक्षा पिता ही देता था, क्योंकि प्रारंभ में गायत्री मंत्र के अध्यापन का अधिकारी पिता ही होता था। स्मरणीय है कि कालांतर में जब विषयगत विशिष्टीकरण की प्रवृत्ति बढ़ी, तब केवल उन्हीं परिवारो में गृह-शिक्षा की परम्परा विद्यमान रही, जो इस दायित्व का सम्यक् निवर्हन कर सकने में समर्थ होते थे। शेष परिवारों से यह आशा की जाती थी कि वे अपने बच्चों को उचित समय पर किसी योग्य आचार्य या पाठशाला में शिक्षा के निमित्त भेजेगे तथा स्वयं यथा संभव उनकी प्रगति का निरीक्षण करते रहेंगे।

प्रारम्भिक आर्यो की ऐसी अवधारणा थी कि संसार में कोई भी कार्य असभव नही है। अथर्ववेद के एक मंत्र में बड़े ही आग्रहपूर्वक कहा गया है कि

यदि व्यक्ति को उचित ढंग से शिक्षित किया जाय तो उसे समस्त सिद्धिया हस्तगत हो सकती हैं। इन्द्र अपने पूर्व जन्म के गुणों के कारण नही, बल्कि ब्रह्मचर्य काल मे प्राप्त शिक्षा के कारण ही देवताओं के राजा बने थे। एक पिता को हम ईश्वर से प्रार्थना करते हुए पाते है कि उसके पुत्रों में कुछ पुरोहित, कुछ योद्धा एव शेष सफल व्यापारी हों।[94] स्पष्ट है कि प्रांरभिक आर्य वंश परम्परा या नैसर्गिदत्त गुणों में उतना विश्वास नही करते थे, जितना सम्यक् शिक्षा पर। कालान्तर में जब वे शांतिमय जीवन व्यतीत करने लगे तथा उन्होंने अपने चारों ओर के दृश्यों का सावधानी पूर्वक अनुसंधान करना प्रारभ किया, तो उन्हें अनुभव हुआ कि मनुष्य सम्पूर्ण रूप में अपने भाग्य का विधाता नहीं हो सकता। जिन शक्तियों को लेकर वह जन्म लेता है, भाग्य निर्माण में उनका भी पर्याप्त महत्व होता है। अतः कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धांत, जो पूर्व वैदिक काल में अज्ञात था, कालान्तर में सर्वमान्य होता गया तथा यह स्वीकार किया जाने लगा कि इस जन्म मे प्राप्त शिक्षा की अपेक्षा पूर्वजन्म के संचित कर्मो के संस्कार से ही यह निश्चित हो जाता है कि हमारी बुद्धि कितनी तेजस्वी होगी। पुरोहित या योद्धा के रूप मे किसी व्यक्ति की सफलता इस जीवन में प्राप्त शिक्षा पर उतनी निर्भर नहीं है, जितनी उसके जन्मज़ात गुणों पर, जो उसके पूर्व जन्म के कर्मो के परिणाम होते है। मलयगिरि पर रोपित वेणु उचित खाद्य तथा जल से सिंचित होने पर भी चंदन नहीं बन सकता।[95] यदि प्रज्ञा नहीं है तो शास्त्र भी सहायता नही कर सकता, अंधो को दर्पण भी आंखे नही दे सकता।[96] उत्तर रामचरित के अनुसार, आचार्य दो शिष्यों को समान रूप से विद्या वितरीत करता है, जिसमे एक मणि की भांति देदीप्यमान होता है जबकि दूसरे की प्रगति नाममात्र की होती है।[97] इस प्रकार समय-समय पर प्राचीन शिक्षाविदों की शैक्षिक अवधारणा में परिवर्तन होता रहा और कालान्तर मे यह मान्यता स्पष्ट रूप से स्थापित हो गयी कि शिक्षा अंधों को आंख नहीं देती, बल्कि केवल आंखों को प्रकाश की ओर मोड़ देती है। यद्यपि व्यक्ति के सर्वागीण विकास में पूर्वजन्म के सत्कर्मो की महत्ता स्वीकार अवश्य की गई, तथापि शिक्षा के महत्व को नजरदांज नहीं किया

गया। क्योंकि, पूर्व जन्म के सत्कर्मो के परिणामस्वरूप एक व्यक्ति कुलीन ब्राह्मण परिवार में जन्म तो ले सकता है, लेकिन सम्यक् शिक्षा के अभाव में उसे शूद्र से नाम-मात्र भी ऊपर नहीं माना जा सकता।[98]

कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि प्राचीन भारत में व्यवसायों की प्रकृति वर्ण से निर्धारित होती थी तथा अध्ययन-अध्यापन पर एकमात्र ब्राह्मणों को एकाधिकार प्राप्त था। लेकिन इस तथ्य को स्वीकार करना इतिहास के सही तथ्य को नकारना होगा, क्योंकि ईसा पूर्व छठी शताब्दी तक क्षत्रिय आचार्य भी वैदिक धर्म एवं दर्शन का अध्ययन-अध्यापन करते रहे साथ ही लम्बे अंतरालों तक धर्मेत्तर विषयों को ब्राह्मणों की प्रखर प्रतिभा का लाभ मिलता रहा। वैदिक ऋषियों मे अनेक क्षत्रिय थे। ऋग्वेद के तृतीय मंडल की रचना विश्वामित्र के कुल द्वारा की गयी थी, जो मूलतः क्षत्रिय थे।

उपनिषद् कालीन दर्शन के विकास मे क्षत्रियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा। अनेक गुप्त सिद्धांतों की कुंजी उन्हीं के पास थी। वे ही सम्बन्धित विषयों की शिक्षा प्राप्त करते थे। ब्राह्मणों को भी उनके पास जाना पडता था।[99] छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार अनेक ब्राह्मण ब्रह्मचारी अध्ययन के निमित्त अश्वपति, जनक, प्रवाहण जैवलि आदि क्षत्रिय आचार्यो के पास गये थे।[100] धर्मशास्त्रकारों ने भी ब्राह्मणेत्तर आचार्यो की परिकल्पना कर व्यवस्था दी है कि ब्राह्मण ब्राह्मचारियों को भी अब्राह्मण आचार्यो की सेवा सुश्रुषा करनी चाहिए।[101] बदलते सामाजिक परिवेश मे द्वितीय एवं तृतीय, शताब्दी से धार्मिक और साहित्यिक शिक्षा प्रदान करने सम्बन्धी अधिकार ब्राह्मणो के हाथों में आ गयी, जबकि व्यवसायिक शिक्षा ब्राह्मणेत्तर आचार्यों द्वारा दी जाती रही। स्मृतियों के अनुसार केवल आपाद्काल में ही अन्य वर्णो के व्यवसाय को ब्राह्मणों द्वारा अपनाया जाना चाहिए। लेकिन लम्बे समय तक वे न केवल उनके व्यवसायों को अपनाते रहे, बल्कि संबंधित विषयों का अध्यापन कार्य भी वे करते थे। महाभारत कालीन कौरवों और पाण्डवों को युद्ध की शिक्षा किसी क्षत्रिय आचार्य से नहीं, बल्कि ब्राह्मण आचार्य द्रोणाचार्य से मिली थी।

मनुस्मृति में ऐसे ब्राह्मण आचार्यो का उल्लेख मिलता है, जो युद्ध के लिये अश्वो और हस्तियों को शिक्षित करते थे।[102] जातकों से भी विदित होता है कि तक्षशिला के ब्राह्मण सैन्य, शल्य चिकित्सा, नाग वशीकरण आदि विषयो की शिक्षा देते थे।[103] धनुर्वेद के अनुसार, युद्धकाल में आचार्यत्व का अधिकार ब्राह्मणो को भी उतना ही प्राप्त था जितना क्षत्रियो को (1–4)। संभवतः पाचवी शताब्दी उपरान्त से वर्णव्यवस्था कठोरतम होते जाने के कारण ब्राह्मण ने इन विषयों का आचार्यत्व छोड़ दिया।

शिक्षाविदो की ऐसी मान्यता थी कि ब्राह्मणों को 12 वर्ष तक वेदों का अध्ययन करना चाहिए। किन्तु व्याकरण, दर्शन, व्यवहार आदि नये शास्त्रों का उदय होने के कारण ब्राह्मणों का बहुसंख्यक भाग नये शास्त्रों के अध्ययन में अपने को तल्लीन करने लगा। यद्यपि उनका परम्परागत वर्ग वेदों के अध्ययन-अध्यापन को ही अपना परम धर्म माना, लेकिन इनकी संख्या क्रमशः घटती गई। शेष ब्राह्मण उतने ही वैदिक मंत्रों को कंठरथ करना अपना धर्म समझते रहे जितने धार्मिक कृत्यो के लिये आवश्यक होते थे तथा शेष समय वे दर्शन, व्याकरण और संस्कृत साहित्य जैसे नये शास्त्रो के अध्ययन एवं प्रगति में लगाते थे। स्मृतियों के अनुसार क्षत्रिय और वैश्यो को भी उपनयन के अनन्तर वेदाध्ययन करना पड़ता था। जातक साहित्य में ऐसा उल्लेख मिलता है कि कुछ राजकुमार तीनों वेद और 18 शिल्पों में पारंगत होते थे।[104] महाभारत में कहा गया है कि कौरव वेद, वेदान्त और समस्त युद्ध कलाओं में पारंगत थे (1–118–133)। उल्लेखनीय है कि जो ब्राह्मण पौरोहित्य कर्म नही करना चाहते थे वे कुछ वैदिक मंत्रों के अध्ययन से अपने को संतुष्ट कर लेते थे। संभवत· क्षत्रियो और वैश्यों की भावना भी ऐसी ही रही होगी। क्योंकि, कालान्तर में न तो उन्हें वैदिक आचार्यत्व प्राप्ति की आशा थी और न ही उनके व्यवहारिक जीवन में वैदिक ज्ञान की विशेष प्रासंगिकता रह गयीं थी। यद्यपि प्रांरभिक राजकुमारों की शिक्षा में वेदाध्ययन सम्मिलित था, किन्तु बाद में इस ज्ञान का महत्व उनके लिये न के बराबर रहा। परिणामतः इससे न केवल वैदिक शिक्षा

को गहरा धक्का लगा, बल्कि वैदिक ज्ञान की दृष्टि से उनकी स्थिति शूद्रों की भाति होती गई। प्रथम शताब्दी से क्षत्रियो और वैश्यो का उपनयन क्रमश प्रतिबधित होता गया और कालान्तर मे वैदिक ज्ञान से वे पूर्णतया वचित हो गए।

तत्कालीन शिक्षाविदो ने शूद्रों को वैदिक शिक्षा प्रदान करने का विरोध किया था।[105] यद्यपि उन्हें व्यवहारिक विषयो की शिक्षा दी जाती थी, जिसका सबंध दैनिक जीवन से होता था। स्मृतिकारों की ऐसी अवधारणा थी कि वेदों के उच्चारण में स्वर एवं मात्रा संबंधी अल्प त्रुटि से देवता कुपित हो जाएंगे।[106] चूकि, वैदिक संस्कृत शूद्रों की मातृभाषा नहीं थी, अतः उनके मध्य वैदिक मंत्रों के जाने से कालान्तर में उसके वास्तविक स्वरूप के खो जाने की संभावना थी। शूद्रो की धार्मिक शिक्षा से वचित करना उनका मूल उद्देश्य नहीं था, क्योकि स्मृतियो, पुराणों ओर महाकाव्यों के अध्ययन से धर्म का प्रकाश प्राप्त करने की अनुमति थी। यही बात उत्तरकालीन स्त्रियों के साथ भी लागू होती थी।

प्राचीन शिक्षा-व्यवस्था के अनन्तर यद्यपि शूद्रों को वैदिक शिक्षा से वचित रखा गया था, लेकिन वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत व्यवसायिक शिक्षा प्राप्त करने की उन्हे अनुमति थी। ब्राह्मणों के लिये अध्ययन-अध्यापन एक उपयुक्त कर्म था, जिसके लिए पवित्रता का विशेष ध्यान अवश्य रखा जाता था। स्मृतियों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि विद्याविहीन ब्राह्मण पुत्र भी क्षत्रिय और वैश्य के व्यवसाय को ही करे।[107] काशी क्षेत्र के एक ब्राह्मण के पुत्र के बारे में एक ज्योतिषी ने भविष्यवाणी की थी कि वह चक्रवर्ती राजा होगा। पिता ने उसे तत्क्षण तक्षशिला मे धनुर्विद्या की शिक्षा हेतु भेज दिया ताकि भविष्यवाणी सत्य हो।[108] शुंगों, कण्वों और कदम्बों की योग्यता और महत्वाकाक्षा ने उन्हे ब्राह्मण होते हुए भी सम्राट बना दिया था। यही बात नन्दों और पालो के साथ भी लागू होती है, जो शूद्र होते हुए भी शासक बने थे। धनुर्वेद से भी ज्ञात होता है कि सैन्य शिक्षा चारों वर्णों को दी जा सकती थी। इस प्रकार प्राचीन शिक्षाविदों की ऐसी अवधारणा थी कि शिक्षा प्रदान करते समय पात्रता को भी ध्यान अवश्य रखा जाय।

जहा तक बौद्ध शिक्षा का प्रश्न है, बुद्ध व्यक्तिगत रूप से वर्ण व्यवस्था के विरोधी थे। उनका कथन था कि किसी भी व्यक्ति का मूल्य उसके गुणों के आधार पर आंका जाना चाहिए, न कि वर्ण या जाति के आधार पर। 'उपालि' बुद्ध के प्रिय शिष्यों में से थे जो जन्मना नापित थे,[109] 'सुनीति' जाति से भंगी एवं 'जीवक' गणिका पुत्र थे। प्रारम्भ में कोई भी व्यक्ति संघ के माध्यम से शिक्षा ग्रहण कर उपाध्याय बन सकता था। किन्तु, कालान्तर में जब बौद्ध धर्म अपने सहज एवं स्वाभाविक रूप को त्यागकर दार्शनिक जटिलता में उलझता गया, और जन सामान्य से अपने को अलग करता गया तब अध्ययन-अध्यापन से सबंधित कर्तव्यों का निर्वहन ब्राह्मणों ने करना प्रारंभ किया। क्योंकि द्वितीय शताब्दी के उपरान्त ब्राह्मण एवं बौद्ध धर्म में कोई विशेष अन्तर नहीं रह गया। उदाहरण स्वरूप बौद्ध धर्म की दीक्षा लेने से पूर्व सारिपुत्र, मोद्‌गल्यायन, महाकश्यप, नागसेन, वसबधु तथा नागार्जुन जैसे विद्वान् भिक्षु जन्मना ब्राह्मण ही थे। जहां तक पाठ्‌यक्रमों का सबध है, वह मुख्यत्या धार्मिक एव दार्शनिक ही रहा, क्योकि बौद्ध विद्यापीठ जन सामान्य के लिये नहीं बल्कि भिक्षु और भिक्षुणियों की शिक्षा दीक्षा के लिये खोले गये थे।

संदर्भ

1. विष्णु पु. 6.5.61, आगमोत्थं विवेकाच्च द्विधा ज्ञानं तदुच्यते।
   वही, 1.19.41, सा विद्या या विमुक्तये। विद्यान्या शिल्पनैपुण्यम्।
2. छान्दो. उप., 1.1.10 .... उभौ कुरूतौ यश्चैतदेवं वेदयश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च। यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवतंर भवति।।
3. ऋग्वेद, 1.164.66 ; 2.2.2.6 ; अथर्ववेद, 11.5.26 ; तै. सं., 6.3.10.5; श. ब्रा., 11.5.7.1–5
4. बृ. उप., 1.5.16, अथत्रयोवाव लोकाः – मनुष्यलोक :
   पितृलो को देवलोको इति।

सोऽय मनुष्यलोकः पुत्रेणैव ज्ययो नान्येन कर्मणा।

कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः।

देवलोको वै लोकानाम् श्रेष्ठः।

तस्माद् विद्यां प्रशसन्ति।

5. विष्णु पु., 6.5.62, अन्ध तम इवाज्ञानम्।

6 छान्दो. उप., 1.1.10,

तेनोभौ कुरूतौ यश्चैतदेव वेद यश्च न वेदं।

नाना तुविद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति

श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तर भवतीति

खल्वेतएयैवाक्षरस्योप व्याख्यान भवति।

7. सुभाषितरत्न सग्रह पृ., 194,

ज्ञानं तृतीयं मनुजस्य नेत्रं समस्त तत्वार्थविलोकि दक्षम्।

तेजोऽनपेक्षं विगतान्तरायं प्रवृत्ति मत्सर्वजगत्त्रयेपि।।

8. ऋग्वेद, 10.71.7,

अक्षण्वन्तः कर्णवन्त· सरवायो मनोजषेषु असमाबभूवु.।

9. यावज्जीवमधीते विप्रः।

10. बृह. उप., 5.2.3, शिक्षेद्दम दानं दयामिति।

तै. उप., 1.2.1, शिक्षा. व्याख्यास्यामः।

11. वैयाकरण सिद्धांत कौमुदी (उत्तरार्द्ध) भ्यादिप्रकरण, धातु क्रमांक 605, पृ. 16, शिक्ष् विद्योपादाने।

12. तै. उप., 1.2.1 पर शा. भा.।

13. बृह. उप. 5.2.3

14. सा विद्या या विमुक्तये ....।

15. मुण्डक उप., 1.1.4–5

16. मुण्डक उप., 3.2.9, स यो ह वे तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।

17. वही, 3.2.10

18. वही, 1.1.1–2

19. छा. उप., 8.15.1

20. ज्ञान तृतीय मनुजस्य नेत्र समस्ततत्वार्थविलोकिदक्षम्।
तेजोऽनपेक्षं विगतान्तराय प्रवृत्तिमत्सर्व जगत्तयेपि।।
सुभाषित रत्न संग्रह, पृष्ठ 194

21. सुभाषित रत्न संग्रह, पृ. 30–2

22. 12.339.6, नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तप ।

23. वही सा विद्या या विमुक्तये।

24. वही बुद्धिर्यस्य बलं तस्य।

25. वही, पृ. 31–14
मातेव रक्षति पितेव हिते नियुक्ते कान्तेव
चापि रमयत्ययनीय खेदम्।
लक्ष्मी तनोति वितनोति च दिक्षुकीर्ति
किकिं न साधयति कल्पलतेव विद्या।।

26. वही, पू. 31–12,
श्रिय· प्रदुग्धे विपदं रूणद्धि यशांसि सूते मलिनं प्रमार्ष्टि।
संस्कारशौचेन नरं पुनीते शुद्धा हि बुद्धि किल कल्पधेनुः।।

27. वही, विद्या ददति विनयं विनयाधाति पात्रताम।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्म ततः सुखम्।।

28. वही, विद्या तु वैदुष्यमुपार्जयन्ति जागर्ति लोकद्वयसाधनाय।

29. ऋग्वेद, 10–717, अक्षण्वन्त कर्णवन्त· सखायो मनोजवेषु असमायभूवु.।

30. नीतिशतक, 16, विद्याविहीनः पशु·।

31. सुभा र. सं. पृ., 31–18,
शुन पुच्छमिव व्यर्थ जीवतं विद्यया बिना।
न गुह्यगोपने शक्तङम न च दंशनिवारणे।।

32. जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।
विद्यया यति विप्रत्वं त्रिभि· क्षोत्रिय उच्यते।।

33. स्वामी विवेकानन्द, 'शिक्षा', पृ. 6

34. मनु., 2–69

35. नीतिशतक–2, अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।

36. सुभा. र. सं., 41–48,

यस्य नास्ति विवेकस्तु केवलं यो बहुश्रुतः।

न स जानाति शास्त्रार्थान्दर्वी पाकरसानिव।।

37. कुमारसंभव, 5–10, शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।

38. सुभा. र. स., पृ. 40–21

शास्त्राराायधीत्यापि भवन्ति मूर्खा यस्तु क्रियावान पुरूष स एवं।

सुचिन्तितं चौषध मातुराणा न नाममात्रेण करोत्यरोगम्।

म.भा., 3–313, 10, पाठकः पाठकश्चैव ये चान्ये शस्त्रपाठका।

सर्वे व्यसनिनो ज्ञेया यः क्रियावान्स पंडित ।

39. सुभा. र.सं., पृ. 319,

सद्विद्या यदि का चिन्ता वरोकोदरपूरणे।

शुकोऽप्यशनमाप्नोति राम रामेति च ब्रवन्।।

40. मालविकाग्निमित्र, 1–17,

यस्यागमः केवल जीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति।

41. डॉ ए.एस. अल्टेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति पृ. 6

42. अत्रि स्मृति, 1.140–41,

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैद्विज उच्यते।।

विद्यया यति विप्रत्वं श्रोत्रियस्त्रिभिरेव च।।

वेदशास्त्राण्यधीते यः शास्त्रार्थञ्च निषेवते।।

43. अथर्ववेद, 11.3.15

44. ऋग्वेद, 10.117

दृष्टव्य : लज्जाराम तोमर भारतीय शिक्षा के मूलतत्व पृ. 81 प्राचीन शिक्षा में आध्यात्मिक एवं भौतिक दोनों प्रकार के ज्ञान का सामंजस्य था।

45. तैत्तिरीय उपनिषद, 1.11 स्वाध्याय प्रवचनाभ्या न प्रमदित व्यम्।

46. स्वामी विवेकानन्द 'शिक्षा', नागपुर, पृ. 4

47. डा. ए. एस. अल्टेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति

48. वही, 1.11.2, देवपितृकार्याभयाम् न प्रमदिव्यम्।

49. वृह. उप. 30, 3.1.2,

याज्ञवल्क्यः स्वमेव ब्रह्मचारिणमुवाचैता सीभ्योदज सामश्रवा ....।

50. तै. उप., 1.11.1, धर्मचर धर्मान्नप्रमदित व्यम्

51. रश्मिमाला, 10.2, ब्रतानां पालनेनैव तद् गूढमात्मदर्शनम।
जायते यमिना नूनमात्मविश्वास कारणम्।।

52. छान्दो. उप., 4.101, उपकोक्षलो हवै कामलायन सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास। तस्य ह द्वादश वर्षाण्यग्नीन् परिचचार।

53. मनु; 2.69
तै. उप. 1.11 .... धर्मचर .... धर्मान्न प्रमदितव्यम्।

54. तै. उप. 1.11

55. अमृतमंथन, 15–4, सर्वे धर्मा क्षयं यान्ति यदि सत्य च विद्यते।

56. छान्दो. उप., 3.17.4,
अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः।

57. मनु; 2.118

58. महाभारत अनुशासन पर्व, 12.321.78

59. अथर्ववेद 11.5.24,
ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद विभर्ति। तस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।।

60. वही, 11.5.17, ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्र वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते।।

61. गोपथ ब्राह्माण, 1.2.1.7

62. अमृतमथन, 1.1.45–46

63. प्रश्नोपनिषद, 5.3,
स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संपन्नों महिमानमनुभवति।

64. मनु ; 2.69, उपनीय गुरु शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्य च संध्योपासनमेव च।।

65. वही, 3–1, 2–168

66. महान शिक्षा शास्त्री, पृ. 175–76, हर्बर्ट के मत से तुलना, जो कहता है कि शिक्षा का उद्देश्य ऐसी भावनाओं का विकास है, जो उसमे सदाचार के नियमो को समझने तथा तदनुरूप आचरण की शक्ति प्रदान करें।

67. श्री अरविन्द, शिक्षा के आयाम, पृ 39

68. भा. गृ. सू., 1.5, अयं ते इध्म आत्मा जात वेदः तेन वर्द्धश्च चेद्धि वर्द्धय चारमान्।

69. आश्व. गृ. सू., 1.20.6, देव सवितरेष ते ब्रह्मचारी स मा मृत।

70. रघुवश, 3.7 स वृत्तचौलश्चलकाकपक्षकैरमात्य पुत्रै सवयोभिरन्वित ।

71. गीता, 6.17, युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टय कर्मसु।
युक्तस्वत्नावबोधस्य योगी भवति दुःखहा।।

72. तै. उप., 1.11.1

73. केन उप., शाति पाठ

74. तैत. उप. 1.11

75. तै. स., श. ब्रा., 1.5 5, जायमानो वै ब्राह्मणस्तृभिऋणवाज्जायते।
यज्ञेन देवेभ्या ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यः प्रजया पितृभ्यः।

76. द्रव्य या अनाज की भिक्षा मांगना ब्रह्मचारियों का उद्देश्य नहीं था बल्कि वे भोजन के समय कुछ परिवारों से रोटी, दाल, सबजी एवं चावल इत्यादि के थोड़े–थोडे अंश एकत्र करते थे। जिससे उन्हें पर्याप्त आहार उपलब्ध हो सके। ऐसी भिक्षा को मराठी में मधुकर कहते हैं, क्योकि ब्रह्मचारी भ्रमर की भाति अनेक जगहो से थोड़ा–थोडा अन्न एकत्र करता था।

77. म.भा., 5.40.4, अशुश्रूषा त्वरा श्लाधां विद्याया· शत्रवस्त्रयः।

78. सुभषित, सुखार्थिनों कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिन· सुखम्।।
नान्योद्योगवता न चाप्रवसता नात्मानमुत्कर्षता।
नालस्योपहतेन नामयवता नाचाय–विद्वेषिणा।
लज्जाशीलविनम्र सुन्दरमुखी सीमन्तिनी नेच्छता।
लोके ख्यातिकरः सतामभिमतो विद्यागुणः प्राप्यते।।

79. अ.शा. 3.4 (प्रतीक्षेत) ब्राह्मणमधीयान दशवर्षाणि।

80. सुभाषित, माता शत्रुः पिता वैरी बालो येन न पाठितः।

81. तै. उप., 11, स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।

82. याज्ञ. स्मृ., 3.228

83. आ. ध., 2.2.24,

यया विद्या न विरोचते पुनराचार्यमुपेत्य नियमेन साध्येत्।

84. मनु; स्मृ. 2.113–14.191

85. वही, 1.2.48.53 शिष्य शिष्टिरवधेन।

अशक्तौ रज्जु वेणु विदलाभ्याम्।

अन्येन ध्नन् राज्ञा शास्य.।

86. तिलमुत्थि जातक सं. 52,

अरिया अनारियं कुब्बान दंडेन निषेधति।

सासनत्थ नं तं वेर इति न पंडिता विदु.।

87. म. भा., 6.1.30,

बुद्धिश्च हीयते पुसां नीचै. सह समागमत्।

मध्यमैर्मध्यतां याति श्रेष्ठतां याति चोत्त्मैः।

तुलनीय : स्वामी विवेकानन्द, शिक्षा, नागपुर, पृ. 6

88. छान्दो. उप., 4–10.3, उपकोशल की कथा में आचार्य की पत्नी ब्रह्मचारी को उपवास भग करने के लिए समझाती है। इन कथाओं से परोक्षत. यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मचारी आचार्य कुल में ही निवास करते थे। पराशर स्मृति की माधव टीका में कात्यायन का वचन, जिल्द, 3.1, पृ. 141

ब्रह्मचारी चरेत्कशिचद् व्रतं षटत्रिंषदाब्दि म्।

समावृत्तो ब्रती कुर्यात्स्वधनान्वेषणं ततः।।

पचाशदाब्दि को भोगस्तद्धनस्यापहारक.।

89. द्वितीय ब्रह्मचारी आचार्य कुलवासी, 2.33, अन्तेवासी आचार्यकुल का संक्षिप्त रूप हैं। छान्दोग्योपनिषद् अतेवासी शब्द का प्रयोग साधारण शिक्षार्थी के अर्थ में करता है।

90. म.भा., 13–36–15,

अपि च ज्ञान सम्पन्नः सर्वान्वेदान्पितुर्गृहे

श्लाधमान इवाधीयाद् ग्राम्य इत्येव तम् विदुः।।

91. शिक्षाविदो कि ऐसी मान्यता थी कि गांव में किसी के मृत्यु होने या दस्याओं द्वारा आक्रमण होने पर अनध्याय होना चाहिए। इससे सिद्ध

होता है कि गुरुकुल सर्वदा वनों में ही होते थे।

गो. ब्रा., 1.2, काशी में छात्र और आचार्य किसी उपवन या वाटिका में अध्ययन—अध्यापन के निमित्त जाते थे।

वही, 1.8 ब्रह्मचारी को गॉव मे तभी प्रवेश करना चाहिए जब ऐसा करना अपरिहार्य हो। अर्थात् भिक्षाटन आदि के निमित्।

92. कैम्ब्रि. मिडीवियल हिस्ट्री पांचवी जिल्द पृ. 769

93. बृह. उप., 5.2.1, देवो, आसुरों औरमानवों की शिक्षा उनके पिता प्रजापति के ही आचार्यत्व मे हुई थी।

बृह. उप., 6.1, छान्दो उप. 5.3 श्वेत केतु का उपनयन उनके पिता आरूणि ने स्वयं किया था।

94. शत. ब्र., 10, 4.1—10

95. सुभाषित, 41—7, अत· सारविहीनस्य सहायः कि करिष्यति।

मलयेपि स्थितो वेणुर्वेणुरेव नः चन्दनः।।

96. सुभा र. स., पृ., 40—1

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रोक्तं किं करिष्यति।

लोचनाभ्या विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति।।

97. उत्तर राम, अंक, 2—4,

वितरित गुरुः प्राज्ञे विद्या यथैव तथा जडे।

न च खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहन्ति वा।

भवति च पुनर्भूयान्भेद· फलं प्रति तद्यथा।

प्रभवति मणिर्विंबोद्ग्राहे न चैव मृदा चयः।।

98. जन्मना जायते शूद्रः संस्कारद् द्विज उच्यते।

विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते।।

99. छान्दो. उप., 5.3.7

बृह. उप., 2.1.15

100. बृह. उप., 2—1, 1.4, 4—1.1

छान्दो. उप., 4.1

101. आ. ध. सूत्र, 1.2.40–1, 2.4.25–7,

अब्राह्मणादध्ययन मनापदि। शुश्रूषाऽनुब्रज्यां च याद्दध्ययनम्।

गो. ध. सूत्र, 7.1.31

102. मनु., 3.162

103. असदिस जातक सं., 181 एव थुस जातक सं. 338

खात्तियमानवा ब्राह्मणमानवा च तस्सैव संति के सिप्पं उग्गणिहतुं गच्छति।

104. दुग्मेध जातक सं., 50, सोलहवस्सपदेसिको हुत्वा नक्खसिलायां सिप्पं उग्गणिहत्या तिण्णां वेदानं पार गत्वा अट्टारसान विज्जठ्ठान निप्फत्तिं पापुतानि।

105. वज. सं. 26–2, यथेमां वाच कल्याणी मावदानि जनेभ्यः।

ब्रह्म राज्याभ्या शूद्राय। चार्चाय चस्वाय चारणाय च।

106. पाणिनीय शिक्षा, मत्रों हीनः स्वरतो वर्णतो व मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह। स राग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधांत्।।

107. गो. ध. सू., 1.1.16, राजन्य वैश्यकर्मा विद्याहीनः।

108. सारभंग जातक स., 522

109. महात्मा बुद्ध ने भृत्यों, दासो और कर्जदारों को प्रव्रज्या के अधिकार से वंचित कर दिया था, क्योंकि वे किसी अन्य के हित और अधिकार की हत्या करना उचित नहीं समझते थे।

● ● ● ● ●

द्वितीय अध्याय

शिक्षक और शिक्षार्थी : पात्रताएँ एवं वर्जनाएँ

प्राचीन भारत में शिक्षण–संस्थाओं का जन्म अपेक्षाकृत विलम्ब से होने के कारण इस दायित्व का निर्वहन शिक्षक स्वयं करते थे। अतः समाज उन्हे प्रोत्साहित कर आदर व सम्मान देना अपना धर्म समझता था। ऐसी मान्यता थी कि ज्ञान रूपी दीपक एक प्रकार के आवरण से आच्छन्न रहता है और गुरु द्वारा इस आवरण के हटाते ही प्रकाश की किरणें फूट निकलती है।[1] अतः गुरु के प्रति कृतज्ञ होना एवं उसका अधिकाधिक सम्मान करना शिष्य का परम कर्त्तव्य माना गया था। धर्म शास्त्रो मे गुरु को शिष्य का मानस पिता कहा गया है,[2] क्योंकि माता–पिता से छात्र का पार्थिव शरीर मिलता है, जबकि उसका बौद्धिक एव आध्यात्मिक विकास गुरु के द्वारा होता है। अतः ज्ञान के लिये गुरु की अपरिहार्यता थी। जब गुरु द्रोणाचार्य ने एकलव्य को सैन्य शिक्षा देने से इंकार कर दिया, तब उसने अभिलाषित गुरु की प्रतिमा से प्रेरणा प्राप्त कर धनुर्विद्या मे दक्षता प्राप्त किया था। निःसंदेह यह दृष्टान्त गुरू के महत्व को रेखांकित करता है। बौद्ध और जैन सम्प्रदायों में भी गुरु आदरणीय एवं पूज्य थे।

महाभारत मे वर्णित है कि जो व्यक्ति वेदों को लिपिबद्ध करता है, उसे नारकीय यातनाएँ भोगनी पड़ती है। इससे स्पष्ट होता हैं कि वेदों की शिक्षा मौखिक दी जाती थी। चूँकि, प्रारभ से ही वैदिक मंत्रों के उच्चारण की शुद्धता पर विशेष बल दिया जाता था, जो योग्य अध्यापकों के बिना संभव नही था। उपनिषद् काल में रहस्यवादी दर्शन का जन्म हुआ, जिनका विश्वास था कि मुक्ति का मार्ग गुरु ही दिखला सकता है।[3] अतः इस काल में गुरु की महिमा और बढ़ गयी। गूढ़ विषय एवं दार्शनिक शिक्षा के क्षेत्र में गुरु की महिमा बढ़ने के कारण साधरण अध्यापकों का भी मान–सम्मान बढ़ने लगा, क्योकि समाज के साधरण अध्यापक भी बिना किसी लोभ या शुल्क के शिक्षा देने हेतु तत्पर रहते थे। पुस्तकों के अभाव में शिक्षार्थी अपने शिक्षकों पर आश्रित रहते थे। व्यवसायिक

और तकनीकी शिक्षा अनुभवी शिक्षकों के माध्यम से ही संभव था। अत किसी भी व्यवसाय का मूल नब्ज पकडने हेतु शिक्षको का सान्निध्य एवं उनका आशीर्वाद प्राप्त करना आवश्यक था।

उपनिषद् काल मे शिक्षक को जो मान और प्रतिष्ठा प्राप्त थी, उसका कारण, अध्यात्म विद्या का होना था, जिसकी शिक्षा गुरु के द्वारा ही संभव था। गंभीर विषयो का स्पष्ट ज्ञान, उसकी वैज्ञानिक व्याख्या एवं उनके कार्य–व्यवहार मे साधुता का होना भी उन्हें पूज्य बनाया। सत्यकाम को देवताओं ने ज्ञान तो अवश्य दिया, लेकिन उसमे दक्षता उसे तभी प्राप्त हुई जब वह गुरु से उपदिष्ट हुआ। सत्यकाम की उक्ति है कि श्री मन। आप सदृश ऋषियो से सुना है कि आचार्य से प्राप्त विद्या से ही साधुता की प्राप्ति होती है।[4] इस प्रकार देवताओं से प्राप्त ज्ञान से सतुष्ट न होने के कारण वह आचार्य के पास गया था।[5] इससे शिक्षक की महत्ता देवों से भी श्रेष्ठतर सिद्ध होती है। प्राचीन शास्त्रों में उसे देवता सदृश्य मानकर,[6] उसी की भाति पूज्यभाव रखने का दृष्टान्त मिलता है।[7] चूकि, आत्मज्ञान के लिये गुरु का होना आवश्यक था।[8] अतः उपनिषद् काल में आत्मवाद का होना ही उसकी प्रतिष्ठा का मूल कारण था। प्रश्नोपनिषद[9] से विदित होता है कि श्वेतकेतु, सत्यकाम जाबाल, सौर्यापणि, कौशल्य, वैदर्भि तथा कबन्धी आदि समित्पाणि होकर ही पिप्लाद के पास गये थे। तात्पर्य यह है कि बडे–बड़े विज्ञ आचार्य भी अपने ज्ञानपिपासा को शांत करने के उद्देश्य से उन गुरुओं के पास जाते थे जो सुविज्ञ आत्मवादी एवं चिंतकपरायण होते थे।[10]

प्रांरभ से ही आचार्य का स्थान अत्यन्त आदरयुक्त प्रतिष्ठित एवं गरिमामय था। ऋग्वेद मे इन्द्र और अग्नि जैसे देवताओं को गुरु के रूप में वर्णित किया गया है, जो विश्ववेद (सर्वज्ञ), सत्यमन्या (सत्य को जानने वाला), विश्वानिवयुनानि (विभिन्न विद्याओ में पारंगत) जैसे विशेषणों से युक्त होते थे। आचार्य दिव्य और अलौकिक ज्ञान के प्रतीक थे, जो न केवल व्यक्ति और समाज को शिक्षित करते थे, बल्कि उनका बौद्धिक एवं आध्यात्मिक उत्थान भी करते थे। ऐसी मान्यता थी कि अच्छे आचार्य के सम्पर्क से मनुष्य को सच्चे अर्थों में

ज्ञान की प्राप्ति होती है।[11] अलौकिक व्यक्तित्व एव ज्ञान के कारण ही उसके कुल का मान था। अध्यापन के कारण वह स्तुत्य था। समाज मे उसकी प्रतिष्ठा थी और वह पूज्य था। अपने चिरसंचित ज्ञान और विद्या से वह समुचित उत्तराधिकारी को अवगत करा देता था, जो उसके न रहने पर उसकी ज्ञान–गरिमा की परम्परा को बनाए रखता था। इस प्रकार आचार्य की प्रतिष्ठा और गरिमा शनैः–शनैः बढ़ती गई और वह माता एव पिता के समकक्ष स्वीकार्य होने लगा। कालान्तर में उसका स्थान पिता से भी बढ़कर हो गया। अथर्ववेद के अनुसार, उपनयन संस्कार के समय प्रत्येक शिष्य को वह गर्भ में धारण करता है, जिसके अनन्तर तीन दिन तक गर्भ मे पोषण कर चौथे दिन उसको जन्म देता है।[12] यह इस बात का प्रमाण है कि आचार्य की गरिमा जन्म देने वाली मॉ से कम नही था। आचार्य की सार्थकता ज्ञान प्रदान करने में ही थी और वह इस कार्य का निवर्हन उसी प्रकार करता था, जिस प्रकार बिना अपेक्षा के सूर्य प्रकाश एव सरिता जल प्रदान करती है।

ज्ञान वितरण की दृष्टि से प्राचीन शिक्षक कई प्रकार के होते थे; जैसे–आचार्य, उपाध्याय, प्रवक्ता, गुरू, अध्यापक, पिता आदि।

आचार्य : शिक्षकों को 'आचार्य' इसलिए कहा जाता था, क्योंकि वे अपने शिष्यों को ज्ञान देने के साथ–साथ आचरण एवं चारित्र्य की भी शिक्षा देते थे।[13] मनु के अनुसार, जो ब्राह्मण शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार कर, उसे कल्प विद्या (यज्ञ विद्या) एवं रहस्य विद्या (उपनिषदों) समेत वेदशाखा की शिक्षा देता था, वह 'आचार्य' था।[14] व्यास के विचार में, जिसमे वेदों के प्रति उत्सर्ग की भावना हो, श्रोत्रिय हो, शुचि हो, वैदिक शाखा का अध्ययन किया हो तथा जो आलसी न हो, वह 'आचार्य' है।[15]

उपाध्याय : मनु ने शिक्षकों की कई श्रेणियों का उल्लेख किया है, जिनमें 'उपाध्याय' भी एक श्रेणी है। उनके अनुसार, जो ब्राह्मण वेद के एक भाग (ब्राह्मण भाग) तथा वेदांगों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, ज्योतिष और

छन्दशास्त्र) की शिक्षा जीविका के उद्देश्य से देता था, वह 'उपाध्याय' कहा जाता था।[16] इस प्रकार वे आचार्य, जो शिष्यों से उपहार, द्रव्य, धन या दक्षिणा प्राप्त कर अपने परिवार का पोषण करते थे, वे 'उपाध्याय' कहलाते थे।

प्रवक्ता : प्रोक्त (शाखा ग्रन्थ, ब्राह्मण और श्रोत सूत्र का विद्वान) साहित्य की शिक्षा प्रदान करने वाला 'प्रवक्ता' कहा जाता था। उसे 'व्याख्याता', 'आख्याता' भी कहा जाता था।

अध्यापक : वैज्ञानिक और लौकिक साहित्य की शिक्षा प्रदान करने वाले 'अध्यापक' कहे जाते थे।

श्रोत्रिय : ऐसे अध्यापक, जो वेद की शाखाओ को स्वयं कंठस्थ करने के उपरान्त अपने छात्रों को शिक्षित करते थे, 'श्रोत्रिय' कहे जाते थे।

गुरू : मनु के अनुसार, जो विद्वान शास्त्र—सम्मत गर्भादानादि संस्कारों को सम्पन्न कराकर दान मे प्राप्त अन्नादि से, अपने परिवार का पोषण करता था, वह 'गुरू' कहलाता था।[17] पिता को भी 'गुरू' की श्रेणी में गृहीत किया गया था। इस प्रकार, जो शिक्षक गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए शिक्षक की भूमिका का भी सम्यक् निर्वहन करते थे, उन्हें 'गुरू' कहा जाता था।

ऋत्विक : जो ब्राह्मण पादपूजनादि कराकर अग्न्याधान, पाक्यज्ञ और अग्निष्होम, जैसे यज्ञों को सम्पादित कराता था, वह 'ऋत्विक' के नाम से जाना जाता था।

चरक : प्राचीन भारत में ऐसे भी अध्यापक थे, जिनका जीवन यायावर की भॉति था। वे घूम—घूमकर अपने शिष्यों का चुनाव कर उन्हें शिक्षा प्रदान करते थे। ऐसे अध्यापक 'चरक' कहे जाते थे।[18] उपनिषदकालीन महान् विद्वान उद्दालक आरूणि ऐसे ही 'चरक' आचार्य थे।

आलोच्यकालीन ग्रन्थों में माता—पिता को भी शिक्षक के रूप में निर्दिष्ट किया गया है। धर्मसूत्रों में माता को श्रेष्ठ गुरु कहा गया है।[18A] क्योंकि संतति को

प्रारभिक शिक्षा सर्वप्रथम अपनी मॉ से ही प्राप्त होती है। महाभारत में कहा गया है कि पिता दस उपाध्यायों से बढकर और मॉ दस पिताओं से बढ़कर होती है, अतः प्रारंभिक शिक्षा के लिये मॉ से बेहतर कोई दूसरा गुरू नहीं हो सकता।[18B] अनेक भाष्यकारों ने पिता को भी शिक्षक के रूप में निदर्शित किया है[18C] और पिता को अपने पुत्र का आचार्य माना है।[18D] महाभारत मे वर्णित है कि अध्यापन और पोषण करने वाला पहला गुरू पिता ही होता है।[18E] इस प्रकार तद्‌युगीन समाज मे माता–पिता की गरिमा यशपूर्ण थी, जिनके द्वारा अपनी संतति को आवश्यक शिक्षा प्राप्त होती थी। आरूणी पुत्र श्वेतकेतु ने अपने पिता से 24 वर्ष मे समस्त वेदो की शिक्षा प्राप्त कर[18F] अध्यात्म लाभ के निमित्त क्षत्रिय आचार्य प्रवाहण जैबलि के पास गया था।[19] पिता के आचार्यत्व मे ही देवो, मनुष्यों और असुरो की शिक्षा सम्पन्न हुई थी।[20] आचार्य प्रवाहण ने यह प्रश्न किया था कि क्या पिता ने तुझे शिक्षित किया है।[21] यह दृष्टान्त पिता के शिक्षक धर्म को रेखांकित करता है। चूँकि, तत्कालीन समाज में ऐसे आचार्यो की संख्या कम थी, जो धन लेकर शिक्षा देते थे या जो शिक्षा को व्यवसाय समझते थे। अतः पिता को आचार्यत्व सम्बन्धी वैधानिक स्वीकृति प्राप्त थी। वे प्रारम्भिक एवं व्यवहारिक शिक्षा के साथ–साथ वेदों की शिक्षा भी प्रदान करते थे, क्योंकि आरंभ में गायत्री मंत्र के अध्यापन का अधिकारी पिता ही होता था।[22] स्पष्ट है कि गायत्री मंत्र के द्वारा वह विभिन्न विषयों की शिक्षा प्रारम्भ करता था। यह संस्कार पहले मौखिक स्वीकृति मात्र थी।[23] इस प्रकार शिक्षक के कई सोपान थे और शिक्षकों की अलग–अलग भूमिका थी।

ब्राह्मणेत्तर आचार्य : प्राचीन भारत में अध्ययन–अध्यापन पर एकमात्र अधिकार ब्राह्मणो का था। इसकी पुष्टि एस.जी. कान्तावाला के विवरण से भी होती है।[23A] डॉ. प्रदीप केशरवानी के अनुसार, शिक्षा के क्षेत्र में ब्राह्मणों की सर्वोच्चता वैदिक काल से थी, यद्यपि बौद्धकाल में उन्हें चुनौती अवश्य मिली थी तथापि वे सभी वेदों के ज्ञाता और सभी विधाओं मे मर्मज्ञ होते थे। यही कारण है कि तद्‌युगीन समाज मे उन्हें आदर व सम्मान प्राप्त था।[23B] परवर्ती साहित्य

से भी इस विचार को बल मिलता है। किन्तु, प्रवाहण के दृष्टान्त से यह विचार दृढ होता है कि रहस्य एवं अध्यात्म विद्या ब्राह्मणो के पास नही थी।[24] यह विद्या सर्वप्रथम क्षत्रियो के पास थी और वे इसमे दक्ष होते थे। कई ब्राह्मण आचार्य आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने के निमित्त अश्वपत्ति, जनक और प्रवाहण जैबलि जैसे क्षत्रिय आचार्यो के पास गये थे।[25] यद्यपि इसका तात्पर्य यह नही है कि ब्राह्मण आचार्यो का रहस्य एव अध्यात्म विधा में दखल नही था और वे इस विद्या से पूरी तरह अनभिज्ञ थे, बल्कि ब्रह्म विद्या के विभिन्न स्वरूप को उद्घाटित करने वाले ब्राह्मण आचार्य ही थे। तथापि यह सच है कि उपनिषद् एवं बौद्ध काल में इस विद्या पर क्षत्रियो का वर्चस्व था। उपनिषद् काल में आचार्यत्व का प्रधान आधार विद्वता थी, पर कालान्तर में यह अधिकार वर्ण एवं जाति ने ले लिया और वेदो के अतिरिक्त अन्य विषयों की शिक्षा प्रदत्त करने का उत्तरदायित्व ब्राह्मणो को प्राप्त हो गया। क्षत्रिय शासक जो कभी आध्यात्मिक ज्ञान में ब्राह्मणों से आगे थे, राजकीय कार्यो में व्यस्त रहने के कारण अध्ययन—अध्यापन से विरत होते गये। इस प्रकार अध्ययन—अध्यापन का विशेषाधिकार ब्राह्मणों को प्राप्त हो गया। किन्तु अन्य वर्ण के विद्वान भी शिक्षक धर्म का पालन करते रहे। विश्वमित्र, वाल्मीकि, व्यास, कण्व, भारद्वाज, श्रृंगी आदि जन्मना ब्राह्मण नहीं थे, फिर भी अपने ज्ञान के कारण ब्रह्मर्षि कहलाये।

शिक्षकों के आदर्श

प्राचीन शिक्षक मिथ्या प्रदर्शन मे विश्वास नहीं करते थे। अपनी स्पष्टवादिता के कारण उन्हीं विषयों पर व्याख्यान देते थे, जिनपर वे दक्ष होते थे। काव्यपतंचल से यज्ञिकों ने जब लोक, परलोक से संबंधित विषयों पर जानकारी मांगी, तो उसने अपनी स्पष्टवादिता के कारण तत्काल अनभिज्ञता जाहिर कर दी।[26] महर्षि भारद्वाज से जब षोडश कला वाले पुरूष के विषय में प्रश्न पूछा गया, तो उसने भी तत्काल अपनी अनभिज्ञता व्यक्त की थी। इसी

प्रसग मे उन्होंने कहा है कि मिथ्याभिलाषी के कारण ज्ञान का नाश होता है। जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं अनृतवादी नही हूँ।[27] उपनिषद् में पिप्पलाद का कथन है कि आप एक वर्ष के ब्रह्मचर्योपरान्त उचित समय पर मेरे पास आइए, आपके द्वारा पूछे गये ब्रह्मविषयक प्रश्नों की जानकारी, यदि मैं रखता होऊँगा तो अवश्य बतला दूँगा।[28] ज्ञान के क्षेत्र में इस तरह की स्पष्टोक्तियाँ तत्कालीन शिक्षा के आदर्श की परिचायक थी।

गोधन का संरक्षण एवं संवर्द्धन करना, प्रायः वे अपना नैतिक धर्म समझते थे। सत्य काम को चार सौ गायें चराने के लिये दी गयी थी, जिनके विषय में उसने जाते समय कहा था कि जब तक ये सहस्त्र संख्यात्मक नहीं हो जायेंगी, तब तक मैं वापस नही लौटूँगा।[29] वे अपने पास गायों के साथ–साथ अश्व, परिधान एवं दासी भी रखते थे,[30] जिनसे शिष्यों के भोजन, वस्त्र एवं पेय आदि समस्याओं का निराकरण होता था। यद्यपि वे सुपथ से आयी हुई संपत्ति के विनियोग में ही विश्वास रखते थे। जनक ने याज्ञवल्क्य को अत्यन्त पुष्ट सहस्त्र गायें दान में दी थी, किन्तु उन्होंने यह कहकर अस्वीकार कर दिया था कि बिना शिक्षित किये धन नही लेना चाहिए। इससे तत्कालीन शिक्षकों का नैतिक आदर्श रेखांकित होता है। इस संबध मे उन्होने अपने पिता के मत को उद्धृत किया था।[31] समावर्तन के समय प्रत्येक ब्रह्मचारियों से आचार्य कहता था कि जो हमारे शुभ कर्म है वे ही सेव्य है तथा जो श्रेष्ठ ब्राह्मण है, उनका आसनादि द्वारा सत्कार होना चाहिए।[32] इससे प्राचीन शिक्षकों का आदर्श एवं उनकी विनम्रता का भाव प्रदर्शित होता है।

शिक्षकों का प्रशिक्षण

समावर्तन के समय प्रत्येक शिक्षक अपने शिष्यों को आशीर्वाद देता था कि चारों दिशाओं से योग्य शिष्य तुम्हें प्राप्त हो।[33] यह इस बात का प्रमाण है कि तत्कालीन स्नातकों को शिक्षा धर्म को पालन करने से पूर्व किसी प्रशिक्षण की

आवश्यकता नहीं थी। वेदो के शिक्षार्थी अपने अध्ययन काल दौरान ही शिक्षक के मुख से शुद्ध उच्चारण सुनकर, उसका ज्ञान प्राप्त कर लेते थे। व्याकरण, छन्द, न्याय, ज्योतिष, दर्शन, इतिहास आदि विषयों का विशेषाध्ययन करने वाले ब्रह्मचारियों को किसी प्रशिक्षण की आवश्यकता नही थी, क्योंकि प्रत्येक शिक्षार्थी को अपने अध्ययन के दौरान ही शास्त्रार्थ की कठिन परीक्षा से गुजरना पडता था तथा उन्हें खण्डन–मडन का सामना करना पडता था। अतः अध्ययन की समाप्ति तक उनकी तार्किक शक्ति परिपक्व और चिंतन शक्ति परिष्कृत हो जाती थी। ऐसा उल्लेख मिलता है कि अनेक शिक्षणशालाओ में ज्येष्ठ और योग्य ब्रह्मचारियो को नये शिक्षार्थियों को पढाने का भी अवसर प्रदान किया जाता था।[34] अत. शिक्षा के समापन तक ज्यादातर स्नातको को अध्ययन–अध्ययापन का पर्याप्त अनुभव हो जाता था और उन्हे किसी प्रशिक्षण की आवश्यकता नही रह जाती थी।

आचार्यत्व का आधार

उपनिषद् काल में आचार्यत्व का प्रधान आधार विद्वता थी। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जब क्षत्रिय विद्वानों ने अन्य वर्ण के लोगों के अतिरिक्त ब्राह्मणों को भी शिक्षा प्रदान की थी। ऐसा कोई विधान नहीं था कि शिक्षक धर्म का पालन ब्राह्मण ही करे। अनेक विद्वान ब्राह्मण आचार्य का भी शिष्यत्व स्वीकार कर उनके ज्ञान से लाभान्वित हुए थे। विदेह नरेश जनक, काशी नरेश अजातशत्रु, केकय नरेश अश्वपति, पांचाल नरेश प्रवाहण जैबलि, सनत्कुमार, सम्राट प्रतर्दन, जानश्रुति पौत्रायन, बृहद्रथ आदि क्षत्रिय शासक जो अपने ज्ञान और अध्यात्म विद्या के लिये ख्यात थे तथा अनेक विद्वान ब्राह्मणों को अपने आध्यात्मिक ज्ञान से तृप्त किये थे।[35] किन्तु उत्तर काल में जब कार्यो का स्पष्ट विभाजन हो गया, तब अध्ययन–अध्यापन का एकाधिकार ब्राह्मणों को प्राप्त हो गया।

वेदो के अतिरिक्त अनेक विषयों की शिक्षा देना उनका परम कर्तव्य बन गया। क्षत्रिय शासक, जो कभी आध्यात्मिक ज्ञान में ब्राह्मणो से अग्रणी थे, राजनैतिक प्रतिद्वन्द्विता एव प्रशासनिक जटिलता के कारण, वे अपने को राजकीय कार्यो मे ही व्यस्त रखने लगे। इस प्रकार, सूत्र काल से शिक्षक धर्म की भूमिका का निर्वहन प्रमुखतया ब्राह्मण ही करने लगे और यह परम्परा क्रमशः जड़वत होती चली गयी।

शिक्षक की योग्यता और उसका कर्त्तव्य

प्राचीन शिक्षक तत्कालीन समाज के आदर्श समझे जाते थे। उनका जीवन छात्रों के लिये आदर्श होता था। उनसे अनेक गुणों की अपेक्षा की जाती थी। ऐसी मान्यता थी कि अध्यापक को शांत स्वभाव का होना चाहिए, किसी भी छात्र के साथ पक्षपात नहीं करना चाहिए। सर्वप्रथम उसे शास्त्रों में पारगत होना चाहिए। यावज्जीवन स्वाध्याय नही छोड़ना चाहिए।[36] उसे वाक् चतुर अच्छा वक्ता, प्रत्युत्पन्नमति, तार्किक, रोचक कथाओं का ज्ञाता तथा कठिन से कठिन विषयों का तत्काल व्याख्या कर देने वाला होना चाहिए।[37] अतः अध्यापकों के लिए मात्र पांडित्य प्राप्त होना ही आवश्यक नही था। कालिदास के अनुसार,[38] उससे अत्यन्त उच्च योग्यता की अपेक्षा की जाती थी, जिससे वह अपनी पवित्रता, चारित्रिक बल, पांडित्य और सदाचारी जीवन का अमिट प्रभाव उन छात्रों के जीवन पर डाल सके, जो उसके चरणों मे बैठकर शिक्षा प्राप्त करते थे।

चूँकि, प्राचीन शिक्षक अपने—अपने विषयो में दक्ष होते थे, अतः उसे शिष्य को मुक्ति के मार्ग का दिग्दर्शन कराने वाला सुज्ञानी समझा जाता था।[39] नम्रता और निरभिमानता का सच्चा स्वरूप होने के साथ ही साथ सत्य भाषण करने में भी वह अप्रतिम होता था। जिस विषय को वह नही जानता था, उसके लिए वह अविलम्ब अपनी असमर्थता व्यक्त करता था। 'प्रश्नोपनिषद्' से विदित होता है कि सुकेशा भारद्वाज से कोसल कुमार द्वारा सोलह कलाओं से युक्त

एकांत स्थल पर अध्ययन–अध्यापन में तल्लीन रहता था। अनावश्यक घूमना वर्जित था। घास काटना और ढेला फोडना भी उसके लिए निषिद्ध माना गया था।[44]

महाभारत के अनुसार, दीक्षा लेने आये वह प्रत्येक ब्रह्मचारी को अपने गर्भ मे धारण करता है।[45] जिस प्रकार माता अपने शिशु को गर्भ में धारण करने के उपरान्त चाहकर भी उसका आहार कम नहीं कर सकती, उसी प्रकार आचार्य भी अपने नवजात शिक्षार्थी को अपने ज्ञान से निराश नही कर सकता था।

चूँकि, प्राचीन शिक्षाविदों की दृष्टि में शिक्षक और शिक्षार्थी का सम्बन्ध पिता–पुत्र सा होता था।[46] अतः शिष्यों को शिक्षित करने के साथ–साथ उसके अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करना भी उसका धर्म था। शिष्य का मानस पिता होने के कारण उसके अन्दर के समस्त दोषों को दूर करने का उत्तरदायित्व भी उसी पर था।[47] कौन–सी आदते डालना, किसे छोडना, किस कार्य में तत्परता दिखलाना, कब शयन करना, किसके साथ रहना तथा किन स्थानो पर जाना इन सभी बातों की जानकारी, उन्हें अपने शिष्यों को देनी पड़ती थी।[48] भोजन–वस्त्रादि का प्रबंध भी उन्ही को करना पडता था। निर्धन छात्रों के लिये आर्थिक व्यवस्था करना भी उनका धर्म माना गया था। इसके स्थानीय सम्पन्न नागरिकों का यथोचित सहयोग प्राप्त होता था। पूर्वी भारत के संस्कृत पाठशालाओं के प्राध्यापक अभी हाल तक इस व्यवस्था का पालन करते रहे है। छात्रों के रूग्णावस्था में पिता की भांति उसकी सेवा शुश्रुषा एवं चिकित्सकीय प्रबंध करना भी उनका धर्म होता था।[49]

अध्यापन वृत्ति की उदात्तता

अध्यापन के नियम बड़े ही सरल एवं उदात्त थे। यदि कोई अध्यापक अपने प्रतिद्वन्दी से पांडित्य में पराजित हो जाते थे तो उसे अपनी शिक्षणशाला

बन्द कर, उनका शिष्यत्व स्वीकार करना पडता था।[50] चूँकि, अध्ययन–अध्यापन शिक्षक का अनिवार्य धर्म माना गया था।[51] अत. अकारण वह शिक्षण कार्य बाधित नहीं करता था तथा जिज्ञासु एवं उपयुक्त छात्र को शिक्षा प्रदान करने हेतु तत्पर रहता था।[52]

वर्तमान की भाति शिक्षण शुल्क निश्चित न होने के कारण गुरू–सेवा की प्रतिज्ञा कर निर्धन से निर्धन छात्र भी शिक्षा की मांग कर सकता था और शिक्षा पा सकता था। प्रत्येक अध्यापक का यह कर्त्तव्य था कि वह बिना कुछ छिपाए अपने शिष्यों को सम्पूर्ण ज्ञान से परिचित करा दे। ऐसा उल्लेख मिलता है कि कोई भी अध्यापक इस भय से कि एक दिन उसका शिष्य अपनी विद्वता से हतप्रद कर उसकी वृत्ति पर आघात पहुँचा सकता है उससे कुछ नहीं छिपाता था।[53] कुछ छिपाने पर वह 'आचार्य' पद का अधिकारी नहीं माना जाता था।[54] आचार्य की उदारता का अनुमान अलार कलाम के वचन से लगाया जा सकता है। स्नातक बोधिसत्व से उन्होंने कहा था– "भंते ! आप जैसे श्रद्धेय को पाकर आज हम कितने प्रसन्न हैं। जो ज्ञान मुझे प्राप्त है, वही आपको भी तथा जो ज्ञान आपको प्राप्त है, वही मुझे भी। अतः जैसा मैं हूँ, वैसे ही आप है। कृपया इस गुरूकुल के संचालन में आप मेरे सहायक हों"।[55]

इस प्रकार प्राचीन आचार्यो का जीवन सरल एवं सादगीपूर्ण होने के कारण, उन्हें आदर एवं सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। वर्तमान की भांति धन और सम्मान परस्पर सम्बद्ध नहीं माने जाते थे।

शिष्य के प्रति शिक्षक की संतुलित भावना

आचार्य अपने शिष्यों के प्रति स्नेहिल व्यवहार रखते थे। आचार्य जैबलि ने शिक्षा के निमित्त आये उद्दालक का सस्नेह सम्मान किया था।[56] यमराज ने अपने शिष्य नचिकेता का हार्दिक अभिनंदन किया था।[57] तत्कालीन आचार्य

अपने शिष्यो को 'सौम्य' सज्ञा से सबोधित करते थे,[58] जिसका अभिप्राय चन्द्रमा सदृश आकर्षक और मधुर–गुण–सम्पन्न था। शिष्यो द्वारा बारम्बार प्रश्न पूछे जाने पर भी आचार्य अपना सतुलन नही खोते थे। वृहदारण्यक् उपनिषद् से ज्ञात होता है कि महर्षि पतंजलि ने शिष्य द्वारा बारम्बार प्रश्न पूछे जाने पर प्रत्येक बार उसका नम्रतापूर्वक उत्तर दिया था,[59] छान्दोग्य उपनिषद् से ज्ञात होता है कि आचार्य आरूणि ने अपने शिष्य श्वेतकेतु द्वारा बार–बार आत्मा सम्बन्धी प्रश्न पूछे जाने पर उन्होंने प्रत्येक बार उसके प्रश्नों का समाधान किया था।[60]

इस प्रकार शिक्षक और शिक्षार्थी की अंतरगता[61] तथा उनका पिता–पुत्र का सम्बन्ध सर्वथा बना रहा।[62] लक्ष्मीधर ने आपस्तम्ब को उद्घृत करते हुए लिखा है कि अध्यापक अपने शिष्य को पुत्रवत् स्नेह करते थे और उसकी सभी आवश्यकताओं का ध्यान रखते थे। कोई भी अध्यापक अपने ज्ञान को छिपाता नही था, बल्कि वह इसे धरोहर समझता था।[63] कादम्बरी से ज्ञात होता है कि गुरूजनो का चन्द्रापीड के प्रति अपार स्नेह था।[64] वाल्मीकि लव–कुश के हित के लिए सर्वथा चिन्तित रहते थे।[65] भारद्वाज का अपने प्रिय शिष्य द्रोण एवं द्रुपद के प्रति अपार स्नेह था[66] जो शिष्य के प्रति आचार्य की स्नेहिल भावना को रेखांकित करता है।

शिक्षक-शिक्षार्थी सम्बन्ध

प्राचीन भारत में ऐसी सार्वजनिक शिक्षण–संस्थाएँ नही थी, जहॉ छात्रों का प्रवेश व्यवस्थापक करते रहे हों। अतः छात्र और अध्यापक का सम्बन्ध किसी सस्था के माध्यम से न होकर सीधे था। छात्र प्राय. उन्हीं आचार्यो के पास जाते थे, जो दक्ष एवं ख्याति प्राप्त होते थे। आचार्य भी अध्यापन के निमित्त उन्हीं शिक्षार्थियों को को चयनित करते थे, जो बच्चे उत्साही और सदाचारी होते थे। छात्र या तो आचार्य के साथ या उसकी प्रत्यक्ष देख–रेख में रहते थे। निर्धन

शिक्षार्थियो के लिये भोजन वस्त्रादि का प्रबंध करना, रूग्णावस्था में उसकी परिचर्या करना आचार्य का धर्म होता था। ऐसे छात्र आचार्य के गृहकार्य में यथोचित सहयोग करते थे। गुरू–दक्षिणा अर्पित करने वाले छात्रों से ऐसे सहयोग की अपेक्षा नही की जाती थी।[67] यद्यपि निर्धन शिक्षार्थियों से भी सेवा के कार्य न्यूनतम ही लिये जाते थे। इस प्रकार गुरू और शिष्य का सम्बन्ध बडा ही मधुर, घनिष्ठ एवं प्रेमपूर्ण होता था। बुद्ध के अनुसार परस्पर विश्वास, सम्मान और एकत्रित जीवन के कारण दोनों अभिन्न हो गये थे।[68] किसी भी स्थिति में शिष्य गुरू का परित्याग नहीं करता था।[69] अत्यधिक प्रगाढ़ता के कारण कभी–कभी गुरू उन्हें अपनी पुत्रियों के लिये वर के रूप मे चुन लिया करते थे। बाद के स्मृतिकारो ने गुरू कन्या से पाणिग्रहण संस्कार का निषेध कर दिया, और वे भगिनीतुल्य समझी जाने लगी थी। कच ने इसीलिए देवयानी से पाणिग्रहण से इंकार कर दिया था। ऐसा प्रतीत होता है गुरूकुलीय परम्परा में चारित्रिक दोष आने के कारण व्यवहारिक कठिनाइयॉ उत्पन्न होने लगी थी, जिसके परिहार हेतु उन्हे यह नियम बनाना पड़ा था। जातक साहित्य से विदित होता है कि अनेक शिक्षकों ने अपने सर्वश्रेष्ठ शिष्यों से अपनी पुत्रियों का विवाह किया था। कतिपय आचार्यों के परिवारों में यह प्रथा इतनी मजबूत हो चुकी थी कि शिष्यों को अपनी इच्छा के विपरीत गुरू–कन्या से विवाह करना पड़ता था।[70] निश्चय ही यह परम्परा शिक्षक और शिक्षार्थी के सम्बन्धों में खटास उत्पन्न की होगी तथा इसका प्रभाव गुरूकुलीय की परम्परा पर पड़ा होगा, जिसके कारण बाध्य होकर बाद के स्मृतिकारों द्वारा इस प्रकार के कड़े प्रतिबन्ध लगाने पडे होगें।

तैत्तिरीयोपनिषद में आचार्य का कथन है कि उसका और उसके शिष्यों का ज्ञान तेजस्वी हो। दोनों का सम्बन्ध पिता–पुत्र जैसा होने के कारण उसका यह कर्तव्य था कि आचार्य को पितातुल्य एवं उसकी पत्नी को मातातुल्य समझे तथा किसी भी स्थिति में उसके प्रति द्रोह न करे।[71] आचार्य की प्रतिष्ठा देवतुल्य थी।[72] मनुस्मृति में वर्णित है कि विद्या ने ब्राह्मण के पास आकर कहा कि मैं

तुम्हारी कोष हूँ, मेरी रक्षा करो, निन्दा करने वालों को मुझे न दो। इससे मैं अत्यन्त वीर्यवती होऊँगी। जिसे तुम पवित्र, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी समझो, उसे ही मुझे दो।[73]

मनु के अनुसार, द्विज बालक के दो जन्म होते है। पहला जन्म मॉ के गर्भ से उत्पन्न होने पर और दूसरा जन्म उपनयन संस्कार से। द्वितीय जन्म ज्ञान प्राप्ति के लिये होता है और इस जन्म मे माता गायत्री (मत्र) एवं पिता आचार्य होता है।[74] उपनिषदो में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों एक दूसरे के प्रति निष्ठावान् और आदरवान थे। भारद्वाज ने अपनी जिज्ञासा का समाधान पा जाने पर अपने आचार्य पिप्पलाद का अर्चन करते हुए कहा था कि "आप हमारे पिता हैं, क्योंकि आप हमें अविद्या से पार ले जाकर तार देते है।[75] बृहदारण्यक् उपनिषद् के अनुसार, जब याज्ञवल्क्य ने विदेह–शासक जनक को 'ब्रह्मज्ञान' की शिक्षा दी, तो वे अनुगृहीत होकर बोले कि आपको नमस्कार। समस्त विदेह और मैं आपका ही हूँ।[76] यह उद्धरण इस बात का प्रमाण है कि शिक्षक और शिक्षार्थी का सम्बन्ध अत्यन्त आदरयुक्त होता था। आचार्य अपने पुत्र और शिष्यों को एक ही श्रेणी में रखते थे।[77] पाणिनी का यह कथन युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि दोनों एक दूसरे को परस्पर छाते की भांति रक्षा करते थे।[78] कालिदास ने 'गुरूवो गुरूप्रियम' कहा है।[79] बौद्धयात्री इत्सिंग लिखता है कि शिष्य गुरू के पास रात्रि के प्रथम एवं अंतिम प्रहर जाता है, उसके शरीर की मालिश कर वस्त्रादि संभाल कर रखता है, यदा–कदा उसके आवास और आंगन में झाड़ू लगाता है, जल छानकर उसे पीने को देता है और अपने से बड़ो के प्रति आदर प्रदर्शित करता है।[80] शिष्य के रोगग्रस्त हो जाने पर गुरू उसकी सेवा करता है, औषधि देता है तथा उसके साथ पितावत् व्यवहार करता है।[81] किसी भी अध्यापक के लिये यह उचित नहीं था कि वह अपने शिष्य को अपेक्षित ज्ञान से वंचित रखे, बल्कि वह उसे शिक्षित कर उसकी समस्त जिज्ञासा को शान्त करता था।[82] इस प्रकार

पुरूष के बारे मे पूछे जाने पर उसने तत्क्षण जवाब दिया कि मैं नहीं जानता यदि मुझे ज्ञात होता तो अवश्य बतला देता। जो असत्य भाषण करता है, उसका समूल नष्ट हो जाता है, अत मै तुमसे असत्य नही बोल सकता।[40]

तैत्तिरीयोपनिषद् में आचार्य के लिये कहा गया है कि वह अपने व्यवहार में औचित्य और अनौचित्य का ध्यान रखते हुए, सत्य भाषण करते हुए, तप का पालन करते हुए, इन्द्रियों पर संयम प्राप्त करते हुए, मन को शात रखते हुए, अतिथि सत्कार करते हुए, लोक समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों तथा गृहस्थ धर्म का सम्यक् पालन करते हुए स्वाध्याय और प्रवचन करे। मुद्गल ऋषि के पुत्र का मत है कि स्वाध्याय और प्रवचन को ही उसका मुख्य कर्त्तव्य मानना चाहिए, क्योंकि स्वाध्याय और प्रवचन का अनुपालन ही वास्तविक तप है।[41] तत्कालीन शिक्षक का प्रधान कर्त्तव्य था, वेद की शिक्षा प्रदान करना। महाभारत मे व्यास ने इस कार्य को महान् कर्त्तव्य के रूप में स्वीकार किया है। धर्मसूत्रों में वर्णित है कि शिष्यो को पुत्रवत् मानते हुए उनसे कुछ न छिपाये, छात्र अध्यापन मे उदासीनता दर्शित न करें और अपने पांडित्य और ज्ञान से छात्रों को लाभान्वित करे।[42] कालिदास के अनुसार वह महज विद्वान ही नहीं होता, बल्कि शिष्ट–क्रिया–युक्त साधु प्रकृतिवाला पटु शिक्षक भी होता है।[43]

स्पष्टत. आचार्य की योग्यता उसके स्वाध्याय और प्रवचन में निहित थी। किन्तु, उसमें अनुशासन, सत्याचरण, सत्यभाषण, सहिष्णु, उदार, संयम और चित्त की एकाग्रता का होना भी आवश्यक था। आपस्तम्ब के अनुसार, गृहस्थ होते हुए भी वह ऐसा जीवन व्यतीत करे, जिससे शिष्यों के मन में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न न हो। उसका रहन–सहन गरिमामय हो। वर्षा एवं शरद् ऋतुओ में वह ब्रह्मचारी की भांति जीवन व्यतीत करे। चारपाई पर या लेटे–लेटे अध्ययन न करे। मध्य रात्रि के उपरान्त स्वाध्याय में तल्लीन हो जाया करे। इस प्रकार रात्रि के तीसरे प्रहर से ही वह अपना अध्ययन कार्य प्रारम्भ कर देता था। निद्रा की स्थिति में खम्भे का सहारा लेकर ऊँघ लेता था। भीड़–भाड से दूर

गुरू–शिष्य का सम्बन्ध इतना उदान्त और आदर्शपूर्ण था कि उस जीवन पद्धति में पलने वाले सभी छात्र अत्यन्त तेजस्वी, विद्यावान, बुद्धिमान और चरित्रवान होते थे।[82A]

सम्बन्धों की परम्परा

समावर्तन संस्कार के उपरान्त भी शिक्षक और शिक्षार्थी के सम्बन्ध पूर्ववत् बने रहते थे। गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने के उपरान्त भी उन्हें बार–बार गुरू दर्शन करना, उपहार भेंट करना, चाहे वह दातुन ही क्यो न हो, शिष्य का परम कर्त्तव्य समझा जाता था।[83] विभिन्न अवसरो पर आचार्य भी अपने पुराने शिष्यो से मिलते थे।[84] अनभिरति जातक[85] से ज्ञात होता है कि एक शिष्य अपने आचार्य को सूचित करता है कि समावर्तन के कुछ समय बाद तक मेरा अध्ययन क्रम चलता रहा, किन्तु गृहस्थ जीवन मे प्रवेश के उपरान्त कुछ वैदिक मंत्र विस्मृत हो गये हैं, जिन्हें मै शीघ्रातिशीघ्र कंठस्थ कर स्वाध्याय चालू कर दूँगा। इस प्रकार छात्र जीवन की समाप्ति के उपरान्त भी शिक्षक और शिक्षार्थी के सम्बन्धो मे किसी प्रकार का शैथिल्य नहीं आता था।

उपासक और आचार्य

उपासक जीवन का प्रारम्भ 'प्रव्रज्या' की दीक्षा से एवं उसका समापन 'उपसम्पदा' की दीक्षा से होता था। प्रवज्या ग्रहण करने वाला भिक्षु 'श्रामणेर' कहा जाता था, जिसे किसी उपायाय और आचार्य के निर्देशन में रहना पड़ता था। उपाध्याय और श्रामणेर का सम्बन्ध वैदिक परम्परानुसार गुरू–शिष्य की भॉति था तथा उपाध्याय के न रहने पर वह उसके उत्तरदायित्व को संभालता था। उपासको को भिक्षुपद पर आने के लिये दस विशिष्ट भिक्षुओं के संघ की अनुमति लेना आवश्यक था। चूँकि, बौद्ध उपासकों का जीवन पूर्णतया 'भिक्षाटन'

पर आधृत था। अतः उन्हें 'भिक्षु' की संज्ञा से संबोधित किया जाता था। भिक्षाटन के द्वारा वे न केवल अपना उदर–पोषण करते थे, बल्कि घूम–घूम कर बुद्ध के विचारो को प्रसारित भी करते थे। उनके लिये दस 'शिक्षापद' एवं चार निश्रयों का उल्लेख मिलता है। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, धर्म में श्रद्धा, मध्यान्होत्तर भोजन का निषेध, विलास से विरक्ति, सुगंधित द्रव्यो का निषेध, सुन्दर शैय्या और शासन का त्याग तथा स्वर्ण–रजत जैसी मूल्यवान वस्तुओ के प्रति अनिच्छा। ये दस वर्जनाएँ दस शील को अभिव्यक्त करती है। चारनिश्रयों मे भिक्षा से प्राप्त भोजन, चीथडो का बनाया गया चीवर, वृक्ष के नीचे निवास एवं गोमूत्र का भेषज था, जिसका उल्लेख विनय पिटक में मिलता है। प्रत्येक भिक्षु निर्देशित नियमो का पालन करता था। वह समयानुसार सोकर उठ जाता था, भिक्षापात्र को झोले मे डालकर स्कन्ध पर लटका लेता था, पीठ पर उत्तरासग डाल लेता था, चप्पल पहनता था, थाली तथा अन्य पात्रों को यथास्थान रखता था और दरवाजा बद करके नित्य भिक्षाटन के लिये निकल जाता था। निकटवर्ती ग्रामवासियों और नगरवासियो से जो कुछ भी उसे भिक्षा में मिलता था उससे वह अपना उदर–पोषण करता था। बौद्ध विहारों मे शिष्टाचार का विशेष ध्यान रखा जाता था। वरिष्ठ भिक्षु के खाली पैर रहने पर कनिष्ठ भिक्षुओं को जूता न पहनने के लिये निर्देशित किया जाता था। अभिवादन, अंजलिकर्म सम्मान और सेवा–शुश्रूषा आदि के वे अधिकारी थे। उन्हें अपेक्षाकृत उत्तम भोजन, उत्तम आवास और उत्तम जल प्राप्त होता था। ब्राह्मण ब्रह्मचारियों की भाँति वे भी गुरू सेवा के लिये तत्पर रहते थे; जैसे– आचार्य का आसन तैयार करना, जल और दातुन देना, फर्श और भिक्षा–पात्र तथा अन्य वर्तनों की सफाई, भडारों का निरीक्षण, भिक्षाटन और उपदेशना हेतु ग्राम या नगर गमन के समय एक सेवक के रूप में उनके साथ जाना आदि उनका धर्म था। उन्हें अपरिग्रह, इंद्रिय–निग्रह, संयमव्रत जैसे कठोर नियम का भी पालन करना पड़ता था।

वे तिचीवर (तीन वस्त्र–अन्तर्वासक, उत्तरासंग और संघाटी) धारण करते थे, जिनका रंग गैरिक होता था। बुद्ध का कथन है कि भिक्षुगण कूड़े के

ढेर से जीर्ण वस्त्र को चुनकर अपने पहनने के लिये चीवर बनाएँ। विनय पिटक से ज्ञात होता है कि वे स्वय कूडे के ढेर से जीर्ण वस्त्र को चुनकर अपना चीवर बनाते थे, यद्यपि श्रद्धालु श्रावक भी उन्हे चीवर आदि दान में देते थे। प्रारम्भ मे वह कपास का होता था, किन्तु बाद में रेशन, ऊन, कपास, साण तथा क्षौम आदि के चीवर को धारण करने की अनुमति दी। सघ की ओर से प्रत्येक भिक्षु को बिछाने की चादर, मुख पोछने का वस्त्र और एक थैला वितरित किया जाता था। यद्यपि उनके लिये आभूषण पहनना निषिद्ध था, किन्तु उन्हें आंख में अंजन लगाने की छूट थी। उनका आहार प्रायः सात्विक होता था। किन्तु कुछ भिक्षुगण मासाहारी भी होते थे। कभी–कभी दुर्भिक्ष के समय वे मांस का सेवन करते थे। मद्य–पान वर्जित था, किन्तु औषधीय रूप मे उसे लेने का विधान मिलता है। प्रात·काल वे मधुमिश्रित दुग्ध–भात का सेवन करते थे। बुद्ध ने इस खाद्य को जीवन, आनन्द और शक्ति का स्रोत माना था। श्रावको के निमंत्रण पर वे उसके घर भी भोजन करते थे।

जहॉ तक भिक्षुओ के विकास मे आचार्यों की भूमिका का प्रश्न है, दोनो का सम्बन्ध पिता पुत्र की भाँति था[85A] उसके हित लाभ के लिये वे सर्वदा सन्नद्ध रहते थे। विनय पाठ की शिक्षा देकर उनका ध्यान ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह एवं इंद्रिय–निग्रह की ओर आकर्षित कर अपनी उपदेशना और व्याख्यानों से उसकी बौद्धिक एवं आध्यात्मिक उत्कर्षण में सहायता करते थे। भिक्षा और चीवर प्राप्ति में उसकी सहायता करना तथा रोगग्रस्त होने पर उसकी सेवा शुश्रूषा करना भी आचार्य का धर्म था। उनका जीवन छात्रों के लिये दृष्टान्त होता था। अपने आदर्शो से विचलित तथा संघीय नियमों का उल्लंघन करने को उद्यत आचार्यो को उनके शिष्य रोकने के लिए स्वतंत्र थे। उन्हें अपनी आवश्यकताएँ न्यूनतम रखनी पड़ती थी। नालन्दा के प्रसिद्ध अध्यापकों को साधारण शिक्षार्थियों से तीन गुणा अधिक धन मिलता था, जो उनके साधारण जीवन स्तर को रेखांकित करता है। यावज्जीवन अपने विषय के अध्ययन में मग्न रहा करते थे, क्योंकि उनके अध्ययन मे विवाह जैसी संस्था बाधक नहीं थी। यह स्थिति उपासक और

आचार्य दोनो के साथ थी। आचार्य बनने के लिये प्रत्येक उपासक को न्यूनतम 10 वर्ष का भिक्षु जीवन व्यतीत करना अपेक्षित था।

शिक्षक की जीविका

वर्तमान मे शिक्षा विभाग ने अध्यापको का वेतन क्रम निर्धारित कर रखा है। गैर सरकारी संस्थाओ में भी थोडे बहुत अतर से इसका पालन होता है। किन्तु, विवेच्य काल मे ऐसा कोई भी विभाग नहीं था, जो शिक्षको को वेतन वितरित कर उनके आय का मार्ग प्रशस्त करे। शिक्षार्थी समित्पाणि[86] होकर गुरू के पास जाते थे, जहॉ उन्हे नि:शुल्क शिक्षा दी जाती थी। वैभवयुक्त ज्ञान गमन करने वाले छात्रो को निन्दनीय समझा जाता था। जानश्रुति[87] पौत्रायन ने आचार्य के पास छः सौ गायें, एक हार तथा सच्चरियों से युक्त रथ लेकर गया था। इस कार्य से अप्रसन्न होकर आचार्य रैक्व ने उसे शूद्र की संज्ञा से संबोधित किया था,[88] क्योकि तत्कालीन परम्परा इसके खिलाफ थी। इस प्रकार समित्पाणि होकर ज्ञान गमन करने वाले छात्रों को ही शिक्षा देने की परम्परा थी।

प्राचीन शिक्षक संतोषी एवं निस्पृह प्रकृति के होने के कारण प्रायः वे धन की मांग नहीं करते थे। शिक्षाविदों ने शुल्क प्राप्त कर शिक्षा प्रदान करने वाले शिक्षकों की निन्दा की है। ऐसी मान्यता थी कि शिष्य को उपदिष्ट किये बिना उससे धन नहीं लेना चाहिए।[89] गुरू-दक्षिणा के रूप मे जो कुछ भी उसे प्राप्त होता था, वही उसकी जीविका का एक मात्र साधन होता था। चूँकि, प्राचीन शिक्षक पौरोहित्य का कार्य भी करते थे, अतः इस कार्य से जो कुछ भी उसे दान मे प्राप्त होता शा, वही उसकी जीविका का आधार बनता था। दृष्टव्य है कि प्रह्लाद के शिक्षक राजपुरोहित भी थे।[90] इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन आचार्यो का जीवन भिक्षाटन से प्राप्त अन्न एवं दान-दक्षिणा पर निर्भर होता था।

प्राचीन शिक्षक बिना किसी राग–द्वेष या लोभ–मोह के निःस्वार्थ भाव से शिक्षण–कार्य करते थे। अथर्ववेद के अनुसार, ब्रह्मचारी से प्राप्त दक्षिणा ही उसकी आय होती थी।[91] लेकिन बौद्ध काल तक आते–आते राजाओ और श्रेष्ठियो के अध्येता पुत्रों ने थोडा–बहुत दानादि देना प्रारम्भ कर दिया। तक्षशिला के आचार्यो को एक हजार तक स्वर्ण मुद्राएँ दक्षिणा में प्राप्त होती थी।[92]

विकास के क्रम में ऐसी परम्परा विकसित हुई कि शिक्षार्थी शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त ही अपने आचार्य को गरू दक्षिणा के निमित्त धन देने का प्रयास करे। जब कौत्स ने अपनी शिक्षा समाप्त कर ली, तब अपने गुरू वरतन्तु से दक्षिणा प्राप्त करने हेतु बार–बार आग्रह करने पर गुरू ने रूष्ट होकर उससे चौदह कोटि धन गुरूदक्षिणा मे मांगा।[93] कौत्स के पास उस समय गुरू दक्षिणा में देने को कुछ भी नहीं था। अतः वह उपयुक्त व्यक्ति की तलाश में निकल पडा, ताकि गुरू दक्षिणा हेतु आवश्यक धन प्राप्त कर सके। इस प्रयास में वह महाराज रघु के पास पहुँचा, जहाँ उसका भव्य स्वागत हुआ। किन्तु, राजकोष रिक्त होने के कारण उसे कुछ प्रतीक्षा करना पड़ा। तदुपरान्त वह प्राप्त धन अपने गुरू वरतन्तु को सौपकर उनसे विदा ली। यद्यपि गुरूदक्षिणा में इस प्रकार के अकूत धन राजपरिवार के सदस्य या धनाढ्य व्यक्ति ही दे सकते थे। फिर भी प्रत्येक शिक्षार्थियों का यह हार्दिक प्रयास होता था कि वह अपने आचार्य को गुरू दक्षिणा अर्पित करने के उपरान्त ही गृह गमन के लिये प्रस्थान करे।[94] ऐसा उल्लेख मिलता है कि कृष्ण और बलराम ने भी शिक्षा प्राप्ति के उपरान्त गुरू–दक्षिणा अर्पित की थी।[95] शिक्षार्थी कुश ध्वज ने भी अपनी शिक्षा समाप्ति के उपरान्त गुरू रवाणिक्य को गुरू–दक्षिणा अर्पित की थी।[96] मनु के अनुसार, ब्रह्मचारी द्वारा आचार्य को भूमि, सुवर्ण, गोधन, अश्व, छाता, जूता, आसन, शाक और वस्त्रादि गुरू दक्षिणा में अर्पित किया जाता था।[97]

विभिन्न अवसरों पर भी विद्वान आचार्यो को पर्याप्त धन दान में मिलता था। भीम द्वादशी के दिन उपाध्याय को अँगूठी, कटक, सुवर्ण सूत्र, वस्त्रादि दान

मे मिलता था।[98] कौरव और पाण्डवो को शिक्षित करने के उद्देश्य से पितामह भीष्म ने गुरू द्रोणाचार्य को धन–धान्य से परिपूर्ण कर एक आवास भी दान मे दिया था।[99] स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में शिक्षको का जीवन मासिक आय पर निर्भर नही था, बल्कि उनके भरण–पोषण की व्यवस्था समाज के सभी वर्ग करते थे, जो उपहार और दानादि के रूप में होता था। वैसे तो शिक्षा समाप्ति के उपरान्त गुरू दक्षिणा स्वीकार करने का विधान था, किन्तु यह धारणा प्रचलित थी कि ब्रह्मविषयक् शिक्षा सर्वाधिक बहुमूल्य होती है, जिसका मूल्य दक्षिणा से नही चुकाया जा सकता।[100] फिर भी गुरू–दक्षिणा अर्पित करने की प्रथा तत्कालीन समाज में मान्य थी।

कात्यायन को उद्धृत करते हुए अपरार्क ने लिखा है कि गुरू दक्षिणा में ब्राह्मण और क्षत्रिय ब्रह्मचारी गाय तथा वैश्य ब्रह्मचारी घोडा दे।[101] मनु, शख और विष्णु जैसे स्मृतिकारों का विचार था कि जो गुरू धन की लालसा में शिक्षा प्रदान करते है, वे 'उपाध्याय' कहलाते हैं।[102] गौतम और विष्णु जैसे स्मृतिकारों ने यह व्यवस्था दी थी कि जो गुरू अपने शिष्यों से कुछ नहीं लेते और निःशुल्क शिक्षा प्रदान करते हैं, उनके भरण–पोषण का ध्यान राजा को रखना चाहिए। राजा का यह परम कर्त्तव्य था कि वह देखे कि कोई विद्वान भूखा तो नहीं रह रहा है।[103] विदेह नरेश जनक[104] और जानश्रुति पौत्रायन द्वारा प्रदत्त उपहारों से स्पष्ट होता है कि आचार्य कुल को सम्पन्न बना देने का प्रयास राजन्यों द्वारा किया जाता था। धन प्रति निःस्पृह एवं उदास रहने के कारण कुछ आचार्य उसे लेने से इंकार कर देते थे। आचार्य नागसेन को शिक्षार्थी मिलिन्द ने दक्षिणा मे बहुमूल्य वस्त्र एवं आभूषण आदि प्रदान किया था, जिसको यह कहकर उन्होने लौटा दिया था कि मुझ जैसे साधु के लिये इसकी कोई आवश्यकता नहीं है।[105] जातक साहित्य से विदित होता है कि ऐसे छात्र, जो निर्धन, किन्तु मेधावी थे, राज्य की ओर से आर्थिक सहायता प्राप्त कर तक्षशिला में उच्च शिक्षा प्राप्त करते थे।[106] स्पष्ट है कि निर्धन, किन्तु मेधावी छात्रों को राज्य की ओर प्रोत्साहित किया जाता था।

राजसेवा में रत रहकर शिक्षण कार्य करने वालों को विशेष आर्थिक सहायता दी जाती थी।[107] किन्तु, ऐसे अध्यापकों की संख्या बहुत कम थी। शिक्षाविदो का ऐसा विचार था कि अध्यापन कोई व्यापार नहीं है, जिसे बेचकर धनार्जन किया जा सके। अत. जीविका के प्रयोजन से जो अध्यापक विद्या का मूल्य लेते थे, उनके ज्ञान को ज्ञान न मानकर वह विक्रय की वस्तु मानी जाती थी[108] तथा वह अध्यापक सर्वत्र निन्दा का पात्र बनता था।

नालन्दा, वलभी और विक्रमशिला जैसे ख्याति प्राप्त बौद्ध शिक्षाकेन्द्रों पर अध्यापन कार्य प्रायः भिक्षु ही करते थे। अतः उन्हें किसी प्रकार के शुल्क या दक्षिणा की आवश्यकता नहीं थी। उन्हें जीवन यापन के लिये प्रायः उतना ही धन मिलता था, जितने से चार छात्र गुजर कर सकते थे।[109] इस धन की व्यवस्था सस्थान की तरफ से की जाती थी। तक्षशिला के अध्यापक अपने ज्ञान एवं पांडित्य के कारण जगत प्रसिद्ध थे। उनके निर्देशन मे प्रायः 500 शिक्षार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे, जिनसे पर्याप्त मुद्राएँ दक्षिणा में प्राप्त होती थी।[110]

इस प्रकार प्राचीन अध्यापको का जीवन न तो अत्यन्त दरिद्रतापूर्ण होता था और न वे अत्यन्त धनवान होते थे। सादा जीवन और उच्च विचार जैसे आदर्शो के अनुरूप अपना जीवन व्यतीत करते हुए समाज के प्रति अपने नैतिक दायित्वो का सम्यक् निर्वहन करते थे। इस बात की चिन्ता समाज को रहती थी कि कोई भी विद्वान भूखा न रहे और उनके भरण—पोषण की व्यवस्था सुनिश्चित हो। इसके लिये दान और उपहार आदि वितरित किये जाते थे। कालान्तर में जब दान की अनिवार्यता स्वीकार्य हो गई, तब शिक्षित राजकुमारों से कर मुक्त भूमि भी, उन्हे दान में प्राप्त होने लगा। कश्मीरी इतिहासकार कल्हण ने विद्वानों को दिया जाने वाला दान की प्रशंसा की है।[111] पाल शासक धर्मपाल ने विक्रमशिला के संचालन हेतु कर मुक्त ग्राम—भूमि दान में दिया था। गुप्त शासक भी इस कार्य में पीछे नहीं थे। सौराष्ट्र नरेश गोविन्द राज ने निःशुल्क शिक्षा वितरित करने वाले आचार्यों को अनेक भूखण्ड दान में दिया था।[112] सोमेश्वर ने लिखा है कि राजकुमार अपनीं शिक्षा पूरी करने के बाद आचार्य को वस्त्र, स्वर्ण,

भूमि और कभी—कभी गॉव दक्षिणा में देते थे।[112A] इस प्रकार दान देने एवं लेने की प्रवृत्ति का विकास होने पर उसकी अनिवार्यता क्रमशः बढती गयी और तत्कालीन शिक्षक धन लोलुप होते गये। इसका सीधा प्रभाव तत्कालीन शिक्षा पर पडा और अर्थ प्रधान शिक्षा की परम्परा विकसित होने के कारण शैक्षिक मूल्यो एव आदर्शो मे ह्रास होना प्रारम्भ हो गया।

जहाँ तक शिक्षार्थियों की पात्रता एवं अपात्रता का प्रश्न है, प्रारम्भ से ही ज्ञान—पिपासु और जिज्ञासु शिक्षार्थियो को न केवल शिक्षा प्राप्त करने की अनुमति प्राप्त थी, बल्कि आचार्य ऐसे शिक्षार्थियों को शिक्षित करने के साथ—साथ उनकी बुनियादी आवश्यकताओ का भी ध्यान रखते थे। उनकी यह व्यक्तिगत कामना होती थी कि अधिकाधिक शिष्य योग्य बनकर, उनके सान्निध्य से निकले और उनके यश को सर्वत्र फैलाएं। स्वयं भी आचार्य बनकर अपने शिष्यों की सख्या बढाए, जिससे शिष्य परम्परा का विस्तार होता रहे।

प्रारम्भ से ही शिक्षार्थियों की अभिरूचि का पर्याप्त ध्यान रखा जाता था। आचार्य उसकी अभिरूचि एवं प्रवृत्ति का निरीक्षण कर संतुष्ट होने के उपरान्त ही, उसे शिष्य परम्परा मे गृहीत करते थे।[113] शील, स्वभाव एवं आचरण का निरीक्षण करने के उपरान्त ही, वे उसे गुरूकुल में रहने की अनुमति देते थे। व्यस्क शिक्षार्थी भी शिक्षा के निमित्त गुरूकुलों में जाते थे, जिन्हें उपनयन संस्कार से मुक्त रखा जाता था। इसे 'एडल्ट एजूकेशन' कहा जा सकता है, जो वर्तमान मे प्रचलित है।

गुरूकुल वास की अवधि के संदर्भ में उपनिषदों का दृष्टिकोण भिन्न है। इन्द्र का ब्रह्मचर्यवास एक सौ एक वर्ष का था।[114] संभवतः इतनी लम्बी अवधि आत्मज्ञान के लिये रहा होगा। साधारण शिक्षार्थी 24 वर्ष की अवस्था तक शिक्षा प्राप्त करते थे। प्रायः वे 12 वर्ष की अवस्था में आचार्य के पास जाते थे। श्वेतकेतु 12 वर्ष की अवस्था में उपनीत होकर वेदाध्ययन के निमित्त गया था और 24 वर्ष की अवस्था तक ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए समस्त वेदो की

शिक्षा प्राप्त किया था।[115] उपकोशल[116] ने भी 12 वर्ष तक, सत्यकाम जाबाल के यहाँ ब्रह्मचर्य वास करते हुए अग्नि परिचर्या की थी। यद्यपि कुछ शिक्षार्थी अपना सम्पूर्ण जीवन गुरूकुल में ही व्यतीत कर देते थे तथा जीवन के अंतिम समय तक अपने काया को शुष्क कर देने में ही अपना धर्म समझते थे।[117] ऐसे छात्रों को 'नैष्ठिक ब्रह्मचारी' कहा जाता था, जबकि अन्य छात्र 'अन्तेवासी' कहे जाते थे।[118] नैष्ठिक ब्रह्मचारी ही रहस्य और गूढ विद्या के सच्चे अधिकारी होते थे।[119]

प्रत्येक शिक्षार्थी को ब्रह्मचर्य व्रत का भली–भाँति पालन करना पडता था[120] और ब्रह्मचर्य तथा तप द्वारा मस्तिष्क की विकृतियों को दूर करने का प्रयास किया जाता था। छात्र मे श्रद्धा का भाव परखने के उपरान्त ही आचार्य उसे उपदेश देता था। ज्ञान के लिये श्रद्धा की उपयोगिता गीता में भी प्रतिपादित है।[121] ऐसी मान्यता थी कि भौतिक जीवन से दूर हुए बिना कोई भी शिक्षार्थी ज्ञान में पूर्णता नही प्राप्त कर सकता। यम ने नचिकेता को विद्याभिलाषी तब माना, जब वह प्रलोभित किये जाने पर भी विचलित नहीं हुआ।[122] वासनाओं के प्रति वृत्ति उत्पन्न न हो, इसके लिये उन्हें अनेकानेक कार्यो में व्यस्त रखा जाता था। गो सेवा[123] भिक्षाटन और अग्नि परिचर्या में वे सदैव अपने को व्यस्त रखते थे।[124] विभिन्न आयजनों में भी वे सम्मिलित होते थे। जनक द्वारा आयोजित वाद–विवाद प्रतियोगिता में कुरू–पांचाल के आचार्य भी आए हुए थे। वहाँ उपस्थित गायें जिनके सीगों में दस–दस पाद स्वर्ण मढ़े हुए थे–ब्राह्मणों को देय थी। याज्ञवल्क्य ने अपने ब्रह्मचारी सामश्रवा को उन गायो को ले चलने के लिये कहा था।[125] इससे स्पष्ट होता है कि विभिन्न गोष्ठियों में उन्हें भी ले जाया जाता था।

साधारणतया एक ही गुरू से शिक्षा प्राप्त करने का विधान था, किन्तु अन्य विद्वानों की विद्वता का भी लाभ उठाया जा सकता था। यद्यपि आचार्य परिवर्तन का भी दृष्टान्त मिलता है।[126] किन्तु, यह अपवाद स्वरूप था। शिष्य की शुभ हेतु आचार्य सर्वथा सचेष्ट रहते थे।[127] शिक्षा की समाप्ति पर वर्तमान दीक्षांत भाषण सादृश्य प्रत्येक स्नातक को उपदेश दिया जाता था।[128]

बृहदारण्यक् उपनिषद् मे चरक छात्रों का उल्लेख मिलता है, जो विचरणशील प्रकृति के होते थे तथा अपनी ज्ञान पिपासा शांत करने के उद्देश्य से एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहते थे। मद्रदेशवासी काव्यपतंजल के यहाँ, उद्दालक आरूणि यज्ञ शास्त्र के अध्ययन के निमित्त गया था।[129] चरक संभवतः विद्वतजनो का एक वर्ग था।[130]

उपनयन संस्कार के उपरान्त प्रत्येक शिक्षार्थी को, जो ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते थे, ब्रह्मचारी कहा जाता था।[131] प्रत्येक शिक्षार्थी का यह कर्त्तव्य था कि वह नियमित रूप से भिक्षाटन करे तथा जो कुछ भी उसे मिले, गुरू की सेवा मे लाकर अर्पित कर दे। इस प्रकार भिक्षा मांगना प्रत्येक शिक्षार्थी का धर्म था। वैदिक काल से ही भिक्षा सम्बन्धी बहुतेरे उदाहरण मिलते हैं।[132] उसके लिये भिक्षावृत्ति का निर्देश इसलिए था, जिससे वह निरभिमान होकर संयम और नियम का पालन कर सके। प्रत्येक गृहस्थ का यह परम कर्त्तव्य होता था कि वह प्रत्येक शिक्षार्थी को भिक्षा प्रदान करे।[133] उनके लिये दिन में केवल दो बार भोजन का विधान था।[134] उनके दिनचर्या को अनुशासित बनाने के उद्देश्य से भोजन, शयन, अध्ययन गुरू–सेवा, समिधा–दान, भिक्षाटन और निवास आदि के लिये अनेक विधान बने हुए थे।[135] पशुओ की देखभाल करना, समिधा इकट्ठी करना, भिक्षा मांगना, यज्ञ करना तथा निष्ठापूर्वक गुरू की सेवा करना उसका परम कर्त्तव्य होता था। ऐसी मान्यता थी कि गुरू के सान्निध्य में रहकर उसकी सेवा करने वाला प्रत्येक ब्रह्मचारी स्वर्ग को प्राप्त करता है।[136] ब्रह्मचारी का जीवन सर्वश्रेष्ठ माना गया था तथा इसके अनुसरणकर्ता को परमगति की प्राप्ति सम्भव थी।[137] उसके लिए संगीत, नृत्य, वाद्य, सुगंधित पदार्थ, जूता, छाता, माला, अंजन इत्यादि का इस्तेमाल, हँसना, नग्न स्त्री को देखना, उसके मुख को सूँघना, मन में उसकी कामना करना तथा अकारण उसे स्पर्श करना वर्जित था। सत्य सम्भाषण, अहंकार और अभिमान का त्याग तथा गुरू के शयन के पश्चात् सोना एवं उसके उठने से पूर्व उठना उसके लिये आवश्यक था।[138] कौटिल्य के अनुसार, वेदाध्ययन, अग्नि का अभिषेक, भिक्षावृत्ति, गुरू की अनुपस्थिति में

गुरुपुत्र और ज्येष्ठ ब्रह्मचारी की सेवा करना उसका परम कर्त्तव्य था।[139] इस प्रकार शील, साधना और अनुशासन का वह पूरे मन से पालन करता था तथा संयमित एवं अनुशासित जीवन व्यतीत करता था।

सदाचार और सच्चरित्रता का पालन करना प्रत्येक शिक्षार्थी की अनुपम साधना थी, जो योग के समान स्वीकार्य थी। अपनी इच्छाओं को वश में रखना तथा अपनी क्रियाओं को धर्म–समन्वित करना, उसका श्रेष्ठ आचरण था। ऐसी मान्यता थी कि विचरणशील इंद्रियों को संयमित रखने पर ही अभीष्ट की प्राप्ति होती है।[140] अत. मन, वचन और कर्म से संयमशील होकर वह प्रतिष्ठा को प्राप्त करता था। संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर स्मरण से उसका अन्तः मन विकसित होता था। यमों के अन्तर्गत सत्य, अहिसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य का निवेश था। प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिये इसका पालन श्रेयस्कर माना गया था, क्योंकि यमों के पालन से ही उसका आत्मिक विकास संभव था। इस प्रकार वह ज्ञान–पिपासु, अहिसक, सत्यभाषी, सच्चरित्र, गुरू–सेवक तथा काम–क्रोध, लोभ–मोह, ईर्ष्या, राग एव द्वेष से रहित होकर सात्विक एवं मृदुल जीवन व्यतीत करते हुए अपने व्यक्तित्व का सर्वागीण विकास करता था।

आश्रम व्यवस्था का आधार ब्रह्मचर्य

मानव जीवन को सुसंस्कृत, सुसंगठित और सुव्यवस्थित बनाने हेतु उनकी कार्यपद्धतियों का समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर मूलभूत आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए मानवीय कर्त्तव्यों का विभाजन विभिन्न आश्रमो के आधार पर किया गया था। यह मानसिक एवं नैतिक व्यवस्था थी, जिसके माध्यम से व्यक्ति अपनी आयु के विभिन्न स्तरों पर मनःकृत और नीतिकृत विविध कर्मो और दायित्वों को सम्पन्न करते हुए अग्रिम जीवन के सुखद होने की कामना करता था। प्राचीन शिक्षाविदों ने जीवन को एकमात्र भोग्य रूप में स्वीकार न कर उसे नैतिक कर्म, कर्त्तव्यपरायणता, बौद्धिकता,

धार्मिकता और आध्यात्मिकता क़ा समष्टि रूप में स्वीकार किया था। पुरूषार्थ की अवधारणा आश्रमो के अन्तर्गत स्वीकार्य थी तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति आश्रमो के समन्वय से ही सभव थी। ज्ञान, कर्त्तव्य, त्याग और आध्यात्म के आधार पर सम्पूर्ण जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास चार आश्रमो मे विभाजित कर जीवन के वास्तविक लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करना ही प्राचीन शिक्षको का ध्येय था।

'आश्रम' शब्द संस्कृत की 'श्रम' धातु से बना है, जिसका तात्पर्य उद्योग, प्रयास और प्रयत्न है। इसके अंतर्गत मनुष्य अपने जीवन की सपूर्ण यात्रा को स्वाभाविक रूप मे पूर्ण करता था। ब्रह्मचर्य आश्रम मे वह ज्ञान–विज्ञान से परिचित होकर अपना बौद्धिक, शारीरिक, मानसिक एवं चारित्रिक विकास करता था। प्रत्येक व्यक्ति के लिये ज्ञानवान् और बुद्धिमान होना तथा शारीरिक रूप से पुष्ट होना आवश्यक माना गया था। क्योंकि तभी वह गृहस्थ जीवन का वास्तविक सुख प्राप्त कर सकता था। समस्त सामाजिक और धार्मिक कार्य गृहस्थ आश्रम में सम्पादित होते थे। त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) की प्राप्ति गृहस्थ आश्रम में स्वीकार की गई थी। एक सच्चे गृहस्थ के लिये गृहस्थ धर्म का पालन करना अनिवार्य था। वानप्रस्थ आश्रम सांसारिकता और भौतिकता से मुक्त होकर एकान्त जीवन व्यतीत करने हेतु प्रेरित करता था, जो पारलौकिक एवं आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति हेतु एक अभ्यास था। चौथा और अंतिम सन्यास आश्रम था, जिसका उद्देश्य ब्रह्म अथवा मोक्ष की प्राप्ति था। इस प्रकार आश्रमिक व्यवस्था के अंतर्गत पुरूषार्थ करने से व्यक्ति स्वतः मोक्ष की प्राप्ति हेतु उत्प्रेरित होता था।[141]

जीवन को परिष्कृत, सुसंस्कृत और धर्मनिष्ठ बनाने हेतु सोलह प्रकार के सस्कार का विधान मिलता है, जिसे सम्पन्न कर व्यक्ति सामाजिक प्रतिष्ठा को प्राप्त करता था तथा आध्यात्मिक जीवन की ओर अग्रसर होता था। अधिकांश संस्कारों की नियोजना गृहस्थ आश्रम में थी।

आश्रमिक जीवन का व्यवस्थित स्वरूप उत्तर-वैदिक काल से मिलने लगता है। ब्रह्मचारी शब्द का प्रयोग अनेक स्थानो पर हुआ है, जबकि 'यति' शब्द जिसका तात्पर्य सन्यासी से था, दो तीन स्थानों पर हुआ है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ और यति (मुनि) शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में मिलता है।[142] किन्तु, मानव जीवन को चार भागों में विभाजित करने का सन्दर्भ उत्तर-वैदिक कालीन साहित्यों में मिलता है।[143] उपनिषद साहित्य में भी आश्रम सूचक शब्दों का प्रयोग हुआ है। वृहदारण्यक उपनिषद् मे याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहता है कि अब मै गृहस्थ जीवन से प्रव्रज्या ग्रहण करने जा रहा हूँ।[144] जाबालोपषिद मे सभी आश्रमों का उल्लेख मिलता है। याज्ञवल्क्य ने जनक को विभिन्न आश्रमों की व्याख्या कर उसकी महत्ता बतायी थी।[145] स्पष्ट है कि उपनिषद् काल तक आश्रम व्यवस्था की जड मजबूत हो चुकी थी, और सूत्र एव स्मृति काल तक वह पूर्ण प्रतिष्ठा को प्राप्त हुई।

महाभारत[146] और पुराण साहित्य मे इसका उद्‌भव ब्रह्मा से मानकर दैवी अभिव्यक्ति दी गयी है, जिससे लोगो की अभिरूचि इसे स्वीकार करने में हो। पुराण साहित्य में वर्णित है कि आश्रमों का चिंतन इसलिए किया गया कि समाज के प्रत्येक सदस्य अपने-अपने कर्मो को निष्ठापूर्वक संपादित कर सके।[147] ऐसा उल्लेख मिलता है कि आश्रम धर्म का पालन करने वालों को परलोक की प्राप्ति होती है।[148] धर्मसाहित्य मे चारो आश्रमों का स्पष्ट वर्णन मिलता है।[149] कुछ स्मृतिकारों ने 'सन्यास' के लिये 'परिव्राजक' का व्यवहार किया है।[150] पतंजलि ने चारों आश्रमों को ''चतुराश्रम्य'' कहा है।[151] मनु ने ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी और यति शब्द का उल्लेख किया है।[152] ब्राह्मणों के लिये चारो आश्रमों का पालन आवश्यक था।[153] अन्य तीन वर्णों के लिये प्रथम तीन आश्रमों का विधान मिलता था। इस प्रकार विद्या के लिये ब्रह्मचर्य, सभी के लिए गृहस्थ इंद्रिय दमन के लिये वानप्रस्थ और मोक्ष के लिये सन्यास आश्रम का विधान था। इससे मानव जीवन संतुलित और अनुशासित होता तथा उसका स्वाभाविक विकास होता था।

शिक्षार्थी एवं ब्रह्मचर्य आश्रम

ब्रह्मचर्य शब्द 'ब्रह्म' और 'चर्य' दो प्रत्ययो से मिल्कर बना है। ब्रह्म का अर्थ है 'वेद' और चर्य का अर्थ है 'विचरण करना'। अर्थात् बह्म के मार्ग पर चलना या ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति। ब्रह्मचर्य का तात्पर्य केवल इंद्रिय निग्रह नहीं था, बल्कि इसके साथ वेदाध्ययन भी सम्मिलित था। इस प्रकार ज्ञान प्राप्ति के साथ ही साथ बौद्धिक, नैतिक और शारीरिक विकास ब्रह्मचर्य के अनुपालन से ही सभव था। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार, पूर्ण ब्रह्मचर्य से प्रबल बौद्धिक एवं आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न होती है और वासनाओं को वश में कर लेने से उत्कृष्ट फल की प्राप्ति होती है।[154] श्री अरविन्द के शब्दों में भौतिक तत्व का आध्यात्मिक तत्व में उत्कर्षण ही ब्रह्मचर्य है।[155] उपनिषद् काल मे ब्रह्मज्ञान की प्रतिष्ठा अधिक होने के कारण सयम–नियम, तप–त्याग की भावना के अनन्तर ब्रह्मचर्य का महत्व अधिक था।

महाभारत से विदित होता है कि ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करने वाले शिक्षार्थियों को अपनी आतरिक एवं वाह्य शुद्धि हेतु विभिन्न संस्कारों, व्रतों सध्योपासना, सूर्योपासना, अग्निहोत्र, गुरू प्रणाम, वेदों का श्रवण एवं स्मरण तीनों समय स्नान, ध्यान, नित्य भिक्षा मांगकर उसे गुरू–सेवा मे अर्पित करना तथा गुरू के हर आदेश को मानते हुए स्वाध्याय आदि के लिए तत्पर रहना आवश्यक था।[156]

उपनयन संस्कार के उपरान्त छात्र का ब्रह्मचर्य जीवन प्रारम्भ होता था। उपनयन शब्द 'उप' और 'नयन' प्रत्यय से मिलकर बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ है, समीप ले जान्ना। इस संस्कार के द्वारा प्रत्येक ब्रह्मचारी को गुरू के सन्निकट लाया जाता था[157] और वह शिक्षा पाने का अधिकारी हो जाता था।[158] द्विज का अर्थ है, दुबारा जन्म लेने वाला, जो उपनयनोपरान्त संभव था। इसके उपरान्त वह धार्मिक कार्य सम्पादित करने योग्य बन जाता था।[159] उसका

कठोर और अनुशासित जीवन प्रारम्भ होता था। शूद्र वर्ण के शिक्षार्थी इस संस्कार से वंचित थे। आपस्तम्ब धर्मसूत्र मे ब्राह्मण को बसन्त ऋतु में, क्षत्रिय को ग्रीष्म ऋतु में और वैश्य को शरद् ऋतु मे 'उपनयन संस्कार का निर्देश मिलता है।[160] तीनों वर्ण के शिक्षार्थियो के लिये अलग–अलग मत्रो का विधान मिलता है– ब्राह्मण के लिये 'गायत्री मत्र', क्षत्रिय के लिए 'त्रिष्टुभ मंत्र' और वैश्य के लिए 'जगती मंत्र' स्वीकार्य था।[161] इस प्रकार द्विज वर्ण के शिक्षार्थी उपनयन के अधिकारी थे[162] और इसके उपरान्त उनका ब्रह्मचर्य जीवन प्रारम्भ होता था।[163] उपनयनच्युत व्यक्ति न तो द्विज वर्ण के माने जाते थे और न उस जाति के सदस्य, जिसमे वे जन्म लेते थे। इससे प्राचीन शिक्षा की अनिवार्यता का पता चलता है, जो द्विज वर्ण के शिक्षार्थियो के लिए आवश्यक था।

प्रारम्भ में स्त्रियों का भी उपनयन संस्कार होता था और वे भी ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए उच्च शिक्षा प्राप्त करती थी। शिक्षा समाप्ति के उपरान्त उनका समावर्तन सस्कार भी होता था।[164] विवाह के समय यज्ञोपवीत धारण करने का[165] निर्देश उपनयन संस्कार की अनिवार्यता को रेखांकित करता है।

प्रत्येक ब्रह्मचारी को यज्ञोपवीत धारण करने का निर्देश था[166] जिसके अंतर्गत उसे मेखला और दण्ड भी धारण करना पड़ता था। विभिन्न वर्णो के ब्रह्मचारी अलग–अलग मेखला धारण करते थे। ब्राह्मण मुंज की, क्षत्रिय अयस खंड से युक्त मुंज की तथा वैश्य ऊन की मेखला धारण करते थे।[167] प्रत्येक ब्रह्मचारी उत्तरीय (उर्ध्ववस्त्र) एवं वास (अधोवस्त्र) नामक वस्त्र धारण करते थे। ब्राह्मण का उत्तरीय अजिन का, क्षत्रिय का रीख का और वैश्य का गोचर्म का होता था।[168]

इस प्रकार प्राचीन शिक्षार्थी उपनयन के अनन्तर ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए गुरू के सन्निध्य में रहकर विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करते थे।[169] गुरूकुल का वातावरण अत्यंत निरापद, शांत और एकांत होता था, जहाँ उनका शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, चारित्रिक और आध्यात्मिक उत्थान होता

था। सयमित और अनुशासित जीवन से उसका भावी जीवन सुनियोजित होता था। सदाचार और इंद्रिय नियंत्रण से उसकी तामसिक वृत्तियो का नाश होता था तथा भ्रमित इंद्रियॉ वश में होती थी। शरीर मन और मस्तिष्क का संतुलित विकास भावी जीवन की मजबूत नींव तैयार करती थी। स्पष्ट है कि अन्य आश्रमों की सफलता ब्रह्मचर्य जीवन की सफलता पर अवलम्बित थी।

शिक्षार्थी के प्रकार

शिक्षार्थियों की उत्तम, मध्यम एवं कनिष्ठ तीन श्रेणियॉ थीं।[170] कुछ छात्र पढने के साथ—साथ आचरण और व्यवहार मे भी उत्तम होते थे। जबकि, कुछ मध्यम एवं कुछ अत्यन्त मंद बुद्धि के होते थे। 'उपकुर्वाण' एवं 'नैष्ठिक' दो प्रकार के छात्रों का उल्लेख मिलता है। उपकुर्वाण शिक्षर्थियों में तीन प्रकार के स्नातक होते थे— 'वेद स्नातक', 'व्रत स्नातक' एवं 'वेद व्रत स्नातक'[171]। ये सभी स्नातक कुछ वर्षो तक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त यथाशक्ति गुरूदक्षिणा अर्पित कर गृहस्थ जीवन में प्रवेश कर जाते थे।[172] लेकिन, वे शिक्षार्थी जो आजीवन गुरूकुलों में रहकर ब्रह्मचारी बने रहते थे, 'नैष्ठिक ब्रह्मचारी' कहलाते थे। साधारणतया वे आठ वर्ष की अवस्था में उपवीत होकर 48 वर्ष की अवस्था तक ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए शिक्षार्थी बने रहते थे, किन्तु कुछ ऐसे भी नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे, जो जीवनपर्यन्त ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए अध्ययनरत रहते थे।[173] नैष्ठिक का अर्थ है, जीवन पर्यन्त ब्रह्मज्ञान के निमित्त ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाला। इन्हें 'बृहद्व्रतधारी' भी कहा जाता था। ऐसी मान्यता थी कि इनका 'पुनर्जन्म' नहीं होता।[174] उपनिषद् काल में ऐसे ब्रह्मचरियों की संख्या अधिक थी। महर्षि कण्व, ऐसे ही नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे, जो कालान्तर में शिक्षक धर्म का निर्वहन करने लगे थे। हारीत के अनुसार, जो न तो कभी विवाह करता था और न ही सन्यास लेता था, बल्कि अतिन्द्रिय होकर वह शरीर त्याग करता था और पुनर्जन्म से मुक्त हो जाता था,[175] 'नैष्ठिक ब्रह्मचारी' कहलाता था। प्रारम्भ में स्त्रियों के लिये भी नैष्ठिक ब्रह्मचर्य विहित था।

महर्षि पाणिनि ने दो प्रकार के छात्रों का उल्लेख किया है– 'दण्ड मानव' और 'अन्तेवासी'।[176] दण्डमानव छात्र उपनयन के उपरान्त आचार्य के पास जाते थे, जबकि अन्तेवासी छात्र प्रारम्भ से ही आचार्य के सान्निध्य रहते थे। इस प्रकार जो शिक्षार्थी प्रारम्भ से ही गुरूकुलों मे रहकर शिक्षा प्राप्त करते थे, 'अन्तेवासी' कहलाते थे।[177] इत्सिंग के अनुसार 'माणव' और 'ब्रह्मचारी' शिक्षार्थियों के दो वर्ग थे। वे शिक्षार्थी जो भविष्य में संघ की दीक्षा लेते थे, माणव कहलाते थे, लेकिन वे शिक्षार्थी जो प्रव्रजित होना ही नही चाहते थे, ब्रह्मचारी कहलाते थे।[178]

विषय विशेष में दक्षता प्राप्त करने वाले शिक्षार्थियो को शिक्षावधि के अनुसार उन्हें द्वादश वार्षिक, वार्षिक, मासिक और अर्धमासिक ब्रह्मचारी कहा जाता था। ऋचा अथवा शास्त्र आदि का विशेषाध्ययन करने वाले शिक्षार्थी को उसी नाम से सम्बोधित किया जाता था; जैसे–पांच महानाम्नी संज्ञक ऋचाओं का अध्ययन करने वाला शिक्षार्थी, 'महानाम्नी' संज्ञा से संबोधित किया जाता था। उसका व्रत भी 'महानाम्नी' सज्ञा से ही अभिहित किया जाता था।[179] आदित्य सम (जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण) को 'व्रत ब्रह्मचारी' की संज्ञा से संबोधित किया जाता था।

स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में शिक्षार्थियों की कई श्रेणियाँ थीं, जिन्हें विभिन्न नामों से संबोधित किया जाता था। वे अभिलषित विषयों की शिक्षा प्राप्त कर अपना नैतिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास करते थे। लेकिन, सच्चा ब्रह्मचारी उसे माना जाता था, जो नैतिक आचरण करता हुआ गुरू सेवा में रत रहता था तथा दुर्लभ ज्ञान को प्राप्त कर अद्वितीय फल की आशा करता था।[180] एक गुरू के सान्निध्य में रहकर शिक्षा प्राप्त करने वाले शिक्षार्थी 'सतीर्थ्य' कहलाते थे।[181]

शिक्षार्थी की योग्यता

शिक्षार्थी को निष्ठावान् और जिज्ञासु होना परम आवश्यक था। चूँकि, शिष्यत्व का आधार योग्यता होता था, अत शिक्षार्थी में विशिष्ट गुण का होना आवश्यक था। निरुक्त मे वर्णित है कि जो नम्रता के विशिष्ट गुण को स्वीकार नही करता, उन्हें शिष्य के रूप में स्वीकार नही किया जा सकता।[182] स्पष्ट है कि योग्य, बुद्धिमान, निष्ठावान, सहिष्णु, उदार, जिज्ञासु, चरित्रवान एवं परिश्रमी होना उनके लिए आवश्यक था। मनु के अनुसार सेवा करने वाला, धर्मात्मा, पवित्र, ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ, धन प्रदान करने वाला, स्वजातीय एवं हिताभिलाषी आदि गुणो से युक्त छात्र शिक्षा के योग्य थे।[183] सदाचारी, प्रतिभावान और सुयोग्य शिष्य का चयन आचार्य की योग्यता का द्योतक था।[184]

विद्यारम्भ से पूर्व शिष्य को प्रायः एक वर्ष तक गुरू के सान्निध्य में रहना पडता था। नचिकेता का सम्यक् परीक्षा लेने के उपरान्त ही यमाचार्य ने उससे कहा था कि "हे ब्रह्मन तुम्हे नमस्कार। तेरा कल्याण हो। तुम आदर योग्य अतिथि होकर भी मेरे घर में तीन रात्रि तक बिना भोजन के रहे। अतः प्रत्येक रात्रि के लिये मुझसे तीन वर मांग लो।" इसके बाद ही यमाचार्य ने उसे उपदेश दिया था।[185] कच के शील एवं स्वभाव से भली–भॉति संतुष्ट होने के उपरान्त ही आचार्य शुक्राचार्य ने उसे अपना शिष्यत्व स्वीकार किया था।[186] कृष्ण और बलराम के आचरण से संतुष्ट होने के उपरान्त ही आचार्य सन्दीपनि ने उन्हें वेद–शास्त्र का ज्ञान कराया था।[187] स्पष्ट है कि शिक्षार्थी की योग्यता से संतुष्ट होने के उपरान्त ही आचार्य उसे शिष्य के रूप में स्वीकार करते थे। मनु का कथन है कि जिस शिष्य में धर्म न हो अथवा सेवाभाव का संस्कार न हो उसे ऊसर समझकर विद्यारूपी बीज का दान नहीं करना चाहिए।[188] उसका आचरण, व्यवहार और सच्चरित्रता ही उसके शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक विकास में सहायक बनता था। गुरू–सेवा के अन्तर्गत गुरू–पुत्र की सेवा का भी विधान

था। उसे भी गुरू सदृश मानकर उसके उच्छिष्ट भोजन और पाद–संवाहण को सर्वथा उचित माना गया था।[189] उसकी योग्यता और तपश्चर्या इंद्रिय–निग्रह मे सम्मिलित थी। वह अपने इंद्रियो पर नियंत्रण कर तप के नियमों का पालन करता था।[190] इस प्रकार वह गुरू का स्नेहिल व्यवहार और सामीप्य का सुख प्राप्त करता हुआ उनके प्रति उत्सर्जित भाव से क्रियानिष्ठ रहता था। उदारता, विनम्रता, सहनशीलता, प्रतिभा, जिज्ञासा, इद्रिय निग्रह, शील, संयम, तप आदि उसके गुण थे, जो उसके उत्कर्ष में सहायक होते थे।

शिक्षा प्राप्ति में जाति भेद

वैदिक एवं उपनिषद् काल में शिष्यत्व प्राप्ति हेतु जाति का कोई स्थान नही था। शिष्य की योग्यता, विनम्रता एवं ग्राह्यता को शिष्यत्व का आधार स्वीकार किया जाता था। विद्वान ब्राह्मण भी अध्यात्म लाभ के निमित्त क्षत्रिय आचार्यो के पास जाते थे और उनका शिष्यत्व स्वीकार करते थे। चूँकि, आलोच्यकाल में अध्यात्म विद्या के ज्ञाता क्षत्रिय आचार्य थे। अतः उसमें पारंगत होने हेतु बिद्वान ब्राह्मणों को भी उनके पास जाना पडता था। उपनिषद् साहित्य से ज्ञात होता है कि सत्यकाम जाबाल अपने समय का महान विद्वान था। उसके कुल मे शिक्षण–कार्य नियमपूर्वक सम्पन्न होता था।[191] अपने बाल्यकाल मे शिक्षा प्राप्ति के निमित्त, जब वह हरिद्रुमत गौतम के आश्रम मे गया, तब आचार्य ने उसे अपना शिष्यत्व स्वीकार करने से पूर्व उसका गोत्र पूछा, तो उसने अपने को सत्यकाम जाबाल बताया। जाबाल उसकी मॉ का नाम था और सत्यकाम उसका अपना नाम। उसे अपने पिता के विषय मे ज्ञात नही था, क्योंकि यौवनावस्था में जब उसकी मॉ परिचारिणी के रूप में काम कर रही थी, तब वह पैदा हुआ था। उसकी मॉ को भी पता नहीं था कि वह किस गोत्र का है। अतएव, वह सत्यकाम को परामर्श दी कि वे अपने नाम के साथ, उसका भी नाम जोड़ ले। आचार्य उसके इस सत्य वचन पर प्रसन्न होकर निर्देशित किया कि होमार्थ समिधा ले

आओ मै तुम्हे उपनयन से सस्कारित कर, आचार्य–कुल का वासी बनाऊँगा। तुम्हारा यह गुण अद्वितीय है जो तुम सत्य से विचलित नहीं हुए।[192] कैकेय नरेश अश्वपति से ब्रह्मविद्या की शिक्षा प्राप्त करने वालों में उद्दालक आरूणि भी थे, जो जन्मना ब्राह्मण थे।[193] पांचाल नरेश प्रवाहण जैबलि से ब्रह्म विद्या प्राप्त किये बिना वापस लौटने पर श्वेतकेतु के इस व्यवहार से कुपित पिता आरूणि ने स्वय वहॉ जाकर पचाग्नि विद्या सीखने का निश्चय किया था। आचार्य प्रवाहण ने आरूणि का स्वागत करते हुए, उसे पंचाग्नि विद्या की शिक्षा दी थी[194] उद्दालक आरूणि के साथ शिलक और दालभ्य जैसे कई विद्वान ब्राह्मण भी गये थे और आचार्य प्रवाहण से ब्रह्म विषयक् शिक्षा प्राप्त कर उसमे पारगत हुए थे। विख्यात् दार्शनिक गार्ग्य बालाकि, जो जन्मना ब्राह्मण थे, काशी नरेश अजातशत्रु से ब्रह्मविषयक शिक्षा प्राप्त कर विद्वान बने थे।[195] ब्रह्मर्षि नारद भी क्षत्रिय आचार्य सनत्कुमार से ब्रह्मविषयक् शिक्षा प्राप्त कर उसमे दक्ष बने थे, जबकि वे स्वयं कई विषयों के ज्ञाता थे। क्षत्रिय शासक जानश्रुति पौत्रायण के यहॉ ब्रह्मविद्या के निमित्त दूर–दूर से शिक्षार्थी आते थे। राजा वृहद्रथ के यहाँ भी कई विद्वान ब्राह्मण रहस्य एवं अध्यात्म विद्या के उद्देश्य से निवास करते थे।[196] विश्वमित्र, वाल्मीकि, व्यास, कण्व, भारद्वाज, श्रृंगी आदि विद्वान जन्मना ब्राह्मण नहीं थे, फिर भी अपने ज्ञान के कारण ब्रह्मर्षि कहलाए।

उपनिषद् साहित्य से ज्ञात होता है कि विरोचन नामक असुर 32 वर्ष तक ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए आचार्य प्रजापति के सान्निध्य में विद्या लाभ प्राप्त किया था। तत्कालीन साक्ष्यों से विदित होता है कि सूत्रकाल तक शूद्र वर्ण के शिक्षार्थी भी ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए वैदिक शिक्षा प्राप्त करते थे तथा उनका भी समावर्तन संस्कार होता था।[197] किन्तु, स्मृतिकाल से उनकी वैदिक शिक्षा प्रतिबंधित होने लगी और वे अपने पैतृक व्यवसाय से सम्बन्धित विषयों को ही शिक्षा प्राप्त करने लगे। जातक साहित्य से विदित होता है कि अनेक शूद्र भी उच्चकोटि के विद्वान थे। आचार्य शुक्राचार्य असुरों के गुरू थे। सुत्तनिपात के अनुसार, मातंग नामक चांडाल ख्यातिलब्ध विद्वान था, जिसके

यहाँ दूर–दूर से उच्च वर्णीय शिक्षार्थी शिक्षा प्राप्ति के निमित्त आते थे।[198] बौद्धकाल मे अन्य वर्णो की भॉति उन्हे भी शिष्य रूप में स्वीकार किया जाता था। बुद्ध के अनेक शिष्य जन्मना शूद्र थे। उपालि और सुनीति जन्मना नापित थे। हरिकेशबल जाति से चांडाल थे, किन्तु अपने ज्ञान एवं व्यवहार के कारण ऋषि के रूप मे ख्यात थे।[199] रामायण और महाभारत साहित्य से ज्ञात होता है कि अन्य वर्णो की भांति शूद्र वर्ण के जिज्ञासु शिक्षार्थी भी स्वाध्याय करते थे तथा समाज में उनकी स्थिति अच्छी थी। विदुर और वाल्मीकि इसके जीवंत उदाहरण है। द्विजवर्ण के छात्रों को 'वर्णी' कहा जाता था।[200] यद्यपि समय–समय पर शैक्षिक पाठ्यक्रमों का स्वरूप परिवर्तित होता रहा, और उसकी शिक्षा सभी वर्ण के शिक्षार्थी प्राप्त करते रहे। किन्तु, उत्तरकाल मे धर्म, दर्शन एवं अध्यात्म पर एकमात्र अधिकार ब्राह्मणों का बना रहा। वैदिक शिक्षा से न केवल स्त्रियों को वचित कर दिया गया, बल्कि शूद्र वर्ण के शिक्षार्थी भी उच्च शिक्षा से वंचित होते गये। उन्हे बौद्ध साहित्य एवं व्यवसायिक पाठ्यक्रमो की शिक्षा प्राप्त कर ही सतोष करना पडा।

छात्र जीवन में सदाचार

प्राचीन शिक्षाविद्ों की यह अवधारणा थी कि शिक्षार्थी का जीवन शिष्टाचार, मर्यादा और आत्मसंयम से पूर्ण हो। अत. छात्र जीवन में पवित्रता की भावना विकसित करने हेतु संध्या–वंदन और हवन आदि का विधान था। गुरू के प्रति आदर और सम्मान का भाव प्रदर्शित करने पर बल दिया जाता था, जिससे प्रत्येक शिक्षार्थी में शिष्टाचार एवं सदाचार का भाव विकसित हो। उन्हें असत्य भाषण, गाली–गलौज, चुगलखोरी और निन्दा आदि कार्यों से दूर रहने की शिक्षा दी जाती थी। शिक्षाविदों का यह विचार था कि कामनाओं के दमन से ही मन और चरित्र दृढ होता है।[201] चूँकि, युवावस्था में मांस, मिष्ठान भोजन, वस्त्र और आभूषण आदि के प्रति आकर्षण का भाव रहता है और इससे काम वासना

उद्दीप्त होती है। अतः ब्रह्मचारियो के लिये इसका उपयोग वर्जित था। गुरूकुलवासी राजकुमारो को भी अपने पास धन रखने की अनुमति नही थी। वे न तो इन वस्तुओ को खरीद सकते थे और न अपने पास रख सकते थे।[202] छात्र जीवन का आदर्श जीवन में सादगी और विचारों की उदात्तता था। प्रत्येक शिक्षार्थी को या तो अपने बाल मुडाने पडते थे या उन्हें जटा रखनी पडती थी, जिससे केश प्रसाधन या तैल–लेप मे समय न नष्ट हो। प्रातःकाल स्नान करना अनिवार्य था। जूता, छाता या खाट का इस्तेमाल उनके लिये वर्जित था। भोजन और वस्त्र की सादगी पर विशेष ध्यान दिया जाता था। चूँकि, बाल्य और युवावस्था चरित्र निर्माण का काल होता है, अतः प्राचीन शिक्षाविदों ने इसका विशेष ध्यान रखा था। नियमित अध्ययन करना दत्तचित्त होकर व्याख्यान सुनना और प्रतिदिन पाठ याद करना उसका दैनिक कार्य था।

धर्माचरण से सम्बन्धित कार्य–व्यवहार का पालन कडाई से किया जाता था। यद्यपि, सामान्य नियमो मे आवश्यकतानुसार छूट संभव थी। दृष्टान्तस्वरूप स्पार्टा की भांति प्राचीन भारत मे जूते और छाते के प्रयोग के सम्बन्ध में कठोर कडाई नही बरती जाती थी। ऐसे नियमों का अभिप्राय यह था कि छात्र इतना कोमल न हो जाय कि गॉव और नगर की सडको पर बिना जूते के चल न सके।[203] यद्यपि, जंगलों से यज्ञीय समिधा चुनने तथा उत्तरी भारत की मरूभूमि को पार कर अध्ययन के निमित्त तक्षशिला जाने वाले शिक्षार्थियों को जूते और छाते के उपयोग की अनुमति थी।[204] श्राद्ध जैसे धार्मिक अवसरों पर मिष्ठानादि खाने की छूट थी। केश मुंडन के उपरान्त एकाध बार तेल का उपयोग [205] तथा मच्छर और सर्प प्रभावित क्षेत्रो में खाट पर शयन की अनुमति थी।

स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में शैक्षिक नियमों का ध्येय छात्र जीवन में पवित्रता का संचार करना, उन्हें शिष्टाचार की शिक्षा देना और आत्मसंयम के माध्यम से वासनाओ को रोकना था। वासना दमन का तात्पर्य उसका निर्मूलन नहीं था। ब्रह्मचर्य व्रत पर बल इसलिए दिया जाता था, ताकि छात्र एकाग्र मन से अध्ययन करते हुए तन एवं मन दोनों का समुचित विकास कर उसे स्वस्थ

बना सके। ब्रह्मचर्य जीवन के उपरान्त प्रत्येक शिक्षार्थी को गृहस्थ जीवन मे प्रवेश की अनुमति थी। स्पार्टा में शिक्षार्थियों को सादा भोजन और अल्पाहार की सलाह दी जाती थी, लेकिन प्राचीन भारत मे भोजन की सादगी और उसकी पवित्रता पर जोर दिया जाता था। चूँकि, प्राचीन शिक्षाविद इस मत के थे कि बाल्य और युवावस्था ही शारीरिक विकास और गठन का उपयुक्त समय होता है, अतः उन्होंने शारीरिक आवश्यकता के अनुसार ही भोजन करने का निर्देश दिया था। जहॉ तक भिक्षावृत्ति का प्रश्न है, इसके पीछे एक महान् सामाजिक उद्देश्य छिपा हुआ था कि निर्धनतम छात्र भी अपनी योग्यतानुसार विद्याध्ययन कर सके। अमीरी के कारण किसी छात्र मे अहंकार की भावना का सचार न हो और निर्धनता के कारण किसी छात्र मे हीन भावना का विकास न हो। इससे सभी वर्ण के छात्रो मे सामाजिक दायित्व और सामाजिकता की भावना का विकास होता था। चूँकि, निर्धन छात्र कोई शुल्क नही देते थे, अतः उन्हें पढाई के साथ–साथ गुरूकुल के आवश्यक कार्य भी करने पडते थे, जिसका सम्बन्ध दैनिक जीवन से होता था। जबकि, अन्य शिक्षार्थी सर्वथा ऐसे कार्यो से मुक्त रहते थे। यह आवश्यक नहीं था कि गुरूकुल के दैनिक कार्य निर्धनतम छात्र ही करे।

यह एक वैज्ञानिक सच है कि जो व्यक्ति अत्यधिक संघर्षशील होता है, चाहे उसका संघर्ष शारीरिक हो या मानसिक, उस व्यक्ति का शरीर उतना ही बलवान और मस्तिष्क उतनी ही प्रखर व पुष्ट होती है। प्राचीन शिक्षाविदों ने सदाचार के जो नियम बनाए थे, उसके पीछे दार्शनिक लॉक की भावना विद्यमान थी। उसका मानना था कि बच्चों की इच्छाओं का दमन शिक्षा प्रारम्भ करने से पूर्व ही कर देना चाहिए। किन्तु, प्राचीन शिक्षाविद् प्रत्येक बच्चे को 8–9 साल की अवस्था तक पूरी स्वतंत्रता देने के पक्ष में थे। तदुपरान्त, वे छात्र जीवन में सहज एवं सादगीपूर्ण तथा कठोर एवं अनुशासित जीवनके पक्षधर थे। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन उनके लिये अनिवार्य था।

अनुशासनहीन छात्रों के प्रति आचार्य का व्यवहार

मन्द, अशिष्ट, हठी और अनुशासनहीन छात्रों के सम्बन्ध में मनु का निर्देश है कि अपात्र शिष्य को गुरू द्वारा शिक्षा नही दी जानी चाहिए।[206] पाणिनि ने ऐसे छात्रो को 'तीर्थध्वांक्ष, तीर्थकाक' की संज्ञा दी है।[207] जो अपने तीर्थ या गुरू के प्रति कौए की तरह चंचल व्यवहार करे या गुरूकुल में पूरे समय तक निवास न कर शीघ्रतापूर्वक स्थान बदलता रहे, ऐसे हठी शिक्षार्थियों को या तो आचार्य अपने यहॉ से हटा देता था या प्रायश्चितस्वरूप उससे उपवास कराता था।[208] मनु ने ऐसे अनुशासनहीन छात्रों को समझाने की सलाह दी है तथा यह निर्देश दिया है कि अहिसायुक्त कल्याणार्थ उपदेश और मधुर वचन उससे बोलने चाहिए।[209] यदि इसके बाद भी उसके व्यवहार में कोई परिवर्तन नही होता है, तो उसे शारीरिक दण्ड देना चाहिए। गौतम ऐसे छात्रों को दण्ड देने की व्यवस्था देते है, लेकिन वे भी कठोर दण्ड के समर्थक नहीं थे। ऐसे छात्रों को प्रायः रज्जु अथवा छडी से दंडित किया जाता था।[210] जातक साहित्य से भी विदित होता है कि उद्दंड छात्रों के लिये कठोर दण्ड की व्यवस्था थी। काशी का एक राजकुमार तक्षशिला में अध्ययन कर रहा था, उसे चोरी की बुरी लत थी। अपने आचार्य द्वारा बार–बार मना करने पर भी वह चोरी करना नहीं छोड़ा। इस पर आचार्य ने क्रोधित होकर उसे शारीरिक दण्ड दिया था।[211] स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में अनुशासनहीन छात्रों के प्रति भी आचार्य का व्यवहार तब तक मृदुल होता था, जब तक वह सुधरने की स्थिति में रहता था, लेकिन सीमाओं का अतिक्रमण करने पर उसे कठोर शारीरिक दड दिया जाता था।

शिक्षार्थी की दिनचर्या

प्राचीन भारत में शैक्षिक पाठ्यक्रमों का स्वरूप काफी विस्तृत था और प्रत्येक शिक्षार्थी अपनी अभिरूचिनुसार विषयो का चयन कर विशेषाध्ययन करते

थे। अत· भिन्न—भिन्न विषय के शिक्षार्थियों की पृथक्—पृथक् दिनचर्या होती थी। धर्म और साहित्य के शिक्षार्थी प्रातः चार बजे उठ जाते थे।[212] नित्य—क्रिया से निवृत्त होने के उपरान्त वे स्नान—ध्यान मे लग जाते थे। वेदाध्ययन से सम्बद्ध शिक्षार्थी ब्रह्म मुहूर्त का अधिकाश समय हवनादि कार्यो के सम्पादन मे लगाते थे। ऐसा करने से उन्हे यज्ञों का व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त होता था। अन्य विषय के शिक्षार्थी स्नान—ध्यान के उपरान्त अपना अधिकांश समय नये पाठ को पढने और पुराने पाठ को दुहराने में लगाते थे। यह क्रम ग्यारह बजे तक चलता था, तदुपरान्त वे भोजन के लिये प्रस्थान करते थे। आचार्य के सान्निध्य में रहने वाले अतेवासियो को पका—पकाया भोजन मिल जाता था, जबकि अन्य छात्रों को भोजन एकत्र करने हेतु बस्ती में जाना पड़ता था। भोजनोपरान्त और अल्पविश्रामोपरान्त पुन· दो बजे से अध्ययन कार्य प्रारम्भ हो जाता था, जो शाम तक चलता था। जातक साहित्य से विदित होता है कि वे सांध्य बेला में यज्ञीय कार्य के लिए समिधादि एकत्र करने भी जाते थे।[213] किन्तु, समिधा एकत्र करने का कार्य केवल वैदिक शिक्षार्थी ही करते थे और वह भी आरंभिक काल में। शाम का अधिकांश समय व्यायामादि में व्यतीत होता था। सूर्यास्तोपरान्त संध्या—वंदन, हवन और फिर भोजन। निर्धन छात्र, जो दिन में आचार्य की गृहस्थी या उनके खेतों मे काम करते थे, रात्रि का अधिकांश समय अध्ययन में लगाते थे। मूर्तिकला, वास्तुकला, चित्रकला तथा काष्ठकला जैसे शिल्पों के शिक्षार्थी प्रायः दिन भर गुरू के सान्निध्य में रहकर विषय सम्बन्धी बारीकियों का सूक्ष्म और व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त करते थे। इस समय वे गुरू के कार्यो में सहयोग भी प्रदान करते थे। इससे उनका व्यवहारिक ज्ञान और दृढ होता था। इस प्रकार प्रत्येक छात्र को चाहे वह धर्म का शिक्षार्थी हो या शिल्प का, उसे ऐसे सांचे में ढाल दिया जाता था, जो उसके भावी जीवन का प्रतिरूप होता था।

शिक्षार्थी का कर्त्तव्य और उसका निष्ठाव्रत

प्राचीन भारत में प्रत्येक शिक्षार्थी अपने शिक्षक को आदर और सम्मान की दृष्टि से देखते थे। वह अपनी सौम्यता, शिष्टता, सदाशयता और गुण

सम्पन्न व्यवहार से गुरू को आकृष्ट करता था। अपने जीवन को अनुशासनात्मक और आदर्शात्मक बनाने हेतु वह नियम–संयम का दृढ़ता पूर्वक पालन करता था। माता–पिता और देवता की भॉति गुरू के प्रति आदर व सम्मान प्रदर्शित करना उसका परम कर्त्तव्य माना गया था।[214] सदाचार और शिष्टाचार के साथ अत्यन्त निष्ठापूर्वक गुरूकुल के नियमों का पालन करना, समय से उठकर आचार्य का अभिवादन करना, नीचे के आसन पर बैठना, भड़कीले वस्त्र, सुखासन और अलंकारों से अपने को दूर रखना, असत्य एवं अपशब्द संभाषण, वाद–विवाद और चुंगलखोरी जैसे दुर्गुणों से अपने को दूर रखते हुए गुरू द्वारा प्रदत्त दायित्वो का निष्ठापूर्वक निर्वहन करने के साथ–ही–साथ इंद्रिय निग्रह पर बल देना प्रत्येक छात्र का धर्म था। गुरू के प्रति उच्च सम्मान की भावना प्रदर्शित करने के साथ ही साथ बुद्ध[215] और आपस्तम्ब[216] जैसे मनीषी यह व्यवस्था देते हैं कि यदि आचार्य में किसी प्रकार की बुराई लक्षित हो, तो छात्र एकान्त में उसका ध्यान आकर्षित करे। यदि वह बुरे कार्यो में संलग्न हो तो उसे सम्मानपूर्वक रोके। धर्माचरण से च्युत हो जाने पर शिष्य उसकी आज्ञा न मानने के लिये स्वतंत्र था।[217] यदि शिष्य कोई पाप करता था तो उसके लिये आचार्य को ही दोषी समझा जाता था।[218]

ब्रह्मचर्य का पालन करना प्रत्येक शिक्षार्थी का धर्म था। ऐसी मान्यता थी कि इसका पालन करने वालों में तेजोमय ब्रह्म और देवता अधिवास करते है।[219] समिधा, मेखला, मृगचर्म और लम्बे बाल, इत्यादि धारण करने वाला श्रमशील एव तपस्वी ब्रह्मचारी लोगों को समुन्नत करता था।[220] यह उल्लेख मिलता है कि आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधियाँ, औषधियों से अन्न और अन्न से पुरूष उत्पन्न हुआ है।[221] अतः जिसे आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है, वह समस्त भोगों को प्राप्त कर लेता है।

आचार्य कुल में वह विद्यालाभ प्राप्त करते हुए भिक्षाटन, अग्नि परिचर्या और गोसेवा से सम्बन्धित कार्य भी करता था।[222] आचार्य के निर्देश पर जब वह

भिक्षावृत्ति अपनाता था, तब अपनी विनम्रता एवं सेवाभाव दर्शित करता था, जब वह समिधादान करता था, तब अपनी आत्मा और मन को तेजोमय ब्रह्मचर्य से दीप्त करता था तथा जब गोचारण करता था तब वह स्वच्छ वायु और सुन्दर प्रकृति में विचरण करते हुए वातातपिक जीवन जीता था।[223] इंद्रिय निग्रह और जप–तप प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिये अनिवार्य था। क्योकि, प्राचीन शिक्षाविदों की यह मान्यता थी कि यदि एक भी इंद्रियॉ विषयाक्त रहती है, तो उससे ब्रह्मचारी की बुद्धि उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जिस प्रकार चमड़े के बर्तन के एक छिद्र से समस्त पानी बहकर नष्ट हो जाता है।[224] मनु के अनुसार जो शिक्षार्थी नित्य प्रति सूर्योपासना और संध्योपासना तथा ध्यान और वंदन नही करता, उसे शूद्र की भॉति समझा जाना चाहिए।[225] अत. प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिये यह आवश्यक था कि वह प्रतिदिन सूर्योपासना और सध्योपासन कर्म करते हुए ध्यान और वदन कर स्नान करते समय जल क्रीडा से दूर रहे, अपने केशों को गुच्छा बनाकर रखे अथवा शिखायुक्त मुडन करवा ले, किसी स्त्री से संभाषण न करे, सूर्योदय से पूर्व स्नान–कर ध्यान ले, गुरू को सदैव 'भगवन', 'श्री' या 'आचार्य जी' कहकर संबोधित करे, अध्ययन प्रारम्भ करने से पूर्व आचार्य का पैर छूकर आशीर्वाद ले और हाथ जोडकर विनम्रतापूर्वक बैठ जाय, अध्ययन आरम्भ करने से पूर्व एवं समाप्त करते समय 'ओम्' शब्द का उच्चारण करें। इस प्रकार वह तन मन एवं वचन से अपने इंद्रियों को वश में करके गुरू की आज्ञा की प्रतीक्षा करता था। छात्र की कर्त्तव्यनिष्ठा के संबंध में आरूणि की कथा का दृष्टान्त प्रासंगिक है जिसके अनुसार एकबार आचार्य ने उसे खेत का मेंड़ बांधने के लिये भेजा, किन्तु जल के तीव्र प्रवाह के कारण जब वह मेड को बांधने में असफल रहा तब वह स्वयं उस स्थान पर लेट गया, जहॉ मेड की मरम्मत करनी थी। सूर्यास्तोपरान्त वापस न लौटने पर आचार्य की व्यग्रता बढ़ने लगी और वे उसे ढूँढते हुए उस स्थान तक जा पहुँचे जहाँ वह लेटा हुआ था। आरूणि को इस अवस्था में पाकर वे भाव विभोर हो उठे और उसे चलने के लिये कहा। आरूणि ने उठते ही आगे के कार्य के लिये आदेश मांगा जो उसकी कर्त्तव्य निष्ठा और

गुरू–भक्ति का परिचायक था। महाभारत में ऐसे अनेकों दृष्टान्त मिलते है। शिष्य इतंग ने अपनी अपार सेवा और विश्वास से आचार्य गौतम को इतना अधिक प्रसन्न एव अपने ऊपर निर्भर बना लिया था कि उसे अपने आचार्य से वृद्धावस्था मे भी मुक्ति नही मिली। एक दिन उसने अपने आचार्य से कहा कि वह गुरू सेवा में इतना अधिक तल्लीन रहा कि वह वृद्धावस्था का आना भी नहीं जान पाया और न ही जीवन के अन्य सुखों से परिचित हो सका।[226] ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि तत्कालीन शिक्षार्थी 12–12 वर्षो तक अपने आचार्यो के निर्देश पर उनकी गायें चराया करते थे। यह उनकी निष्ठाव्रत का ही परिचायक था।

दुपट्टे के बाहर अपना दाया हाथ किये हुए वे गुरु के समक्ष खड़े रहते थे और उनका आदेश मिलने पर ही बैठते थे। उनके उठने से पूर्व उठ जाते थे। न तो स्वयं कभी उनकी निन्दा करते थे और न ही उनकी निन्दा सुनना पसन्द करते थे। इस प्रकार अपने कार्य व्यवहार, आचरण, तप एवं व्रत से आचार्य को तृप्त करते थे।[227] समिधा आदि के लिए उन्हें दुर्गम जंगलों में भी जाना पड़ता था, लेकिन उन्हे जूते, छाते, रथ आदि के उपयोग की अनुमति नहीं थी।[228] यह व्यवस्था संभवतः इसलिए दी गयी थी, जिससे वे कठोर, परिश्रमी, सहनशील, अनुशासित एवं स्वावलम्बी बन सकें तथा हर परिस्थिति के लिए तैयार रहे। परिधान में वे मृग चर्म का प्रयोग करते थे, जो 'उत्तरीय' एवं 'वास' के रूप में होता था। वास को कटि प्रदेश के नीचे पहना जाता था। शयन कार्य हेतु कुश की चटाई का इस्तेमाल होता था, क्योंकि खाट पर सोना उनके लिये वर्जित था। वे विलम्ब से सोते थे तथा सबसे पहले जग जाते थे। इस प्रकार गुरुकुल में रहकर प्रत्येक छात्र न केवल संयम और नियम से परिचित होते थे,[229] बल्कि जितेन्द्रिय, आत्मविजयी, कर्तव्यपरायण, विनीत, शीलवान और प्रतिभा–सम्पन्न छात्र बनते थे।[230] उन्हें निष्ठा भाव से संयम–नियम का पालन करना पडता था।[231]

शिष्य अपने आचार्यो को ब्रह्मा की मूर्ति के समान समझते थे[232] और वे उसी रूप मे उनकी सेवा व अभिवादन कर उनका आशीर्वाद प्राप्त करते थे। संध्या, स्नान, जप, होम, स्वाध्याय और अतिथि पूजन जैसे षड् कर्मो के साथ ही साथ अपने आचार्यों के लिये नित्य जल, दातुन और आसन आदि की व्यवस्था करना भी उनका धर्म था।[233] इस प्रकार गुरु सेवा को अपना परम धर्म समझते हुए[234] उनके हित लाभ के लिये वे सर्वदा प्रयत्नशील रहते थे[235] तथा प्रत्येक प्रहर उनकी सेवा मे रत रहते हुए[236] अपने अभीष्ट (विद्या) की प्राप्ति में सफल होते थे।[237] ऐसा उल्लेख मिलता है कि वाण ने भी अपने गुरु की वदना की थी।[238]

आचार्य कुलों में निवास करने वाले छात्रो के पास प्रायः धन का अभाव रहता था। जातक साहित्य से विदित होता है कि शिक्षार्थी काशीकुमार से एक ब्राह्मण का भिक्षा पात्र टूट गया। इस पर उसे चिन्ता होने लगी कि उसे कैसे लौटाया जाय। उसने उस पात्र को लौटाने की प्रतिज्ञा की लेकिन, यह प्रतिज्ञा उसके घर लौटने पर ही पूरी हो सकी, क्योंकि उस समय उसके पास धन नहीं था।[239] यह छात्र जीवन की सादगी को रेखांकित करता है।

शिक्षक की सेवा शुश्रूषा

जिस प्रकार कोई पुत्र अपने पिता की और दास अपने स्वामी की सेवा करता है उसी प्रकार गुरू की सेवा करना प्रत्येक शिक्षार्थी का धर्म माना गया था।[240] प्रतिदिन समय से जल और दातुन पहुंचाना, उसका आसन लगाना और उठाना तथा स्नान के लिये जल की व्यवस्था करना शिष्य का परम कर्तव्य था।[241] आवश्यकता पड़ने पर आचार्य के बर्तन और वस्त्र भी साफ करने पड़ते थे[242] तथा छोटे मोटे अन्य कार्य भी करने पड़ते थे; जैसे कमरों की सफाई ईधन की व्यवस्था और पशुओं की देखभाल आदि। वैदिक काल के बाद इस परम्परा का और विकास हुआ।[243] दंत कथाओं से ज्ञात होता है कि कृष्ण जैसे

महापुरुष भी अपने छात्र जीवन में गुरु की सेवा करने में गौरवान्वित महसूस करते थे। इस प्रकार गुरू सेवा सभी के लिये अनिवार्य था, क्योंकि इसके बिना ज्ञान की पूर्णता संभव नहीं थी।[244]

यद्यपि, इसकी भी एक सीमा थी। छात्रों से ऐसा कोई काम नहीं लिया जाता था जिससे उसका अध्ययन कार्य बाधित हो। शुल्क देने वाले शिक्षार्थियो से ये कार्य नाममात्र को लिये जाते थे। किसी भी छात्र को शिक्षा देने से इंकार नहीं किया जा सकता था। अतः निर्धन छात्रों का शिष्यत्व महज सेवा के आधार पर ही स्वीकार किया जाता था। जातक साहित्य से विदित होता है कि तक्षशिला में जो छात्र गुरू–दक्षिणा अग्रिम चुका देते थे, उन्हें आचार्य के घरो में ज्येष्ठ पुत्र की भांति रहने की अनुमति थी तथा उनसे गृह सम्बन्धी कोई विशेष कार्य नहीं लिया जाता था। किन्तु, कृष्ण का दृष्टान्त इस बात का प्रमाण है कि प्रत्येक शिक्षार्थी आचार्य के हित लाभ के लिए सन्नद्ध रहते थे तथा उनसे हर तरह का सहयोग लिया जा सकता था। धम्मान्तेवासी' शब्द का उल्लेख इस बात का प्रमाण है कि शुल्क मुक्त शिक्षार्थी गुरू सेवा हेतु तत्पर रहते थे तथा गुरू द्वारा प्रदत्त कार्य को करना अपना नैतिक कर्त्तव्य समझते थे। इस प्रकार उनकी शिक्षा पूर्णतया गुरू सेवा पर ही आश्रित थी। श्रम के कारण उनका अध्ययन कार्य बाधित न हो, इसलिए रात्रि के समय उनके अध्ययन का प्रावधान था।[245] नालन्दा जैसे प्रसिद्ध बौद्ध शिक्षण केन्द्रों पर जहाँ विभिन्न विषयों की शिक्षा प्रदत्त की जाती थी, लौकिक विषयों का अध्ययन करने वाले शिक्षार्थियों से जो निःशुल्क भोजन और आवास की व्यवस्था चाहते थे, उनसे श्रम दान लिया जाता था।[246] किन्तु, समावर्तन एव प्रव्रज्यां संस्कार के उपरान्त किसी भी छात्र से सेवा लेने का कोई दृष्टान्त नहीं मिलता। ऐसा भी कोई उल्लेख नहीं मिलता कि कुलीन छात्र निर्धन छात्रों से सेवा लेते हो। इस प्रकार शिक्षार्थियों के मध्य एक–दूसरे की सेवा लेने का कोई प्रावधान नहीं था।[247] गुरू की सेवा करना ही प्रत्येक शिक्षार्थी का धर्म माना गया था।

शिक्षार्थियों के लिये भिक्षा का प्रयोजन

प्राचीन शिक्षाविदों नें ऐसा प्रावधान कर रखा था कि प्रत्येक शिक्षार्थी नियमित रूप से भिक्षाटन करे और जो कुछ भी उसे प्राप्त हो। गुरू की सेवा में लाकर अर्पित कर दे। इस प्रकार भिक्षा मागना प्रत्येक शिक्षार्थी का धर्म माना गया था। वैदिक काल से ही भिक्षा सम्बन्धी बहुतेरे उदाहरण मिलते है।[248] इस कार्य को वह नित्य सुबह–शाम सम्पन्न किया करता था।[249] मनु के अनुसार वह गुरू के कुल में, अपने कुल मे और अपने जाति समूह में जाकर भिक्षा नहीं मांगता था।[250] श्रेष्ठ और योग्य गृहपतियों के अभाव में वह मौन धारण कर महापातकियो को छोड़कर पूरे ग्राम से भिक्षा मांगता था।[251] दोपहर का समय भिक्षाटन के लिए वर्जित था।[252] क्योकि, यह समय प्रत्येक कार्य के लिए अपवित्र समझा जाता था। प्रायः प्रत्येक गृहस्थ आगन्तुक ब्रह्मचारियों को विभिन्न खाद्य सामग्री भिक्षा में देते थे,[253] जिसे वह सहर्ष स्वीकार करता था।[254] इस प्रकार प्रत्येक गृहस्थ का यह धर्म माना गया था कि वह आगन्तुक ब्रह्मचारी को भिक्षा प्रदान करे।[255] विष्णु के अनुसार ब्रह्मचारी यति और भिक्षु का जीवन प्रायः गृहस्थों पर ही निर्भर होता था।[256]

इस प्रकार भिक्षाटन की परम्परा से प्रत्येक जिज्ञासु शिक्षार्थी अपेक्षित शिक्षा प्राप्त करने में सफल होते थे। उन्हें विनय की शिक्षा मिलती थी तथा उनमें सामाजिकता की भावना का विकास होता था। इस परम्परा को हतोत्साहित करने वाली गृहिणियों से दान–हवन से प्राप्त पुण्य, प्रजा, पशु कुल की विद्या और धनादि वापस ले लेने का उल्लेख मिलता है। ब्रह्मचारियों के समूह को भिक्षा दिए बिना वापस लौटाना पाप समझा जाता था। इस कर्त्तव्य से विचलित होने वाले प्रत्येक गृहस्थ को दैवी कोप का भय दिखलाया गया था।[257] यह परम्परा गलत स्वरूप धारण न कर ले इसके लिए स्पष्ट निर्देश था कि प्रत्येक शिक्षार्थी उतनी ही भिक्षा मांगे जितनी उसे आवश्यकता हो। अधिक संचय होने की स्थिति मे उसे चोरी का पाप लगता था।[258] भिक्षा में प्राप्त अन्न, वस्त्रादि गुरू को सौप

देने का प्रावधान था।[259] ब्रह्मचर्य जीवन की समाप्ति के उपरान्त कोई भी स्नातक भिक्षा मागने का अधिकारी नहीं था।[260] अपवाद की स्थिति मे (गुरू दक्षिणा अर्पित करने के उद्देश्य से) भिक्षा में प्राप्त धन गुरू को सौप देने का प्रावधान था। यदि किन्ही कारणो से गुरू उसे लेने से इंकार कर दे तो उसे किसी धार्मिक कार्य मे सदुपयोग की व्यवस्था थी। लेकिन, स्नातक या उसका परिवार उस धन का उपयोग व्यक्तिगत कार्य के लिये नही कर सकते थे।[261] इस प्रकार गुरू दक्षिणा अर्पित कर देने के उपरान्त कोई भी स्नातक भिक्षा मांगने का अधिकारी नहीं था। द्रष्टव्य है कि मध्यकालीन यूरोप मे भी भिक्षाटन की परम्परा थी और शिक्षार्थियों का जीवन इसी पर आश्रित होता था।

विकास के क्रम में उत्तरकालीन शिक्षार्थियों के लिये यह एक अनिवार्य धर्म नहीं रहा। सभी छात्रों से इस नियम के अक्षरश· पालन की आशा नहीं की जाती थी। यदि कोई शिक्षार्थी सप्ताह मे एक बार भी भिक्षा मांग ले तो उसे कोई दोष नही लगता था।[262] इस प्रकार कुलीन छात्रों के लिये यह महज प्रतीकात्मक ही रहा।[263] किन्तु, निर्धन छात्रों से इसकी सम्यक पालन की अपेक्षा की जाती थी और यह उनके लिये एक अनिवार्य धर्म बना रहा।[264] नि·सन्देह, इस व्यवस्था के कारण छात्रो के अन्दर असमानता का भाव जागृत हुआ होगा। कुलीन छात्रों के लिये यहाँ तक व्यवस्था दी गयी कि यदि संभव हो तो वे आचार्य के घर पर ही भोजन करे।[265] इस परिवर्तन के पीछे तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक एव राजनैतिक परिस्थितियाँ सहायक रहीं। उस समय तक बौद्ध शिक्षा का विकास अपने चरमोत्कर्ष पर था और सम्बन्धित शिक्षण संस्थाएँ अपने छात्रों की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं करने लगी थीं। वस्तुतः गुरूकुलीय व्यवस्था के अन्तर्गत विकसित ब्राह्मण शिक्षण संस्थाएँ भी परिवर्तित व्यवस्था को आत्मसात करने लगी। परिणामतः भिक्षाटन की परम्परा को आघात लगना स्वाभाविक था। ऐसा उल्लेख मिलता है कि तक्षशिला मे अध्ययन करने वाले शिक्षार्थियों के लिये भोजन और आच्छादन की व्यवस्था आचार्य स्वयं करते थे। नालन्दा, सालोत्गी और एन्नायिरम् के सम्भ्रान्त व्यक्तियों द्वारा शिक्षण—संस्थाओं को पर्याप्त धन

उपलब्ध कराये जाने के कारण संस्थान के व्यवस्थापकों की ओर से प्रत्येक शिक्षार्थियो को निःशुल्क भोजन और आवास की व्यवस्था सुलभ करायी जाती थी। कभी—कभी दयालु एवं उदार जन स्वयं इसका प्रबंध कर देते थे, जैसे काशी मे छात्रों के लिये अन्न छत्र खुले हुए थे।[266] ऐसे संस्थानों के शिक्षार्थियो के लिए भिक्षाटन अनिवार्य नही था, बल्कि उनकी बुनियादी आवश्यकताओं (भोजन, वस्त्र, आवास, औषधि इत्यादि) की आपूर्ति संस्थान की ओर से की जाती थी।[267] निःसन्देह, इस व्यवस्था के कारण शिक्षा मे अर्थ की प्रधानता बढ़ी, छात्रों का व्यवहारिक ज्ञान, आत्मनिर्भरता एवं स्वावलम्बन की प्रक्रिया बाधित हुई और धनलोलुप समाज का निर्माण होने लगा।

इस प्रकार भिक्षाटन धर्म, जो प्रारम्भ मे सभी छात्रो के लिये अनिवार्य था, जिसके कारण निर्धनतम छात्र भी अपेक्षित शिक्षा प्राप्त करते थे, का विकास बाधित हुआ। इसके कारण सभी छात्रों को संयम और विनय की शिक्षा मिलती थी। वे विनीत भाव से जीवन के हर पक्ष का व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त करते थे। किसी भी छात्र मे अमीरी के कारण अहंकार और गरीबी के कारण हीन भावना का विकास नही होता था। जीवन का सर्वागीण विकास और कुंठारहित समाज का निर्माण उनका ध्येय होता था।

शिक्षार्थी और संस्कार

प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति आदर्शवाद पर आधारित थी, जो किसी सिद्धान्त विशेष के अनुसार ही शिक्षा देना पर्याप्त नहीं समझती थी, अपितु विभिन्न संस्कारों के माध्यम से आदर्श जीवन गठन की व्यवस्था करती थी।[267A] इस प्रकार संस्कार शिक्षा का मूलाधार था, जिसके द्वारा शिक्षार्थी का शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास होता था।[267B] आलोच्यकाल में प्रचलित ब्राह्मण शिक्षा पद्धति एवं बौद्ध शिक्षा पद्धति के अन्तर्गत निम्नलिखित संस्कारों का विधान था, जिसका छात्र जीवन से गहरा सम्बन्ध था।

ब्राह्मण शैक्षिक संस्कार — विद्यारम्भ, उपनयन, श्रावणी, उत्सर्जन, समावर्तन और यज्ञोपवीत आदि।

बौद्ध शैक्षिक संस्कार — प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा की दीक्षा।

'विद्यारंभ' [268] संस्कार को कुछ विद्वानों ने 'अक्षरस्वीकरण' भी कहा है, जो शिक्षा प्रारम्भ होने से पूर्व सम्पन्न होता था। अपरार्क और स्मृति चन्द्रिका ने मार्कण्डेय पुराण को उद्धृत करते हुए विद्यारंभ की अवस्था पांच वर्ष निर्देशित की है।[269] सस्कार प्रकाश और संस्कार रत्नमाला मे भी 5 वर्ष की अवस्था को उत्तम माना गया है।[270] उपनयन से पूर्व इसे अवश्य सम्पन्न किया जाता था।[271] कुल देवता के साथ उससे गुरू का भी वंदन कराया जाता था। तदुपरान्त उसे गुरू को सौप दिया जाता था। गुरू सोने या चॉदी के कलम से, जो इसी अनुष्ठान के लिये बनवाया जाता था, चावल के दानो पर वर्णमाला के सभी अक्षरों को उससे वह लिखवाता था। गुरू एवं आमंत्रित अन्य विद्वानों को यथोचित उपहार वितरित करने के उपरान्त यह संस्कार सम्पन्न माना जाता था।

गह्यसूत्र में गृह्यनिष्क्रमण और अन्न प्राशन जैसे अल्पमहत्व के संस्कारों का उल्लेख तो मिलता है, लेकिन 'अक्षरस्वीकरण' का कोई उल्लेख नहीं मिलता। जिन ग्रंथों में इसका विधान मिलता है, वे ईसा की द्वितीय सहस्राब्दी की है।[272] संभवतः लिपि का ज्ञान न होने के कारण प्रारम्भ में अक्षर जैसे संस्कारो का आयोजन नहीं होता था। उपनयन ही एकमात्र ऐसा संस्कार था, जो वैदिक शिक्षा प्रारम्भ होने से पूर्व सम्पन्न होता था तथा वैदिक मंत्रों के कंठस्थीकरण के साथ उनकी शिक्षा प्रारम्भ मानी जाती थी।

कालान्तर में श्रुति भाष्य और व्याकरण शास्त्र जैसे पाठ्यक्रमों का विकास होने पर लेखन कला का जन्म हुआ और शिक्षा का आरम्भ 'अक्षरस्वीकरण' नामक संस्कार से होने लगा। बहुत समय तक यह संस्कार 'चौलकर्म' के साथ ही सम्बद्ध रहा। इसकी पुष्टि कौटिल्य के लेख से होती है, जिसके अनुसार चौल कर्म के साथ लिपि का ज्ञान कराया जाता था।[273] कालिदास ने भी चौल कर्म के

साथ लिपि ज्ञान का उल्लेख किया है।[274] लव–कुश को भी चौल कर्म के साथ लिपि का ज्ञान कराया गया था।[275] स्पष्ट है कि अक्षरस्वीकरण का उल्लेख जिन ग्रथों मे मिलता है वे बहुत बाद के हैं। चौल कर्म संस्कार जन्म के 7वें वर्ष में सम्पन्न होता था। इसके अन्तर्गत रखी जाने वाली शिखा उसकी संख्या और उसके स्वरूप का वैदिक ऋषियों से घनिष्ठ सम्बन्ध था।[276] अतः यह सभावना बनती है कि आरम्भ में चौल कर्म और विद्यारंभ संस्कार का आयोजन एक ही साथ होता रहा हो।

उपनयन

शैक्षिक संस्कारो के अन्तर्गत उपनयन को विशेष महत्व प्राप्त था। सुव्यवस्थित और सुनियोजित शिक्षा का आरम्भ 'उपनयन संस्कार' से माना जाता था।[277] इसके अन्तर्गत आचार्य ब्रह्मचारी को एक नये जीवन के लिए उत्प्रेरित कर स्वीकार करता था। तदुपरान्त उसे 'द्विज' कहा जाता था। उपनयन शब्द 'उप' (समीप) और 'नयन' (ले जाना) से बना है, जिसका अर्थ है समीप ले जाना अर्थात् वह संस्कार जिसके द्वारा ब्रह्मचारी गुरू के समीप जाता था।[278] इस संस्कार के उपरान्त ही शिक्षार्थी का ब्रह्मचर्य जीवन प्रारम्भ होता था[279] और उसे 'ब्रह्मचारी' की संज्ञा से संबोधित किया जाता था। उपनयन से रहित व्यक्ति न तो द्विज की श्रेणी में आता था और न उस वर्ण या जाति का सदस्य ही माना जाता था, जिसमें वह जन्म लेता था। उसे समस्त धार्मिक कार्यो से वंचित कर दिया जाता था।[280] इस प्रकार तीनों उच्च वर्ण के लिये यह एक अनिवार्य संस्कार था, जो पूर्णरूपेण शिक्षा से सम्बद्ध था और इसके उपरान्त ही गुरू के सान्निध्य में शिक्षा प्रारंभ होती थी। पुराण साहित्य से भी विदित होता है कि शिक्षा का प्रारम्भ उपनयनोपरान्त ही संभव था। राजा सगर को आचार्य और्व ने उपनयन के उपरान्त ही वेदाध्ययन कराया था।[281] जड़ भरत को उपनयनोपरान्त ही शिक्षा के लिए निर्देशित किया गया था।[282] कृष्ण और बलराम भी सान्दीपनि

ऋषि के उपनयनोपरान्त ही पास शिक्षा प्राप्त करने गये थे।[283] शिवदत्त ने अपने पुत्रो को उपवीत के उपरान्त ही सागोपांग वेदाध्ययन प्रारम्भ कराया था।[284] चरित्रहीन और अयोग्य शिक्षार्थियों को उपनयन से वचित रखने का उल्लेख मिलता है।[285] अध्यापक बदलने या छात्र जीवन मे ही विवाह सस्कार सम्पन्न कर अध्ययन जारी रखने की स्थिति में पुन· उपनयन सम्पादित करने का विधान मिलता है।[286] 'इस प्रकार स्पष्ट है कि वैदिक शिक्षा प्राप्त करने के लिये उपनयन संस्कार अनिवार्य था, जिनसे ब्रह्मचारी को विद्यामय शरीर और ज्ञान ज्ञानयुक्त मस्तिष्क प्राप्त होता था।

उत्तरकाल में वैदिक साहित्य में पर्याप्त वृद्धि होने के कारण उसके सरक्षण एवं सवर्द्धन हेतु उपनयन और वैदिक साहित्य का अध्ययन प्रत्येक आर्य के लिये अनिवार्य कर दिया गया तथा यह निर्देशित किया गया कि जो आर्य उचित समय पर उपनयन से संस्कारित नहीं होगा, उसे न केवल वैवाहिक सुख से वंचित कर दिया जाएगा, बल्कि उसे अपने वर्ण एवं जाति से भी अलग कर दिया जाएगा। निःसंदेह, इस प्रकार के प्रतिबंधों से वैदिक शिक्षा के प्रचार–प्रसार में पर्याप्त सहायता मिली। किन्तु, कालान्तर में यह संस्कार अपने मूल उद्देश्य से भटक गयी और इस कारण सभी के लिये इसे अनिवार्य कर दिया गया तथा यह कहा जाने लगा कि गूँगे और बधिरों का भी उपनयन होना चाहिए, क्योंकि बिना इसके विवाह नही हो सकता।[287] कतिपय स्मृतिकारों ने इसे शरीर शुद्धि से भी जोड दिया, जिसके अनुसार कुत्ते या श्रृंगाल के काटने पर शरीर शुद्धिकरण हेतु उनका पुनः उपनयन करना चाहिए।[288] इस प्रकार यह संस्कार कर्मकाण्डों में फॅसने के कारण परम्परा का विषय बनकर रह गया।

जहॉ तक इसकी प्राचीनता का प्रश्न है, प्रारम्भ में जिज्ञासु शिक्षार्थी अपने गुरू के पास ही रहते थे, अतः उस समय तक इस संस्कार की आवश्यकता नहीं थी। स्मृति साहित्य से विदित होता है कि ईसा पूर्व चौथी शताब्दी तक कई ऐसे परिवार थे, जहाँ एक दो पीढ़ी तक यह संस्कार नहीं होता था।[289] दीर्घकाल तक पिता ही शिक्षक की भूमिका का निर्वहन करते थे।[290]

प्रारम्भ मे यह संस्कार अत्यन्त साधारण था। आचार्य की मौखिक स्वीकृति ही पर्याप्त मानी जाती थी।[291] ऋग्वेद[292] और अथर्ववेद में उपनयन का उल्लेख मिलना यह प्रमाणित करता है कि उस समय इसका आयोजन होता था। जबकि, ब्राह्मण साहित्य में इसका विस्तृत उल्लेख मिलना इसके प्रसार को रेखाकित करता है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र में ब्राह्मण को बसन्त ऋतु में, क्षत्रिय को ग्रीष्म ऋतु में और वैश्य को शरद ऋतु में उपनयन से सस्कारित करने का विधान मिलता है।[293] ब्राह्मण के लिये गायत्री मंत्र, क्षत्रिय के लिये त्रिष्टुभ मंत्र और वैश्य के लिये जगती मत्र को आधार माना गया था।[294] इस प्रकार द्विज वर्ण के सभी शिक्षार्थी उपनयन के अधिकारी थे[295] और उपनयन के उपरान्त उनका ब्रह्मचर्य जीवन प्रारम्भ होता था।[296]

जहॉ तक स्त्रियों का प्रश्न है, प्रारम्भ में उनका भी उपनयन एवं समावर्तन संस्कार होता था[297] तथा वे भी ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए वैदिक शिक्षा प्राप्त करती थी। यह स्थिति सूत्रकाल तक बनी रही। विवाह के समय यज्ञोपवीत धारण करने का निर्देश दिया जाना[298] भी उनके उपनयन सस्कार को प्रमाणित करता है। लेकिन उत्तरकाल में यह संस्कार प्रतीकात्मक मात्र रह गया और विवाह संस्कार को ही उनका उपनयन स्वीकार कर लिया गया। चूँकि द्विजों के लिये विवाह के पूर्व उपनयन संस्कार होना अनिवार्य माना गया था। अतः विवाह होने का तात्पर्य था, उपनयन का सम्पादित होना।

तीनों वर्ण के शिक्षार्थियों के लिये भिन्न–भिन्न उपनयन का विधान मिलता है। सूत्र साहित्य के अनुसार क्रमशः 8, 11 और 12 वर्ष की नियोजना थी।[299] मनु के अनुसार, ब्राह्मण–पुत्र का 8वें वर्ष में क्षत्रिय–पुत्र का 11वें वर्ष मे एव वैश्य–पुत्र का 12वें वर्ष में उपनयन का संस्कार होना चाहिये।[300] ब्राह्मण बालक श्वेतकेतु का इसी अवस्था में उपनयन संस्कार हुआ था।[301] शिक्षित ब्राह्मण परिवार में 7 वर्ष की अवस्था में ही नैतिक शिक्षा प्रदत्त करने का

उल्लेख[302] एवं उपनयन संस्कार का विधान मिलता है।[303] यद्यपि, बौधायन जैसे कतिपय स्मृतिकार 8 से 16 वर्ष के मध्य किसी भी समय को उपनयन हेतु उचित मानते थे।[304] ब्राह्मणों का उपनयन अपेक्षाकृत कम आयु में होने का प्रधान कारण यह था कि बहुधा उनका परिवार शिक्षित होता था और उनके पिता ही प्राय आचार्य की भूमिका का निर्वहन करते थे। जबकि, क्षत्रिय एवं वैश्य परिवार के बच्चे शिक्षा के निमित्त अपने कुटुम्ब को छोड़कर ब्राह्मण आचार्यो के पास जाते थे। अतः ग्यारह और बारह वर्ष की अवस्था को गृह त्याग हेतु उपयुक्त समय माना जाता था, क्योंकि इस अवस्था तक वे अपने परिवार से अलग रहकर स्वयं अपनी देखभाल करने योग्य हो जाते थे। कालान्तर में पाठ्यक्रमों का क्षेत्र विस्तृत होने के कारण ब्राह्मण शिक्षार्थी विशेषाध्ययन के निमित्त दक्ष आचार्यो के पास जाने लगे। प्रारम्भ में जब वैदिक मंत्रों को लिपिबद्ध करना हेय समझा जाता था तथा व्याकरण शास्त्र का विकास नही हुआ था, अल्पायु (5–6 वर्ष की अवस्था) मे ही शिक्षा प्रारम्भ कर दी जाती थी। चूँकि, अल्पायु में उपवीत छात्र सावित्री मंत्रों का सही उच्चारण नही कर सकता था, अतः यह व्यवस्था दी गयी थी कि उन्हें सावित्री मत्र की शिक्षा एकाध वर्ष बाद दी जाय।[305] यद्यपि, समय–समय पर उपनयन संस्कार की आयु सीमा को लेकर विवाद होता रहा। किन्तु, ज्यादातर शिक्षाविद् इस मत के थे कि उपनयन संस्कार अल्पायु में ही सम्पन्न होना चाहिए, क्योंकि उन्हें भय था कि अधिक उम्र में शिक्षा प्रारम्भ करने पर शिक्षार्थियो का मस्तिष्क इद्रियों के राग–द्वेष में फॅसने लगेगा और वे अपने को एकाग्रचित नहीं कर पायेंगे। चूँकि, प्रारम्भ में वैदिक शिक्षा मौखिक दी जाती थी, जिसके लिये मस्तिष्क का एकाग्र होना आवश्यक था। अतः इस दृष्टि से उनका चिंतन वैज्ञानिक था।

कालान्तर में जब यह विचार दृढ़ होता गया कि कलियुग में ब्राह्मण एवं शूद्र केवल दो वर्ण ही होंगे[306] तब क्षत्रिय एवं वैश्य क्रमशः शूद्र करार दिये जाने लगे। अतः उनका उपनयन संस्कार प्रतिबंधित होना स्वाभाविक था। इसके मूल मे बौद्ध एवं जैन धर्म का उदभव तथा क्षत्रिय एवं वैश्यों का उनसे जुड़ाव रहा।

उन्होने सस्कृत को उपेक्षित लोक भाषा स्वीकार किया तथा प्रवज्या एवं उपसम्पदा के अन्तर्गत विभिन्न धर्मेत्तर विषय को भी शिक्षा में सम्मानजनक स्थान प्रदान कर उन्हें प्रोत्साहित किया। इस प्रकार क्षत्रिय एवं वैश्य समुदाय के लोग बौद्ध शिक्षा से जुड़ते चले गये, और अपने मूल व्यवसाय में अत्यन्त दत्तचित होने के कारण वैदिक शिक्षा से क्रमशः विमुख होते गये। स्त्रियॉ भी बौद्ध शिक्षा की ओर उन्मुख होने के कारण वैदिक शिक्षा से वंचित होती गयी और सूत्रकाल के उपरान्त उन्हें शूद्र के रूप में स्वीकार कर लिया गया। विवाह संस्कार को ही उनका उपनयन स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार बौद्ध शिक्षा के प्रचार–प्रसार के कारण ब्राह्मणों द्वारा स्थापित सामाजिक मान्यताएँ ध्वस्त होने लगी। परिणामतः स्त्रियों के साथ–साथ क्षत्रिय एवं वैश्य वर्ण के शिक्षार्थियो को भी उपनयन से वचित कर उन्हे शूद्र घोषित कर दिया गया।

किसी शुभ दिन को गणेश, लक्ष्मी, सरस्वती आदि विभिन्न देवी–देवताओं की पूजा की जाती थी। शिक्षार्थी रात भर मौन धारण करता था। अगले दिन वह अपने माता–पिता के साथ भोजन ग्रहण करता था। तदुपरान्त मुंडन और स्नान क्रिया सम्पन्न की जाती थी और उसे कौपीन[307] पहनने को दी जाती थी। कौपीन फिसल न जाय इसलिए उसे मेखला भी धारण करना पडता था। आचार्य उसके कटि के चारों ओर मेखला बांधता था तथा उसे उपवीत धारण करने के लिये देता था।[308] मेखला में तीन डोरे इस बात के प्रतीक थे कि वह सर्वदा तीन से (सत्, रज् एवं तम) आवृत्त है।[309] ये तीनों धागे उसे ऋषि–ऋण, देव–ऋण और पितृ–ऋण का भी स्मरण दिलाते थे। मनु के अनुसार, ब्राह्मणों का यज्ञोपवीत कपास का, क्षत्रियों का सन् का और वैश्यों का ऊन का बना होता था, जो तीन लड़ी का होता था।[310] मेखला (कटि सूत्र) मूँज का होता था,[311] जिसको धारण करना आवश्यक था। उसे मृगचर्म और दण्ड भी प्रदान किया जाता था।[312] तदुपरान्त उसे मर्यादा, शिष्टता और आत्मसंयम का स्मरण कराया जाता था तथा श्लोकों के माध्यम से यह बतलाया जाता था कि उसकी मेखला श्रद्धा की पुत्री और ऋषियों की भगिनी है, जिसमें न केवल ब्रह्मचारियों की पवित्रता की

रक्षा करने की शक्ति है, बल्कि समय–समय पर उत्पन्न परिस्थिति जन्य बुराइयों से भी उसकी रक्षा करती है।[313] यज्ञोपवीत को अपने से अलग न करने का सुझाव शास्त्रकारों ने दिया है।[314] हिन्दू शिष्टाचार में धार्मिक कृत्यों के समय शरीर के ऊपरी भाग को वस्त्र से ढॅके रखने का विधान मिलता है।[315] प्रारम्भ में जब कातने–बुनने की कला अज्ञात थी, तब मृग–चर्म का इस्तेमाल होता था। किन्तु, कातने–बुनने की कला का ज्ञान होते ही मृग चर्म का स्थान वस्त्रों ने ले लिया, जिसका निर्माण परिवार के सदस्यों द्वारा किया जाता था।[316] उत्तरीय ब्रह्मचर्य का प्रतीक एवं यज्ञोपवीत का पूर्वज माना जाता था।

उत्तरीय संस्कार के उपरान्त शिक्षार्थी को अग्नि के समक्ष लाया जाता था, जहॉ उसे समिधा देना पडता था तथा उच्चरित मंत्रो द्वारा बुद्धि, मेधा और बल में वृद्धि की प्रार्थना की जाती थी।[317] पवित्र भावना को बनाए रखने हेतु भग, यम, आर्यमा और सविता जैसे वैदिक देवी–देवताओं की प्रार्थना उससे करायी जाती थी। सविता, जो अधिष्ठाता देव के रूप मे स्वीकृत थे, रोग, चोट, मृत्यु इत्यादि से उसकी रक्षा करते थे।[318] इस आराधना के द्वारा यह विश्वास पैदा किया जाता था कि मुसीबत में देव उसकी रक्षा करेंगे।[319]

अगली क्रिया में उसे एक प्रस्तर पर खडा कर उपदेश दिया जाता था कि वह अध्ययन में उस पत्थर की भांति अटल रहेगा।[320] शिक्षाविदों की ऐसी मान्यता थी कि किसी भी क्षेत्र में सफलता के लिये मजबूत इच्छाशक्ति उद्देश्य के प्रति निष्ठा और कार्य के प्रति एकाग्रता का होना आवश्यक होता है।

अश्मारोहण संस्कार के उपरान्त आचार्य के सम्मुख उसे उपस्थित किया जाता था, जहॉ आचार्य उससे पूछता था कि तुम किसके ब्रह्मचारी हो।[321] छात्र का उत्तर होता था कि मैं आपका ब्रह्मचारी हूँ। आचार्य संशोधन करते हुए कहता था कि नहीं तुम इन्द्र के ब्रह्मचारी हो और पहले अग्नि तुम्हारा आचार्य है फिर मैं और उसका दाया हाथ पकड़ते हुए कहता था कि मैं सविता की आज्ञा से तुम्हें शिष्य रूप में स्वीकार कर रहा हूँ।[322] तदुपरान्त उसके हृदय पर हाथ रखकर कामना करता था कि तुम्हारे और मेरे बीच प्रेम और विश्वास सर्वदा

बना रहे।[323] इससे स्पष्ट होता है शिक्षक और शिक्षार्थी का सम्बन्ध अत्यन्त पुनीत होता था और पूर्ण सद्भावना, सहानुभूति तथा हार्दिक विश्वास और प्रेम से ही शिक्षा की प्रगति संभव थी। इस प्रकार गायत्री मंत्र के उच्चारण के साथ वेदो की शिक्षा प्रारम्भ होती थी। प्रत्येक ब्रह्मचारी प्रात और सांध्य बेला में उल्लिखित सावित्री मत्र का पाठ करते थे– ''ओम् भूर्भूव स्व तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्'' ।[324] शिक्षाविदो का ऐसा विश्वास था कि छात्रों का सर्वागीण विकास, स्वस्थ शरीर और अच्छी स्मरण शक्ति के साथ–साथ स्फूर्ति एव तीक्ष्ण बुद्धि से ही संभव है और मनुष्य इसी के बल पर प्रकृति पर विजय प्राप्त करता है।[325] अतः प्रत्येक ब्रह्मचारी मे मजबूत शरीर, तीक्ष्ण बुद्धि और प्रखर स्मरण शक्ति की कामना स्वाभाविक था।

गायत्री मंत्र को आत्मसात् कर लेने के उपरान्त प्रत्येक ब्रह्मचारी को एक दण्ड दिया जाता था, जो यात्रा का प्रतीक होता था। दण्ड धारण करते समय ब्रह्मचारी यह प्रार्थना करता था कि इस दुर्गम मार्ग पर मेरी यात्रा मंगलमय हो।[326] दण्ड उसे सतर्क प्रहरी बनने के लिये उद्‌बोधित करता था।[327] वनों में समिधा लाने के लिये जाते समय अंधकार में चलते समय किसी अज्ञात नदी या सरोवर में घुसते समय वह उनमें आत्म विश्वास और आत्मनिर्भरता की भावना भरने में सहायक होता था।[328] आवश्यकता पडने पर वे उसका उपयोग आचार्य के पशुओं को एकत्र करने के लिये भी करते थे।

प्रत्येक ब्रह्मचारी से यह आशा की जाती थी वह अपना भरण–पोषण भिक्षाटन के द्वारा कर लेंगे और यह कार्य उपनयन के दिन से ही प्रारम्भ हो जाता था। किन्तु, प्रथम दिवस इसका स्वरूप प्रतीकात्मक ही होता था। क्योकि, उस दिन वह उन्हीं से भिक्षा मांगता था, जो उसकी मांग को ठुकराते नहीं थे। सर्वप्रथम वह अपनी माता, बहन एवं अन्य संबंधियों के पास जाता था। इस प्रकार भिक्षाटन की अनिवार्यता उसके अन्दर विद्यमान अहंकारों का दमन कर सामाजिक व मानवीय दायित्वों का बोध कराने में एक मनोवैज्ञानिक की भूमिका का निर्वहन करता था।

ऐसी अवधारणा थी कि उपनयन के पश्चात तीन दिन तक आचार्य उसे अपने गर्भ मे धारण करता है और चौथे दिन उसका आध्यात्मिक जन्म होता है। इसके कारण छात्र मनोवैज्ञानिक दबाव महसूस करते थे। धारणा शक्ति और बुद्धि को प्रखर बनाने हेतु मेधाजनन संस्कार भी होता था। इस अवसर पर यह प्रार्थना की जाती थी कि उसकी मेधा गाय की भॉति आकर्षक, सांड की भॉति शक्तिशाली और सूर्य की रश्मियो की भॉति प्रखर हो तथा वह सभी क्षेत्रों मे प्रभावकारी हो।[329] यह संस्कार उपनयन की समाप्ति का सूचक माना जाता था।

इस प्रकार उपनयन संस्कार ब्रह्मचर्य की मर्यादा, शिष्टता और आत्मसंयम को अपने अंदर समेटे हुए था। ब्रह्मचारी को यह बोध कराया जाता था कि ज्ञान की यात्रा लम्बी और कष्टकारी होती है। अतः उसमें लक्ष्य के प्रति एकाग्रता, अध्ययन के प्रति निष्ठा तथा आचार्य और उसके मध्य सद्भावना होने पर ही, उसकी सफलता का मार्ग प्रशस्त होगा। ईश्वर की सहायता और आशीर्वाद के बिना न तो वह सभी बाधाओं को पार कर पायेगा और न अपने उद्देश्य में सफल हो पायेगा।[330] निष्ठा, लगन, विश्वास और दृढ निश्चय के साथ चलने पर वह अवश्य अपने उद्देश्यों में सफल होगा तथा उसका व्यक्तित्व इन्द्र की भांति विकसित होगा और मेधा अग्नि शिखा की भांति चमकेगी।

श्रावणी पूर्णिमा से जब खेतों में बीज उगने लगते थे,शिक्षण–सत्र प्रारम्भ होता था।[331] अतः इस छन्द सामुपाकर्म (वैदिक ज्ञान का उपार्जन) को 'श्रावणी'[332] संस्कार कहा जाता था। आरम्भ में शैक्षिक पाठ्यक्रम सीमित होने के कारण 5–6 माह का समय वैदिक ज्ञान के लिये पर्याप्त होता था। अतः छन्दसामुत्सर्जन संस्कार (वार्षिक अध्ययन की समाप्ति) पौष या माघी पूर्णिमा तक सम्पन्न हो जाने का उल्लेख मिलता है। कालांतर में जब शैक्षिक पाठ्यक्रमों का क्षेत्र व्यापक हो गया वेदों के साथ–साथ वेदांश, ब्राह्मण साहित्य, न्याय, दर्शन, धर्मशास्त्र, पुराण आदि की भी शिक्षा दी जाने लगी। परिणामतः शिक्षण–सत्र पूरे वर्ष भर चलने लगा और 'उत्सर्जन संस्कार' फरवरी–मार्च में होने लगा।

स्मृति साहित्य के अनुसार शिक्षा के निमित्त जब ब्रह्मचारी एकत्र होते थे, तब आचार्य इस संस्कार को सम्पादित करता था।[333] ऐसी मान्यता थी कि मुख्य आचार्य जितने तिलो का नैवेद्य चढायेगा उसे उतने ही शिष्य प्राप्त होंगे,[334] जो आचार्य अधिकाधिक शिष्यो की कामना करते थे उनके लिये पूजार्चना का विशेष विधान मिलता है।[335] इस दिन कई आचार्यो द्वारा अपने शिक्षार्थियों को भोजन पर आमंत्रित करने का भी उल्लेख मिलता है।[336] इस प्रकार यह सस्कार शिक्षक और शिक्षार्थियों के मध्य पारिवारिक प्रेम और सौहार्द की भावना पैदा करता था तथा इस दिन से वार्षिक सत्र का प्रारम्भ माना जाता था।

शिक्षाविदो ने यह अनुभव किया था कि गृहस्थों के लिये भी ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे वह वर्ष मे कम–से–कम एक बार अपने पूर्व ज्ञान की आवृत्ति कर सके। श्वेत केतु ने यह व्यवस्था दी थी कि गृहस्थों को भी न्यूनतम दो माह अपनी पूर्व पाठशाला में व्यतीत करना चाहिए।[337] यद्यपि, अधिकाश विद्वानों की राय थी कि किसी भी गृहस्थ के लिये अपना व्यवसाय छोडकर दो माह व्यतीत करना अव्यवहारिक होगा। अतः पूर्व ज्ञान की आवृत्ति के लिये उन्होंने वर्षाकाल का समय निर्धारित किया तथा यह व्यवस्था दी कि 'श्रावणी संस्कार' में प्रत्येक गृहस्थ भी सम्मिलित हो और पूर्व में पढ़े हुए पाठ की आवृत्ति के लिये वे प्रतिज्ञा करे। इस प्रकार इस सस्कार में सम्मिलित होने वाले प्रत्येक गृहस्थ अपने घर पर ही यथासंभव ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए पूर्व ज्ञान की आवृत्ति करते थे।[338] स्पष्ट है कि 'श्रावणी संस्कार' का विधान न केवल सत्र आरम्भ के लिये था, बल्कि गृहस्थ धर्म का पालन करने वाले पुराने शिष्यों के पूर्व ज्ञान की आवृत्ति के लिये भी था।

यद्यपि, विभिन्न वैदिक सम्प्रदायों में श्रावणी का स्वरूप पृथक्–पृथक् था, लेकिन सभी में एक ही भावना विद्यमान थी। सत्र के आरम्भ में वैदिक एवं यज्ञीय देवताओं को अर्ध्य प्रदान करना, ज्ञान, धारणा और कल्पना के देवताओं की आराधना के साथ अपने प्राचीन ऋषियों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करना,

उनका उद्देश्य था।[339] इससे नवागंतुक छात्र न केवल पूर्वजों के ऋण को समझते थे, बल्कि उनके आदर्शो पर चलने के लिये उत्प्रेरित भी होते थे। गृहस्थ भी अपने पूर्व ज्ञान को आधुनिक प्रगति से जोडकर उसे और समर्थ बनाते थे।

प्रत्येक ब्रह्मचारी श्रावणी संस्कार का एक साधारण अंग था। इस संस्कार के समय वह अपने पुराने यज्ञोपवीत, दण्ड, मेखला आदि का परित्याग कर नये यज्ञोपवीत, दण्ड मेखला आदि धारण करता था।[340] आज भी सत्र–आरम्भ के दिन प्राय: सभी विद्यार्थी नये वस्त्र धारण करते हैं।

उत्सर्जन

फरवरी या मार्च मे जब सत्रावसान होता था, यह संस्कार सम्पन्न होता था। श्रावणी संस्कार की भांति एक बार पुन: वैदिक देवताओं, ज्ञान और बुद्धि की शक्तियों तथा प्राचीन ऋषियों को स्मरण किया जाता था। वर्तमान वार्षिक समारोह की भांति यह सम्पन्न होता था।

समावर्तन

शिक्षा की समाप्ति पर वर्तमान दीक्षान्त समारोह की भांति, इस संस्कार का आयोजन होता था, और इसे 'समावर्तन' या 'स्नानसंस्कार' के नाम से सम्बोधित किया जाता था। समावर्तन का शाब्दिक अर्थ है, 'लौटना', जिसे शिक्षा समाप्ति के उपरान्त घर लौटने के अर्थ में लिया जाता था। पाणिनी ने अध्ययन की समाप्ति को 'समापन' कहा है[341] और ब्रह्मचारी को 'स्रग्वी'। इस अवसर पर ब्रह्मचारी को स्नान कराये जाने के कारण इसे स्नान संस्कार के नाम से अभिहित किया गया तथा ब्रह्मचारी को स्नातक की संज्ञा से संबोधित किया गया।[342] कतिपय स्मृतिकारो का मत है कि उन शिक्षार्थियों का समावर्तन नहीं होना चाहिए, जो वेद पाठी तो होते थे, लेकिन उसका अर्थ वे नहीं जानते थे।

[343] प्रारम्भ मे शिक्षा समाप्ति के उपरान्त यह संस्कार सम्पन्न होता था और शिक्षार्थी गृहस्थ जीवन मे प्रवेश करते थे। किन्तु, उत्तरकाल में इसका मूल स्वरूप विस्मृत हो गया और उपनयन तथा समावर्तन जैसे महत्वपूर्ण शैक्षिक संस्कारो का विधान सबके लिये अनिवार्य कर दिया गया। परम्परा को बनाये रखने के उद्देश्य से विवाह सस्कार से पूर्व इसे आयोजित करने की प्रथा चल पडी।[344] इस प्रकार यह सस्कार अपने मूल स्वरूप को खोकर प्रतीकात्मक बनता गया।

किसी शुभ दिन को प्रातः काल से ही ब्रह्मचारी को कमरे के अंदर रखा जाता था। ऐसा संभवतः सूर्य को उस अपमान से बचाने के लिये किया जाता था जो उसे अपने से भी अधिक देदीप्यमान के दर्शन से सहना पड़ता था। लोक मान्यता थी कि स्नातक के तेज से ही सूर्य चमकता है।[345] निश्चित रूप से यह विश्वास प्राचीन शिक्षा के महत्व को रेखांकित करता है।

मध्यान्ह् में कमरे से बाहर निकलकर हाथ मुँह धोने के उपरान्त, उसका मुंडन संस्कार होता था। तदुपरान्त वह मेखला, दण्ड, अजिन इत्यादि का परित्याग करता था, जो उसके ब्रह्मचर्य जीवन के प्रतीक थे। आचार्य स्वयं उसे सुगंधित जल से स्नान करवाकर उन सभी वस्तुओं को उसे प्रदान करता था, जो ब्रह्मचर्य काल में उसके लिये वर्जित था। जैसे नये वस्त्र, सुगंधित द्रव्य, आभूषण, माला, अंजन, उष्णीय छत्र और पद–त्राण इत्यादि। प्रत्येक अभिभावक से यह आशा की जाती थी कि उक्त सभी वस्तुएँ अपने साथ दो–दो की संख्या में लायेंगे। एक आचार्य के लिये एवं दूसरा स्नातक के लिये।

इस समय सम्पन्न होने वाले होम अनुष्ठान के साथ यह कामना की जाती थी कि उसे अधिकाधिक संख्या में शिष्य प्राप्त हो।[346] इसी समय आचार्य उसे मधुपर्क (मधु और घी मिश्रित पदार्थ) का सेवन कराता था[347] तथा उसे स्नेह पूर्वक गृहस्थ जीवन में पदार्पण के लिये आह्वाहित करता था।[348] तदुपरान्त वह रथ या हाथी पर आरूढ़ होकर विद्वत् सभा में उपस्थित होता था, जहॉ आचार्य

उसका परिचय एक विद्वान् के रूप में कराता था तथा समावर्तन उपदेश देने के पश्चात् यथोचित गुरू दक्षिणा प्राप्त कर उसे घर के लिये विदा करता था।

समावर्तन उपदेश के अन्तर्गत आचार्य उसे शिक्षा देता था कि वह सदा सत्य बोले। अपने कर्त्तव्यो का पालन करे। स्वाध्याय में प्रमाद न करे। आचार्य के लिये धन लाए तथा अपनी वंश—परम्परा को प्रतिष्ठित रखे। सत्य एवं धर्म से न हटे। महान् बनने के अवसर को न चुके। देवता और पितरों के कार्य मे प्रमाद न करे। माता, पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा देवता के रूप में करे। जो कार्य दोष रहित हो उसे छोड दे। गुरू द्वारा प्रदत्त अच्छे कार्यों का ही अनुसरण करे। प्रत्येक विद्वान का आदर करे। जो भी दान दे श्रद्धा से दे। धर्म या शिष्टाचार सम्बन्धी शंका उत्पन्न होने पर विद्वान ब्राह्मणों से परामर्श ले। प्राणी मात्र के प्रति दया, ममता, करूणा और सदाचार का व्यवहार करे। सदैव प्रसन्न रहे। भय एवं शंका से अपने को दूर रखे। यही हमारा उपदेश है।[349] इस प्रकार प्राचीन भारतीय समाज में स्नातकों को विशेष श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता था तथा उन्हें गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था।[350]

यज्ञोपवीत

व्याकरणिक दृष्टि से यज्ञोपवीत एक विशेषण है और इसका सम्बन्ध यज्ञ के समय धारण करने वाले वस्त्रों से था—यज्ञाय उपवीत यज्ञोपवीतम्। शिष्टाचार के अनुसार यज्ञ, दान या स्वाध्याय और पवित्र कार्य को करते समय शरीर के उपरी भाग को ढ़ॅके रखने का विधान मिलता है।[351] इस प्रकार यज्ञोपवीत का तात्पर्य उस उ्त्तरवास से था जो विभिन्न अनुष्ठानों के समय उत्तरीय रूप में धारण किया जाता था। तैत्तिरीय संहितानुसार, किसी वस्त्र का विशेष विन्यास ही यज्ञोपवीत था। ब्राह्मण ग्रंथ के अनुसार, जिस वस्त्र को बाये कंधे के ऊपर और दाये कंधे के नीचे से पहना जाता था, उसे यज्ञोपवीत कहते थे।[352] लेकिन, वही वस्त्र विपरीत क्रम में पहनने पर "प्राचीनावीत" कहा जाता था। माला की भॉंति लटकते हुए पहनने पर उसे "विनीत" कहा जाता था।

उत्तरवास प्रायः कपडे का होता था। किन्तु, प्रारम्भ मे जब कातने–बुनने की कला का ज्ञान नहीं था, तब वह अजिन का होता था। तैत्तिरीय आरण्यक् के अनुसार यज्ञोपवीत कपडे का नही, बल्कि अजिन का होना चाहिए।[353] ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में जब कातने–बुनने की जानकारी प्राप्त हुई और कपडे का प्रचलन बढा तब अजिन के स्थान पर कपडे का प्रयोग होने लगा। किन्तु, पूर्व परम्परा को बनाये रखने के उद्देश्य से प्रतीकात्मक रूप में अजिन के टुकडों का प्रयोग होता रहा और उत्तरकाल में जब कपडे का स्थान कच्चे सूत ने ले लिया तब अजिन खण्ड को उससे बांधकर प्रयोग किया जाने लगा। आज भी विभिन्न धार्मिक अनुष्ठानों में प्राचीन परम्पराओं का प्रतीक देखने को मिल जाएगा।

आपस्तम्ब जैसे स्मृतिकारों का मत है कि यज्ञोपवीत साधारणतया उत्तरवास ही होना चाहिए और इसके अभाव में ही सूत का प्रयोग होना चाहिए।[354] स्मृति चंद्रिका के अनुसार उत्तरीय के अभाव में ही सूत का प्रयोग होता था।[355] ऋष्यश्रृंग का भी यही मत है।[356] उपनयन, यज्ञ या पूजा अर्चना के समय पर ही यज्ञोपवीत धारण करने का विधान था। किन्तु, उत्तरकाल में जब सभी कार्य ब्रह्म को अर्पित करने जैसी भावना का विकास हुआ तब संपूर्ण जीवन ही एक यज्ञ समझा जाने लगा। परिणामतः प्रत्येक क्षण यज्ञोपवीत धारण करने का विधान बना और उसे ऐसा बनाया गया कि हर समय पहना जा सके।

इस प्रकार धागे के रूप में यज्ञोपवीत का प्रचलन बढ़ा और लोग इसके मूल अभिप्राय को विस्मृत करते गये। उत्तरकाल में इसके मूल विचार को विस्मृत कर दिया गया तथा उसमें अनेक रहस्यात्मक गुणों का समावेश होता गया। इस प्रकार वह विशुद्ध कर्मकाण्ड का विषय बनकर रह गया, जिसका आधार कोरा अन्ध विश्वास था। ब्रह्मचारी एक सूत्र का स्नातक दो सूत्र का (एक उत्तरवास के लिये और दूसरा अंतरवास के लिये) और गृहस्थ तीन सूत्र का यज्ञोपवीत धारण करता था। प्रारम्भ में सूत्र उत्तरीय वस्त्र के अभाव में ही धारण किया जाता था।[357]

आदित्यपुराण का कथन है कि यज्ञोपवीत में दैत्यो का नाश करने की शक्ति है। जब समाज मे इस प्रकार की मान्यताएँ स्थापित होने लगी, तब यह विचार भी जोर पकड़ने लगा कि यज्ञोपवीत में जितने अधिक सूत्र होगे, उतना ही अधिक शारीरिक और आध्यात्मिक कल्याण होगा। कश्यप गृहस्थों के लिये 2,3,5 या 10 सूत्रीय यज्ञोपवीत का विधान करते हैं।[358] जब सूत्र का स्थायी प्रयोग होने लगा तब 9 सूत्रीय यज्ञोपवीत का प्रचलन बढा और प्रत्येक सूत्र ओंकार, अग्नि, भग, सोम, पितर, प्रजापति, वसु, धर्म और सर्वदेवों आदि का प्रतिनिधित्व करने लगा। जहॉ तक इसे शरीर से पृथक् करने का प्रश्न है, तैत्तिरीय कठ, कण्व और वाजसनेय सम्प्रदाय के विद्वान स्नान के समय इसे शरीर से पृथक् करने की स्वीकृति देते है।[359] किन्तु, ऋग्वेदिन और सामवेदिन सम्प्रदाय के विद्वान इसे कभी भी शरीर से पृथक् करने के पक्ष में नहीं थे।

बौद्ध शिक्षा पद्धति के अन्तर्गत दीक्षा संस्कार का उल्लेख मिलता है। बुद्ध का स्पष्ट आदेश था कि प्रत्येक उपासक को धर्म और विनय की सम्यक् शिक्षा प्रदत्त की जानी चाहिए। इस कार्य में बौद्ध आचार्य पर्याप्त सफल रहे। बौद्ध संघ मे सम्मिलित होने हेतु दो प्रकार के संस्कारों का उल्लेख मिलता है, प्रव्रज्जा'' एवं ''उपसम्पदा''। प्रव्रज्या की दीक्षा से बौद्ध शिक्षार्थियों का उपासकत्व प्रारम्भ होता था।[360] 8 वर्ष से अधिक उम्र के किसी भी व्यक्ति को दीक्षा दी जा सकती थी। इसके लिये उसके संरक्षक की अनुमति आवश्यक थी।[361] ''उपसम्पदा'' की दीक्षा से बौद्ध शिक्षा का समापन माना जाता था।[362] यह साधारणतया 30 वर्ष की अवस्था में सम्पन्न की जाती थी। प्रारम्भ में बुद्ध स्वयं अपने भिक्षुओं को 'प्रव्रज्या' की दीक्षा देते थे। महावग्गर साहित्य से ज्ञात होता है कि सारनाथ में तथागत ने पंचवर्षीय भिक्षुओं को धर्म–चक्षु प्रदान कर प्रव्रज्या की उपदेशना दी थी। तदुपरान्त भिक्षु संघ की स्थापना हुई थी। पंच भिक्षुओं में कौंडिन्य, वप्र, भद्रिक, महानाम और अश्वचित्त थे। सघ का सदस्य बनने के लिये सुधी, चरित्रवान और प्रज्ञावान होना आवश्यक था। किसी भी जाति, वर्ण, वर्ग, क्षेत्र एवं धर्म के व्यक्ति को, जो बुद्ध धम्म एव संघ के प्रति आस्था रखता था,[363] उसे

'प्रव्रज्या' की दीक्षा दी जाती थी। यद्यपि 15 वर्ष से कम आयु के शिक्षार्थी को, अभिभावक की अनुमति न मिलने वाले शिक्षार्थी को, अस्वस्थ, कुष्ठ, गण्ड, क्षय, चर्म एवं मिर्गीरोग से पीडित व्यक्ति को, विक्षिप्त, अपंग, राजनैतिक, राजसेवक, चोर, डाकू, दडित, ऋणि, दास तथा असामाजिक कार्य करने वाले व्यक्ति को 'प्रव्रज्या' की दीक्षा नहीं दी जाती थी। लेकिन, आवश्यक होने पर संघ की स्वीकृति से उन्हें दीक्षित किया जाता था।

अगुलिमाल दस्यु को बुद्ध ने विशेष परिस्थिति में दीक्षा देकर संघ का सदस्य बनाया था। बौद्धेत्तर परिव्राजक को भी 'प्रव्रज्या' की दीक्षा दी जाती थी, लेकिन इसके लिये उसे चार माह तक संघ के नियमानुसार जीवन यापन करना पड़ता था। चरित्र, आचरण एवं कार्य–व्यवहार को परखने के उपरान्त उसे संघ का स्थायी सदस्य बनाया जाता था। बुद्ध एवं संघ में विश्वास प्रकट करते हुए उसे किसी भिक्षु को आचार्य रूप में स्वीकार करना पडता था। अक्षम्य अपराध करने या सघ के नियम को तोड़ने पर, उसकी सदस्यता समाप्त कर उसे सघ से निष्काषित किया जा सकता था। उत्तरकाल में प्रवेशार्थियों की संख्या बढने पर ज्येष्ठ भिक्षु भी 'उपदेशना' एवं 'प्रव्रज्या' की दीक्षा देने लगे।

'प्रव्रज्या' प्राप्त करने वाला शिक्षार्थी 'श्रामणेर' कहा जाता था। उसे किसी उपाध्याय या आचार्य के निर्देशन में रहना पडता था। 'उपसम्पदा' का अधिकारी वह भिक्षु होता था, जिसकी अवस्था न्यूनतम 30 वर्ष होती थी और जो उच्च आध्यात्मिक ज्ञान रखता था। इस प्रकार 15 वर्ष की अवस्था में प्रव्रज्या की दीक्षा से भिक्षु जीवन प्रारम्भ होता था और 30 वर्ष की अवस्था में 'उपसम्पदा' की दीक्षा से समाप्त होता था। वह संघ के सम्मुख उपस्थित होकर श्रद्धापूर्वक दोनो हाथों को जोडकर ऊपर उठाते हुए 'उपसम्पदा' के लिये तीन बार याचना करता था और संघ के सदस्य उसे मौन स्वीकृति प्रदान कर देते थे। यह व्यवस्था साधारण शिक्षार्थियों के लिये थी, लेकिन जो शिक्षार्थी आजीवन भिक्षु धर्म का पालन करना चाहते थे, उनके लिये न्यूनतम अधिकतम आयु सीमा का कोई

प्रावधान नही था। उनके मध्य भिक्षाटन की परम्परा विद्यमान थी जो उनकी जीविका का आधार होता था। छठीं शताब्दी के उपरान्त ब्राह्मण शिक्षार्थी और बौद्ध शिक्षार्थी के जीवन शैली में कोई अंतर नही रहा।

सन्दर्भ

1. यथा घटप्रतिच्छन्ना रत्नराजा महाप्रभाः।
   अकिंचित्करता प्राप्तारद्वद्विद्याश्चतुर्दश।।
   याज्ञ., 1.212 की टीका में अपरार्क द्वारा उद्धृत।
2. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणम् कृणुते गर्भमन्तः।
   अ.वे., 11.5, बौ. ध. सू., 28.38–39, गौ. ध. सू., 1–10, मनु., 2.170, बौ. ध. सू., 1.2.48 का कथन है कि श्रोत्रिय को कभी भी संतानहीन नहीं समझना चाहिए। उसके छात्र ही उसके पुत्र है।
3. कठोपनिषद्, 11–9, नैषा मतिस्तर्कोणपनेया प्रोक्तान्येव सुज्ञानाय प्रेष्ठ। मुण्डकोपनिषद्, 1.2.3, तद्विज्ञानाय गुरुमेवाभिगच्छेत्सामित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं।
4. छां. उप., 4.9.3 श्रुतं, ह्येव में भगवद् दृशेभ्य आचार्याद्धेव विद्या विदिता सधिष्ठं प्रापतीति ....।
5. वही, 4.9.5, ... अन्ये मनुष्येभ्य इतिह प्रति यज्ञे भगवांस्त्वेव ये कामे ब्रूयात्।
6. तै. उप. 1.11.2, आचार्य देवो भव।
7. श्वे, उप., 6.23 यस्य देवे पराभक्तिर्यथादेवे तथा गुरो।
8. मुण्डकोपनिषद्, 1.2.12, तद्विज्ञानार्थ स गुरुमेवा भिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठम्।
9. प्रश्न. उप., 1.11
10. क. उप., 1.2.8, सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।

11. तै. उप., 1.11, आचार्य देवो भव।

छां. उप., 6.14.2., आचार्यवान् पुरुषो वेद।

द्रष्टव्य : धर्मपाल, गुरू–शिष्य परम्परा इनका विचार है कि गुरू के धन्निध्य आशीर्वाद से ही ज्ञान की पूर्णता संभव थी। गुरू ही समस्त शकाओ एवं संज्ञयों से मुक्त कर वैज्ञानिक बुद्धि विकसित करता था।

12. अर्थव, 1.5.3, आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणम् कृणुते गर्भमन्तः।

त रात्रीस्तिसु उदेर विभर्ति तं जातुं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः।।

13. निरूक्त, 1.4, आचार्यः कस्मात्। आचार्य आचारं ग्रह्यति।

14. मनु., 2.140,

उपनीय तु मः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः।

संकल्पं सरहस्यं च तमाचार्य प्रचक्षते।।

15. व्यास., वेदैकनिष्ठ धर्मज्ञं कुलीनं श्रोतियं शुचिम्।

स्वाशाखाज्ञमनालस्यं विप्रं कर्ता रमीप्सितम्।।

16. मनु., 2.141, एकदेश 'तु वेदस्य वेदागन्यपि वा पुनः।

योऽध्यापयति वृत्यर्थमुपाध्यायः स उच्चते।।

17. वही, 2.142, निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि। सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरूच्यते।।

18. श. ब्रा., 4.2.4.1

बृ. उप., 3.3.1

18A. गो.ध.सू., 2.50

18B. महा., शांतिपर्व, 108.17

18C. विश्वरूप, याज्ञ., 1.15

18D. मेघातिथि, मनु. 3.3

18E. महा. 12.266.14.21

18F. बृह. उप., 6.2.14

19. छां. उप., 5.3.1

20. वृह. उप., 5.2.1,

त्रयाः प्रजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूधुर्देवा मनुष्या असुर उषित्वा।

21. वही, 6.2.1 अनुशिष्टीडन्वसि पित्रेत्योमिति होवाच।

22. प्रा. भा. शिक्षण पद्धति, अल्टेकर, पृ. 27

23. वृह, उप., 6.2.7, वाचाह स्मैव पूर्व उपयन्ति स होपायन कीर्त्योवास।

23A. मत्स्य पुराण का सांस्कृतिक इतिहास, डा. एस.जी. कान्तावाला, पृ. 17

23B. सोमदेव सूरी के ग्रन्थों में प्रतिबिम्बित भारतीय समाज एवं संस्कृति का आलोचनात्मक अनुशीलन, डॉ. प्रदीप केशरवानी पृ. 34

24. छा. उप. 5.3.0, ...

न प्राक् त्वतः पुरा विद्या ब्रह्मणान्गच्छति

तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूत्।

25. प्रा. भा. शिक्षण पद्धति, अल्टेकर, पृ. 31

26. वृह. उप., 3.7.1, ... नाहं तं भगवन् वैदेति ....।

27. प्रश्नो., 6.1, ... नाहमियं वेद यद्यहमिमवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति समूलो वा एव स्थमारूह्य प्रवव्राज।

28. प्रश्नो., 1.1

29. छां. उप., 4.4.5,

कृशानामबलानाम् चतुःशता गा निराकृत्योवाचेमाः

सौभ्यानुसंब्रजेति ता अभिप्रस्थापयन्नुवाच नासहस्त्रेणावर्ते येति।

30. बृह. उप., 6.2.7., हिरण्यास्यापात्तं गौ अश्वानां

दासीनां प्रवाराणां परिधानस्य .....।

तै. उप., 1.4.2, वासांसि मम गावश्य।

अन्नपाने च सर्वदा। ततो मे त्रियमावह।

लोमशां पशुभिः सह स्वाहा।

31. तै. उप., 1.4.3, हस्त्यृषभंसहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः।

स होवाच याज्ञवल्क्यः पितोमेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति।

32. तै. उप., 1.11.2–3

33. बौ. गृ. सू., 2.6

34. सुतसोम जातक, सं. 537

इत्सिग, पृ. 177, इत्सिंग का कथन है कि नालन्दा और वलभी के विश्वविद्यालयों मे ऊँची कक्षाओं के उन्नत शिक्षार्थी अध्ययन –अध्यापन के निमित्त दो–तीन वर्ष बिताते थे।

35. छां. उप., 5.3.6, 5.11.5

बृह. उप., 5.3.6., 3.7.1, 3.7.23

36. यावज्जीवमधीते विप्रः।

37. म. भा, 5.33.33, प्रवृत्तवाक् चित्रकथः ऊहवान् प्रतिभानवान्।

आशु ग्रंथस्य वक्ता चयः स पंडित उच्यते।।

38. मालविकाः प्रथमांक, शिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रांतिरन्यस्य विशेषरूपा। यस्योभ्य साधु सशिक्षकाणाम् धुरि प्रतिष्ठापतिव्य एव।।

39. क. उ., 11.9, नैषा मतिस्तर्केणापनेया प्रोक्तान्येव सुज्ञाताय प्रेष्ठ।

मु. उ., 1.2.3, तद्विज्ञानाय गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रेत्रियं ब्रह्मनिष्ठं।

40. प्रश्नो. 6.1, नाहमिमं वेद। यद्यहमिमवेदिष कथं ते नावक्ष्यमिति। समूलों वा एष परिशुष्यति योऽनृमभिवदति तस्मान्नाहम्यिनृतं वक्तुम्।

41. तै. उप., 1.9.1, ऋतं च स्वाध्याय प्रवचने। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने। तपश्च स्वाध्यायप्रवचनेचा दमश्च स्वाध्याय प्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्याय प्रवचने च।.......................

स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तपः तपस्तद्धि तपः।।

42. आ. ध., 1.2.8.24–27, 1.1.11–12

43. मालविका., 1, शिष्टा क्रिया कस्यचिदा संक्रांतिन्यस्य विशेषरूपा।

यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापदयतव्य एव।।

44. मालविका; 1.11.32

45. महा. उद्योग पर्व, 44.6,

आचार्य योनिमिह ये प्रविश्य भूत्वा गर्भे ब्रह्मचर्यम् चरन्ति।

इहैव ते शास्त्रकारा भवंति।।

46. आ. ध. सू., 1.2.8, पुत्रमिवैनमभिनकांक्षन्।

महावग्ग, 1.32

47. पंचतंत्र, 1.21, अतीत्य बंधूनवलध्य शिष्यानाचार्यमागच्छति शिष्य दोष.।

48. मिलिन्दपन्ह, भाग–1, पृ. 142

49. इत्सिंग पृ., 120, इत्सिंग के वर्णनो से ज्ञात होता है कि बौद्ध विहारों में भी यही परम्परा विद्यमान थी।

महावग्ग, 1.2.6, स्वयं बुद्ध द्वारा निर्देश दिये गये थे।

50. गो. ब्रा., 1.1.37, मौद्गल्य से पराजित होने पर मैत्रेय ने तत्काल अपनी पाठशाला बन्द कर ज्ञान की पूर्णता प्राप्त करने हेतु वह अपने प्रतिद्वन्दी का शिष्यत्व स्वीकर किया था।

शकर और मंडन मिश्र बीच हुए के शास्त्रार्थ की शर्त यह थी कि पराजित को विजयी का शिष्यत्व स्वीकार करना पड़ेगा।

51. वीर मित्रोदय संस्कार प्रकाश में उद्धृत कूर्मपुराण का वचन।

संवत्सरोषिते शिष्ये गुरुर्ज्ञानमनिर्दिशन्।

हरते दुष्कृतं तस्य शिष्यस्य वसतो गुरु।।

अध्यापन 6 माह या साल भर तक छात्रों के चरित्र और उसकी योग्यता पर ध्यान रखते थे। किन्तु, इस अवधि के उपरान्त वे उन्हें पढ़ाने के लिये बाध्य होते थे। ऐसा न करने पर अध्यापक पाप का भागी समझा जाता था।

52. स्मृतिकौस्तुभ में एक कथा मिलता है कि एक वैदिक अध्यापक ने अपना ज्ञान अपने तक ही सीमित रखा, जिसके लिये उसे अगले जन्म में आम का पेड होने का शाप दिया गया।

"सचूत वृक्षो विप्रोऽभूद्विद्वान्चै वेदपारगः।

विद्या न दत्ता विप्रे भ्यस्तेनैव तरूतां गतः।" इस कथा में उध्यापक का बड़ा ही शिष्ट उपहास किया गया है।

3. मिलिन्दपन्ह, 1 पृ, 142

54. आ. ध. सू., 11.8–28, आचार्यौऽप्यनाचार्यो भवति श्रुतात्परिहरभाजः।

55. फर्दर डाइलॉग्स् ऑफ दि बुद्ध अरियपरिवेसन सुत्त, पृ. 116

प्रश्नो., 6.1 नाहमिद वेद। यद्यवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति।

समूलो वैष परिशुष्यति योऽनृतमभिभवति।।

ऋषि भारद्वाज ने अनुभव किया कि उसके शिष्य राजकुमार को शंका हो गयी है कि मैं उससे कुछ छिपा रहा हूं। राजकुमार के प्रति भारद्वाज के वचनों की तुलना अलार कलाम के वचनों से की जा सकती है।

56. बृ. उप., 9.2.4

छां. उप., 5.11.5

57. क. उप., 1.1.9

58. मु. उप., 2.1.1, तथा क्षराय विविधा. सौम्य भावाः प्रजायन्ते।

59. बृ. उप., 3.7.1 .... तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत् कबन्ध आथर्वन इति सोऽब्रवीत् पतंजलकत्यं याज्ञिकां ....।

60. छां. उप., 6.12

61. महावग्ग, 1.32.1

62. आ. ध. सू., 1.2.8

63. कृत्यकल्पतरू, ब्रह्मचारी कांड, पृ. 240–242

64. कादम्बरी, पृ. 77

65. रामायण, सर्ग 93

66. महा., आदि पर्व, 130–40–42

67. बौ. ध. सू., 2.1.27, गुरु प्रयुक्तश्चेन्म्रियेत (शिष्यः) श्रीन्कृच्छांश्चरेत्। यदि अध्यापक किसी काम से शिष्य को बाहर भेजता तो उसकी सुरक्षा की जिम्मेदारी उसी पर होती थी। दुघर्टना होने की स्थिति में उपराध उसी का माना जाता था।

आ. ध. सू., 1.2.8, न चैनमध्ययन विध्नेन आत्मार्थेषूपरून्ध्यादनापत्सु।

68. महावग्ग, 1.32.1

69 अकारण गुरु का परित्याग करने वाले शिक्षार्थियों को पतंजलि ने तीर्थकाक की संज्ञा दी है। ''यो गुरुकुल गत्वा न चिर तिष्ठति च उच्यते तीर्थ–काक इति।''

रामायण भाग–1 पृ. 391, उत्तर रामचरित, 2 में आत्रेयी को वाल्मीकि के आश्रम से आगस्त्य के आश्रम मे जाते हुए दिखलाया गया है। और इसका कारण बतलाया गया है कि आत्रेयी अध्ययन में लव–कुश की बराबरी नहीं कर पा रही थी। विदित है कि यदि कोई शिक्षार्थी एक विषय को छोड़कर दूसरा विषय पढना चाहता था तो वह संबंधित विषय विशेषज्ञ आचार्य के यहां चला जाता था।

70. सिलमिवंश जातक सं. 305 तथा महावग्ग जातक सं. 374 में शिष्य को गुरु कन्या का पाणिग्रहण करते हुए दिखलाया गया है, क्योंकि इसके अतिरिक्त उसके पास कोइ दूसरा चारा नहीं था। यद्यपि वह इस विवाह के विरूद्ध था।

71. निरुक्त, 2.4, तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मैं न द्रुह्यत्कतमच्चनाह।

72. महा., उद्योगपर्व, 44.6-20

73. मनु., 2. 114–15

74. वही, 2.169–70, तत्र पद् ब्रह्मजन्मास्य मौंजीबन्धन चिन्हितम्।
तत्रास्य माता सावित्री 'पितात्वाचार्य उच्यते।।

75. प्रश्नो., 6–8, ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारां तारयसीति।

76. बृ. उप., 4.2.4

77. छां. उप., 3.11.5–6 इदं बाव तज्जयेष्ठाय, पुत्राय पिता ब्रह्म प्रयब्रुयात्। प्राणाय्याम वान्तेवासिने। नान्यस्मै कस्मैचन।

बृ. उप., 6.3.12, तने तन्नापुत्राय वानन्तेवासिने वा ब्रूयात्।

78. अष्टाध्यायी, 4.4.62

79. रघुवंश, 3.29

80. वृतान्त, पृ. 117–20

81. वृतान्त, पृ. 105–6

हर्षचरित, सर्ग–2

82 कत्यकल्पतरू, ब्रह्मचारीकांड, 199–201, 210–27, 240–43

82A. लज्जा राम तोमर, भारतीय शिक्षा के मूल तत्व, पृ. 27.1

83. आ. ध. सू., 1.2.8.22

84. जातक सं., 130

85. वही, 185

85A. वैखानस धर्म–प्रश्न, 35.13.2.62

86. छां. उप., 5.11.7, 8.7.2, ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्लादमुपसन्नाः। प्रश्नो., 1.1

द्रष्टव्य स्वामी विवेकानन्द : शिक्षा, नागपुर, पृ. 32, इनका विचार है कि शिष्य गुरू के पास समित्यानि होकर (हाथ में समिधा लेकर) जाता था।

87. छां. उप., 4.2.1, जानश्रुति पौत्रायणः षट्शतानि गवा निष्टकमश्वतरीरथं तदादाय प्रतिचक्रमके तंहाभ्युवाद।

88. वही, 4.2.3., शा.भा. तमु ह परः प्रत्युवाचाह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्त्वाति ....।

89. वृह. उप., 4.1.6, ... याज्ञवलक्यः पिता मेऽमन्यत नाननु शिष्यहरेतेति।

90. विष्णु पुराण, 1.17.48–54

91. अथर्व., 11.3.15

92. जातक, 1, पृ. 272.285 ; 4 पृ.50, 224

93. रघुवंश, 3.31

94. विष्णु पु., 3.10.13, गृहीतविद्यो गुरवे दत्वा च गुरुदक्षिणाम्।

95. वही, 5.21.4, उचुर्व्रियतां या ते दातव्या गुरुदक्षिणा।

96. वही, 6.6.39, 38.45-47, खाण्क्यिाय न दत्तेति मया वै गुरुदक्षिणा।

97. मनु., क्षेत्र हिरण्यं गामशवं छत्रोपान हमासनम्।

धान्य शाकं च वासांसि गुरवे प्रतिमावहेत्।।

98. मत्स्य पु., 69.25–47, पूज्येदगुलीभिश्च कटकै र्हेमसूत्रकैः वसोभिः .... उपाध्यायस्य च द्विगुणम्।

99. महाभारत, आदिवपर्व, 133.2–3

100. छां. उप., 3.11.6, नान्यस्मै कस्मैचन यद्यप्यस्मा इमामद्भि. परिगृहीता धनस्य पूर्णां दद्यादेतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति।

101. अपरार्क, पृ. 76

102. मनु., 3.156, शंख, 3.2, वि. ध. सू., 29.9

103. गौ. ध. सू., 10.9–12, वि. ध. सू., 3.79–80

104. बृह. उप., 4.1.6 छां. उप., 4.2.1

105. मिलिन्द पण्हो, 1, पृ. 134–35

106. जातक, 5, पृ. 263, 3 पृ. 238, 5 पृ. 247.127

107. माल वि., पृ. 17, वेतन दानेन

108. वही, 1.17, यस्यागमः वेतन जीविकार्य तं ज्ञानपण्यं वणिजं ददन्ति।

109. वसुकृत इंडियन टीचर्स इन बुद्धिस्ट युनिवर्सिटीज पृ. 35

110. जातक, 1–6

111. राजत रंगिणी, 8.2395–99

112. इपि. इं., 2, पृ. 227

112A. मानसोल्लास, 84, पृ. 12

113. ऋग्वेद, 10.71.9, 9.112.1

114. छा. उप., 8.7.3–15

115. छां उप., 6.1.1, द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विशतिवर्षः सर्वान् वेदानधीत्य महामनाअसूचानमानो स्तब्ध एयाय।

116. छा. उप., 4.10.1, उपकोसलो हवै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास तस्य ह द्वादशवर्षाण्यग्रीन परिचचार स ह स्मान्या नन्तेवासिन· समावर्तनयंस्तं ह स्मैव न समावर्तयति।

117. छां. उप., 2.23.1

118. छा. उप., 6.1.1

119. वैदिक इंडेक्स, खण्ड–1, पृ. 23

120. प्रश्नो, 1.2 ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ ....।

121. गीता, 4.39, श्रद्धावान लभते ज्ञानम् ....।

122. कठोप., 1.2.4 विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहुलोऽलुपन्त।

123. छा. उप., 4.4.5

124. छां. उप., 4.10–1-2

125. बृह. उप., 3.1.1–2, जनको ह वैदेहो सामश्रवा इ इति ता होदाचकार।

126. तै. उप., 1.4.3, एवं मां. ब्रह्मचारिणो धातरायान्तु सर्वतः।

127. दृष्ठव्य, आचार्य का आदर्श

128. तै. उप., 1.11.1–4

129. बृह. उप., 3.7.1, मद्रेत्त्ववसाभ पतचलस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधी याना।

130. वैदिक इंडेक्स, प्रथम खण्ड पृ. 258 तथा हिन्दू सभ्यता पृ. 109

131. काशिका, 8.3.86 ब्रह्मवेदस्तदध्ययनार्थ व्रतं तदपि ब्रह्म। तच्चरतीति ब्रह्मचारी।

132. अथर्व., 11.5–9, गो. गृ. सू., 2–10, द्रा. गृ. सू., 2.5–16, मनु., 1.65

133. गो. ध. सू., 5.16, विष्णु पुराण, 3.95, भिक्षान्नमश्नीयात्।
द्रष्टव्य : लज्जाराम तोमर, भारतीय शिक्षा के मूलतत्व, पृ. 27.2 इनका विचार है कि राजा के पुत्र से लेकर निर्धन शिक्षार्थी तक सभी भिक्षाटन के लिये नित्य जाते थे। गृहिणी माताएँ ब्रह्मचारियों की प्रतीक्षा करती रहती थी, क्योंकि उनके हृदय में यह भाव था कि हमारा पत्र भी इसी प्रकार किसी अन्य गृहिणी से भिक्षा की याचना कर रहा होगा।

134. मनु., 2.56.6, सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं स्मृतिनोदितम्।
नान्तरा भोजनं कुर्यादग्नि होलसमोविधिः।।

135. आश्व. गृ. सू., 1.22.2, का. गृ. सू., 41.17, गो. गृ. सू., 3.108–76

136. व. ध. सू., 7.4.17, गौ. गृ. सू., 1.3.4–5.8, आचार्याधीनत्वमानतम्।।
गुरोः कर्मशेषण जपेत।। एवं वृत्तो ब्रह्मलोकमवाप्नोति जितेन्द्रिय.।।

137. महा. शांति पर्व, 214–7, यदिदं ब्रह्मणों रूप ब्रह्मचर्य मिदं स्मृतम्।
पर तत् सर्वधर्मेन्यस्तेन यान्ति परांगतिम्।।

138. बौ. गृ. सू., 1.2., 21–22.25, सत्यवादी हिमाननहंकारः।।
पूर्वोत्थायी .... ।।
नृत्यगीतवादित्रगन्धमाल्योपानच्छ त्रधारणाञ्जनाभ्वर्जी।।
आ. ध. सू., 1.1.3–10, प्रेक्षेत नग्नौ स्त्रियं।। न स्मयेत।। नोपजिध्रेत स्त्रियं मुखने।। न हृदयेन् प्रार्थयेत्।। नाकारणादुपस्पृशेत्।।

139. अर्थशास्त्र, 1.3, ब्रह्मचारिणस्सवाध्यायोऽग्नि कार्य भिषैको भैक्षव्रतत्वमाचार्ये प्राणन्तिकी वृत्तिस्तदभावे गुरुपुत्रे सब्रह्मचारिणि वा।

140. वही, 2.88–92, स्त्रियाणां विचरतां विषयेत्वपहारिषु। संयमे यत्नमतिष्ठे द्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम।। इंद्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्संशयम्। संनियम्य तु तान्यवे ततः सिद्धि नियच्छति।।

141. विष्णु पु., 1.6.33, वर्णानामाश्रमाणं च धर्मन्धर्मभृतांवर।
लोकांश्च सर्ववर्णानां सम्यगधर्मानुपालिनाम्।।

142. ऋग्वेद, 10.109.5, ब्रह्मचारी चरति वे विषद् विषः सः देवानः भवत्येकमंगम्
वही, 2.1.2 .... ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे।
वही, 8.39, येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविच।

143. ऐ. ब्रा., 35.2, तै. सं., 6.2.75, श0 ब्रा. –
ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्।
गृही भूत्वा वनी भवेत् वनीभूत्वा प्रव्रजेत।।

144. बृह. उप., 4.5.2, मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः प्रव्रजिष्यन् वा अरेऽ हमस्मात् स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति।

145. जा. उप., 4

146. महा. शांति पर्व, 191.8, ब्रह्म पु., 2.7.169, वायु पु. 8.168–69, ततः स्थितेषु वर्णेषु स्थापयामास चाश्रमान्।
गृहस्थो ब्रह्मचारित्वं वानप्रस्थं सभिक्षुकम्।।

147. ब्रह्मांड पु., 2.7.170–71, वायु पु., 8.170-71
कृत. कर्माक्षिति प्राहुराश्रमस्थानवासिनः।
ब्रह्मा तान् स्थापयामास आश्रमान्नामनामतः।।

148. छा. उप., 2.23.1

149. आ. ध. सू., 2.1.21.1, ब. ध. सू., 7.1.2, गो. ध. सू., 1.3.2, ब्रह्मचारी गृहस्थोभिक्षुर्वैरवानसः।

150. व. ध. सू., 7.1.2, बौ. ध. सू., 2.11.14 ब्रह्मचारी गृहस्थो वानप्रस्थः परिव्राजक इति।

151. महाभाष्य, 5.1.124

152. मनु, 6.87, ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एते गृहस्थ प्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमा।।

153. याज्ञ., 1.10–14

154. स्वामी विवेकानन्द, 'शिक्षा', नागपुर, पृ. 15

155. श्री अरविन्द, शिक्षा के आयाम, पृ. 47

156. महा. शान्ति पर्व, 191.8

157. संस्कार प्रकाश, पृ. 334

158. बौ. गृ. सू. , 2.8.1.12

159. ब. ध. सू., 2.6, न ह्यस्मिन्विद्यते कर्म किंचिदामौजिबन्धनात्। वृतया शूद्रसमो ह्येष यावद्वेदे न जायत्।।

160. आ. ध. सू., 4.10.4, बसन्तो ग्रीष्मश्शरदित्यृतवो वर्णाननुपूर्व्येण।।

161. बौ. ध. सू., 1.2.12, गायत्या ब्राह्मणमसृजत त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वैश्य न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्यसस्कार्यो विज्ञायते्।।

162. वही, 2.8.11.2

163. वि. पु., 3.9.1, बाल कृतोपनयनो वेदाहरणतत्पर.।
गुरुगृहे वसेद्भूप ब्रह्मचारी समाहितः।।

164. आ. गृ. सू., 3.8.11

165 गो. गृ. सू., 2.1.19

166. बौ. गृ. सू., 25.7.8 यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं।

167. गौ. गृ. सू., 1.15, आश्व. गृ. सू., 1.19.11, बौ. गृ. सू. 25.13, आ. गृ. सू, 1.33–36
मौजी मेखला त्रिवृद् ब्रह्मणस्य शक्तिविषये दक्षिणावृत्तानाम्।
ज्या राजन्यस्य। मौजी वाऽयोमिश्रा। अन्वीसूत्रं वैश्यस्य।

168. आश्व. गृ. सू., 1.19.8, बौ. गृ. सू., 2.5.16, ब.ध.सू., 11.61–63, आ. ध. सू., 1.2.39–41

169. बौ. गृ. सू., 1.2.42, वि. पु., 3.9। बालः कृतोपनयनो वेदाहरणतत्परः।
गुरुगृहे वसेदभूय ब्रह्मचारी समाहितः।।

170. महा. शांतिपर्व, 214.10, सम्यगवृत्ति ब्र्रह्मलोकं प्राप्नुयान्मध्यमः सुरान्।
द्विजाग्रयो जायते विद्वान् कन्यसी वृत्तिमास्थितः।।

171. याज्ञ., 49.51, गुरवे तु वरं दत्वा स्नायाद्व तदनुयज्ञया।
वेदं ब्रतानि वा परं नीत्वा हयुभयमेव वा।।

172. मनु, 2.245, न पूर्व गुरवे किंचिदुप कुर्वीत धर्मवित्।
स्नास्यंस्तु गुरुणाऽऽज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरते्।।

173. मनु, 2.243–44, यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत् गुरोः कुले।
युक्तः परिचरेदेनमाशरीरविभोक्षणात्।। आ समाप्ते शरीरस्य यस्तु शूश्रूषते गुरुम्।। स गच्छत्यंजसा विप्रोः ब्राह्मणः सद्म शाश्वतम्।।

174. याज्ञ., 49.50, नैष्ठिको ब्रह्मचारी तु वसेदाचार्यसंनिधौ। अनेन विधया देहं सादयन्विजितेन्द्रियः। ब्रह्मलोकमवाप्नोति न चेहाजायते पुनः।।

175. हारीत स्मृ; 3.13–14 न विवाहो न सन्यासो नैष्ठिकस्य विधीयते। इमं योविधिमास्थाय त्यजेद्देहमतन्द्रितः।नेहभूयोऽपिजायेत ब्रह्मचारी दृढव्रत।

176. पाणिनि, 4.3.130, दण्डमाणवान्तेवासिषु।

177. बृह. उप., 47.7., तै. उप. 1.11.1, छा. उप., 2.23.2, आचार्याकुलवासिन्, अन्तेवासिन्। आ. धू. सू. 11.33, नाम्ना तदन्तेवासिनं गुरुमप्यात्मन इत्येके।

178 बील, पृ. 105–6

179. महाभाष्य, 5.1.94

180. हरित स्मृति, 3.15 ये ब्रह्मचारी विधिना समा हितश्चरेत् पृथिव्यां गुरुसेवने रतः। सं प्राप्य विद्यामति दुर्लभां शिवा फलञ्च तस्या. सुलभं तु बिन्दति।।

181. अष्टाध्यायी, 4.4.107, समानतीर्थेवासी।

182. निरुक्त, 2.3, नानुपसन्नाय अनिदंविदे वा। नित्यं ह्मविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूया। उपसन्नाय तु विर्ब्रूयात्। यो बालं विज्ञातुं स्यात् मेधाविने तपस्विने वा।

183. मनु., आचार्य पुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः।
आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दर्शधर्मतः।

184. मालविका, पृ. 19

185. क. उप., 1.1.20–29, तिस्त्रो एत्रीर्यदवात्सीगृहे ये अनश्नन्ब्रहान्नतिथिर्नमस्यः। नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन्चरान्वृवीष्व।।

186. मत्स्य पु., 35.19, शीलदाक्षिण्यमाधुर्येराचारेण दमेन च।

187. विष्णु पु. 5.21.23, विचिन्त्य तौ तदा मेने प्राप्तौ चन्द्रदिवाकरौ।
सांगांश्च चतुरौ वेदान्सर्व शास्त्राणि चैव हि।।

188. मनु., 2.112, धर्मार्यौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा।
तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे।।

189. महाभाष्य, 1.1.56, गुरुववदस्मिन् गुरुपुत्रेऽपि वत्तितव्यमन्य त्रोच्छिष्टभोजनात् पादोपसंग्रहणाच्छ। यदि च गुरुपुत्रो ऽपि गुरुर्भवति तदपि कर्तव्यं भवति।

190. ब्रह्माण्ड पु., 4.43.68,' मनु., 2.175, सेवेतेमांस्तु नियमान्ब्रह्मचारी गुरौ वसन्। सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध यर्थमात्मन.।

191. छां, उप., 4.10.14, बृ. उप., 6.3.12, एतमुहैव सत्यकामाजाबालो ऽन्तेवासिभ्यः उक्त्वोवाचापि ....।

192. छां. उप., 4.4.2, सा हैनमुवाच नाहमनेतद् वेद तात्।

यद्गोत्रस्त्वमसि। ब्रहव्हं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे। साहमेतन्नवेद यद्गोत्रस्वमसि। जबाला तु नामाहमस्मि। सत्यकामो नाम त्वमसि। स सत्यकाम एव जाबालो ब्रवीथा इति।

छां. उप., तं हेवाच। नैतदब्राह्मणोविवस्तुमर्हति। समिधं साम्याहरोप त्वानेष्ये। न सत्यादगा इति।

193. छां. उप., 5.11, तान्होवाचाश्वपतिर्वै भगवन्तोऽय कैकेयः संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तं हन्ताभ्यागच्छापेति त हाभ्याजग्मुः।

194. बृह. उप., 6.2.4

195. वही, 2.1, स होवाच गार्ग्यः – उप त्वायानीति।

स होवाचाजात शत्रुः – प्रतिलोमं चैतद् यद् ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयाद् ब्रह्म मे वक्ष्यतीति। व्येवत्वा क्षपयिष्यामीति।

कौ. उप., 4.1

196. कौ. ब्रा., छो. उप. 4.1–3, मै. उप.

197. आ. गृ. सू., 3.8, अनुलेपनेन प्राणी प्रलिप्य मुखमग्रे ब्रह्मणोऽनुलिम्पेत, बाहूराजन्यः, उदरं वैश्यः उरू सरणजीविनः

198. सुत्तनिपात

199. उत्तराध्ययन, 12.1

200. अष्टाध्यायी, 5.2.134

201. मनु. 2.175 .... याज्ञ. 1.28 .... गौ. ध. सू. 1.22 .... द्रा. गृ. सू. 2.5 आदि।

202. जुन्ह जातक की कथा है कि काशी के राजकुमार से एक ब्राह्मण का भिक्षापात्र टूट गया। उसने प्रतिज्ञा की कि मै बदले में इसे दूसरा भिक्षा–पात्र दे दूंगा, पर यह तभी संभव है जब मैं अपने देश लौट जाऊं। इससे सिद्ध होता है कि उन्हें जेब खर्च नहीं मिलता था। जातक भाग 5 पृ. 456

203. न ग्रामो पान्हौ–द्रा. गृ. सू. 5.1

204. तिलमुट्ठि जातक सं. 152 में काशी से तक्षशिला जाने वाले ब्रह्मचारियो को जूता और छाता ले जाते हुये दिखलाया गया है।

205. 11वी शती के तिरुभुखुइल के विद्यार्थियों को यह सुविधा दी जाती थी। ए.इ. जिल्द 21, पृ. 223

206. मनु., 2.133, विद्ययैव समंकामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना।

आपद्यपि हि धोरायां न तवेनामिरिने वपेत्।।

207. पाणिनि, 2.1.41, यो गुरुकुलानि गत्वा न चिरं तिष्ठति स उच्यते ..... तीर्थकाक इति।

208. आ.ध. सू. 1.2.8.30

209. मनु., 2.159, अहिंस भैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।

वाक्चैव मधुरा श्लषणा प्रयोज्या धर्ममिच्छता।।

210. गौ. ध. सू., 1.2.48.53, शिष्यशिष्टर वधेन। अशक्तौ रज्जु .... वेणुविदलाभ्याम्। अन्येन नन् राज्ञा शास्त्रः।

211. तिल्मुत्थि जातक, सं. 52

अरिया, अनारिथं कुब्बानं यो दंडेन निसधपि।

सासनत्थं न तं वेरं इति न पंडिता विदुः।।

212. तैत्तिरीय संहिता, 6.4.3

ऐतरेय ब्रा., 2.15

213. जातक, सं. 150

214. मनु, 2.200, चरक संहिता विमानस्थान, 8.4, तमग्निवच्च देववच्च राजवच्च पितृवच्च मातृवच्चाप्रमतः परिचरेत्।

215. महावग्ग, 1.25, 11.21

216. आ. ध. सू., 1.2.6.13, प्रमादानाचार्यस्य बुद्धिपूर्वक विनित्यांतिक्रमं रहसि बोधयेत्।

217. गौ. ध. सू., 3.1.15, आचार्याधीनो भवति अन्यत्राधर्माचरणात्।

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।।

म. भा, 1.140.54, उत्पथप्रतिपन्नस्य न्याय्यं भवति शासनम्।।

218. अथर्व., 11.3.15, शिष्यपाप गुरोरपि।

219. वही, 11.5.84, ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजर विभर्ति।

तस्मिन् देवा अधि विश्वे निदेषु।

220. वही, 115.17, म. पु. 25–23, ब्रह्मचर्य चरिष्यामि त्वय्यह परम गुरो।

221. तै. उप., 2.1 ब्रह्मविद्याप्नोति परम्। तदेषाभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद मिहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेपि।, तस्माद्वा एत स्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्य पृथिवी। पृथिव्या औषधयः। औषधीभ्योऽन्नम्। अन्नापुरुष.। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।

222. छा. उप., 4.3.5, 4.10.2., 4.4.5

श. ब्रा., 3.6.2.15

223. श. ब्रा., 11.5.4.5

224. मनु, 2.97, वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसिच।

न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छति कहिंचित।

225. वही, 2.99, इंद्रियौणां तु सवेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।

तेनाष्य क्षरति प्रज्ञा हतेः पादादिवोदकम्।

226. महाभारत, आदिपर्व, 3.21—30, 3.79, 3.34—37.51 अश्वेयधिज पर्व, 55.15—16

227. अथर्व., 6.108.2, 133.3, आचार्य तपसा पिपर्ति मनु., 2.192—201 द्रष्टव्य : लज्जाराम तोमर, भारतीय शिक्षा के मूल तत्व, पृ. 27.2 इनका विचार है कि जो ब्रह्मचारी समावर्तन तक अग्नि की सेवा, भिक्षाचरण, पृथ्वी पर शयन, गुरू की सेवा और उनका हित करता था, वही श्रेष्ठ ब्रह्मचारी माना जाता था।

228. जातक, सं., 252

229. रघुवश, 3.31, 1.95, 3.31

230. शब्दानुशासन, 21.31, वयं दिनीतास्तन्नो गुरवो मानयन्ति युवां शीलवन्तो तद्वां गुरवो मान्यन्ति, आवां शीलवन्तौ तन्नौ गुरवो मानयन्ति।

2.1.33 एते मेधाविनो विनीता अथो ऐते शास्त्रस्य पात्रम् एतस्मै सूत्रं देहि एतस्मै अनुयोगमति देहि।

231. विक्रमोर्वशी; 5

232. म. पु., 211-21, आचार्यो ब्राह्मणो मूर्तिः।

233. महावग्ग, 1.25.11—12

234. महाभारत, 5.36.52, गुरु शुश्रूषया ज्ञानं शांति योगेन विदन्ति।

235. मनु., 2.191, चोरितो गुरुणानित्यम प्रचोदित एव वा।

कुर्यादध्ययनं यत्नमाचार्यस्य हितेषु च।।

236. ग्यारहवीं शती का भारत, पृ. 168

237. मनु, 2.218, यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।

तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति।।

238. हर्षचरित्, पृ. 45, वन्दित चरणै रम्यनुज्ञातो गुरुभिः।

239. जातक, 5.456

240. पुत्रवद्दासवदर्थिवच्चानुचरता त्वया ....।

241. म.ब्र., 1.25, 11—12

242. वही, 1.25, 2 गुणग ज़ातक स. 157

243 गो. ब्रा., 1.2.1–8

244 महा. 5.36.52 गुरु शुश्रूषया ज्ञान शांति योगेन विन्दति।

245 तिलभुट्ठिजातक, सं. 252 धम्म तेवासिका आचारियस्स कम्मं कत्वारत्ति सिप्पयुग्गणहन्ति आचारियभागदायका गेहे जेट्ठपुत्ता विय हत्वा सिप्पमेव उग्गणहन्ति। हिन्दू धर्मशास्त्रों में ऐसा भेद नही किया गया है।

246. तत्मिंकुसु–इसग, पृ. 106

247. आ. ध. सू., 1.4.13.17, न समावृज्ञे समादेशोविद्येते।
ब्रह्मणि मिथो विनियोगे न गतिर्विद्यते। ब्रह्म वर्धत इत्युपदिशन्ति।

248. अथर्व. 11, 5–9, गो. गृ. सू. 2–10, द्रा गृ0 सू., 2.5–16, मनु., 1.65

249. अथर्व. 10.5.9, श. ब्रा., 11.3.3.5, ब्रह्मचारी अहरीर्भूत्वा भिक्षते।
गो. गृ. सू. 2.10, जै. गृ. सू., 1.18, आ. ध. सू., 1.1–3.24–5

250. मनु, 2.184

251. वही, 2.183–185, सर्व वाऽपि चरेद् ग्राम पूर्वोक्तनाम संभवे।
नियक्य प्रयतो वाचमभिशस्वांस्तु वर्जयेत्।।

252. स्मृति चंद्रिका, पृ. 111, शाकभक्षा. पयोपक्षाः ये चान्ये यावभक्षिणः। सर्वे ते भैक्षभिक्षस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्।।

253. विष्णु पु.: 3-11: 80

254. वायु पु., 8.174, गुरु शुश्रूषण भैक्षं ब्रह्मचारिणः।

255. गो. ध. सू., 5.16, विष्णु पु., 3.95, भिक्षान्नमश्नीयात्।

256. विष्णु स्मृति, 59.27, ब्रह्मचारी यतिर्भिक्षु र्जीवन्त्येत्रे गृहाश्रमात्।
तस्मादभ्यागतानेतान्गृहस्थो नावमान्येत्।।

257. आ. ध. सू., 1.1.26, 1.2.24–25, स्त्रीणां प्रत्याचक्षाणानां समाहितौ ब्रह्मचारिष्टं। दतं हुतं प्रजां पशून ब्रह्मवर्चसमन्नद्यावृंके। तस्मादु हवै ब्रह्मचा0रिसघं चरन्तं न प्रत्याच क्षीतापि हैत्वेवषिध एवव्रतः स्यादिति हि ब्राह्मणम्।।

258. वी. मि. सं. में मनु का वचन, आहारदधिकं वर्णो न क्वाचिद्भैक्षमाचरेत।

युज्यते स्तेयदोषेण कामतोऽधिक माहरन्।

259. आ. ध. सू., 1.3.3, यदन्यानि द्रव्याणि यथालाभमुपहरति दक्षिणा एव ताः।

260. बौ. ध. सू., 2.1.53, शं. ब्रा., 11.3.3.7, समावृतस्य भिक्षाऽशुचिकरा।

261. आ. ध. सू., 2.7.15, समावृत्तो मात्रे दयात्। माता पितरम्। भर्त्ता गुरुम्। धर्मकृत्ये वा विनियोज्यते्। रघुवश में कौत्स की एक प्रसिद्ध कथा है। गुरु दक्षिणा के निमित्त एक स्नातक महाराज रघु के पास गया। उन्होने उसे जो धन दिया, वह गुरु दक्षिणा से अधिक था। वस्तुतः स्नातक अधिक धन लेने के लिये तैयार नहीं हुआ।

262. बौ. ध. सू., 1.2.82

263. बौ. ध. सू., 1.2.52, न चैन सप्तम्यभिक्षिता यायात्।

264. स्मृतियो में इस बात के संकेत मिलते है जिनसे ज्ञात होता है कि सभी छात्र भिक्षा नही मांगते थे।

वी. मि. सं., पृ. 486, सुमन्तु का कथन है कि 12 वर्ष से कम आयु के शिक्षार्थियों को प्रातः ही खाना खा लेना चाहिए। इससे बड़े आयु के छात्रों को ही अन्न की भिक्षा में मांगना चाहिए।

अश्नीयादष्टवर्षस्तु ब्रह्मचारी प्रगे सदा।

तदूर्ध्वमाद्वादशाब्दा दशनीयात्संगवे सदा।।

तदूर्ध्व गृहिवद्भिां भोजनं च समाचरेत।।

कृष्णार्जिन भी इसी मत के समर्थक थे।

265. मा. गृ. सू., 1.1.3, भैक्षाचार्यवृत्तिः स्यात्।

मनु, 2.142

266. लोसक जातक सं., 41 (500 ई. पू.) तथा बर्नियर पृ. 142 (17वीं शती) दोनों धनी नागरिकों द्वारा निर्धन छात्रों को खिचड़ी बाटने का वर्णन करते हैं।

267. बील–जीवनी, पृ. 1131

267A. लज्जाराम तोमर, भारतीय शिक्षा के मूल तत्व, पृ. 27

267B. वही, पृ. 62

268. निम्नलिखित ग्रंथो से ली गयी है– वीर मित्रोदय, संस्कार प्रकाश, पृ. 321, याज्ञवल्क्य स्मृति पर अपरार्क की टीका, 1–13, स्मृति चन्द्रिका, संस्कार काण्ड, पृ. 67

269. अपरार्क, पृ. 30–31, स्मृति चन्द्रिका, 1, पृ. 26

270. संस्कार प्रकाश, पृ. 221–25, सस्कार रत्नमाला, पृ. 904–7

271. वीरमि., सस्कार प्रकाश, द्वितीय जन्मनः पूर्वमार भेताक्षरासुधीः।

272. विश्वामित्र, वृहस्पति, मारकण्डेय आदि ग्रथों, मे उद्धृत, जो लगभग 6वी–7वीं शताब्दी की है।

273. अर्थशास्त्र, 1.2, वृत्तचौलकर्मा लिपि संख्यानं चोपयुंजीत्।

274. रघुवंश, 3.7

सवृत्तचौलश्चल काक पक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः।

लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वांगमय नदीमुखेनैव सभुद्रमाविशत्।।

275. उत्तर राम., अंक, 2, लवकुशयोर्निवृत्त चौलकर्मणोश्च

तयोस्त्रयीवर्जमितरातिस्नो विद्या सावधानेन मनसा परिनिष्ठापिता.।

276. आ. गृ. सू., 16.6, यथर्षि शिखां विदधाति।

वराह गृ. सू., खण्ड–4, दक्षिणेन कपर्दो वशिष्ठानां अभय तोऽत्रिभार्गव काश्यपानां पंचचूडा आंगिरस्तम्।।

277. राजबली पाण्डेय, हिन्दू संस्कार, पृ. 99–110

278. संस्कार प्रकाश, पृ. 334

279. बौ. गृ. सू., 2.8.1.12

280. बौ. ध. सू., 2.6, न ह्यस्मिन्विद्यते कर्म किंचिदामौंजिबन्धनात्।

वृत्या शूद्रसमो ह्येष यावद्वेदे न जायत।।

281. विष्णु पु., 4.3.37, कृतोपनयनं चैनमौर्वो वेद शास्त्राणि ... अध्यापयामास।

282. वही, 3.13.39

283 वही, 5.21.19

284. ब्रह्माण्ड पु., 3.35.31.14

285. आप. गृ. सू., 1.15, अशूद्राणाम दृष्ट कर्मणा मुपायनम्। निरूक्त, 2.4.1

286. छांदो., 5–2, मे वर्णित है कि राजा अश्वपति अपने ब्राह्मण छात्रों को वेद पढाने से पूर्व उपनयन से मुक्त कर देते थे, लेकिन यह उनकी विशेष कृपा थी। ब्राह्मण छात्र तो उपनयन के लिये तैयार होकर जाते थे।

287. वीर मि., पृ. 361, उपनयन के समय वैदिक मंत्रों के उच्चारण की कठिनाई को दूर करने के लिए ऐसी व्यवस्था थी कि आचार्य ही बधिर या मूक शिष्य की ओर से मत्रो का पाठ कर दे।
बटुपठनीयानां मंत्राणामाचार्य प्रत्येव पाठो विधीयते।

288. वीर मि., पृ. 545–47, सातातप, पैठोनसि और यमके वचन।

289. आ. ध. सू., 1.1.32, येथा पिता पितामह इति अनुपते तौ स्याम् तेषाभिच्छतां प्रायश्चितम्।

290. बृह. उप., 5.2.1, 6.2.9

291. वही, 6.2.7., वाचा ह स्मैव पूर्वमुपयति।

292. ऋग्वेद, मंडल 10, 109, 3.8, 4.5

293. आ. ध. सू., 4.10.4, वसन्तो ग्रीष्मश्शरदित्यृतवो वर्णाननुपूर्व्येण।

294. बौ. ध. सू., 1.2.12, गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वैश्यं न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कार्यो विज्ञायते।

295. वही, 2.8.11.2, तै. सं., 6.3.10,5, शत. ब्रा., 11.5.4 में उपनयन का विशद वर्णन मिलता है।

296. विष्णु पु., 3.9.1, बालः कृतोपनयनो वेदाहरणतत्परः।
गुरुगृहे वसेदभूप ब्रह्मचारी समाहितः।।
गौ.ब्रा., 1.2.1.8 में ब्रह्मचर्य के अनेक नियमों के मनोरंजक कारण

दिये गये है।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति। 11.5.17

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। 11.5.18

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाध्नत। 11.5.19

स दाधारपृथ्वीं दिव च। 11.5.1, 6.138

297. आ. गृ. सू., 3.8.11

298. गो. गृ. सू., 2.1.19

299. पा. गृ. सू., 2.2, अष्टमवर्ष ब्राह्मणमुपनये दगर्भाष्ट मे वैकादशवर्ष वैश्यं यथा मंगलं वा सर्वेषाम्।

आश्व. गृ. सू., 1.19.1-6, बौ. गृ. सू., 2.5 आ. गृ. सू., 11

300. मनु., 2.36, गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मण स्योपनायनम्।

गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात् द्वादशो दिशः।

याज्ञ., 1.11, गो. ध. सू., 1.6.12, उपनयनं ब्राह्मणस्याष्टमे। एकादशद्वादशयोः क्षत्रिय वैश्ययोः।

301. छा. उप., 6.2.1, 6.12

302. जै. गृ. सू., 1.12, गौ. ध. सू., 1.1.7, मा. गृ. सू., 1.22.1

वा. गृ. सू., 6, सप्तमे ब्राह्मणमुपनयीत पंचमे ब्रह्मवर्चसकामम्।

303. जै. गृ. सू., 1.12, सप्तेय ब्राह्मणमुपनयीत पंचमे ब्रह्मवर्चसकामम्।

304. बौ. गृ. सू., 2.55, अष्टमे आयुष्कामं नवमे तेजस्कामं .... त्रयोदशे। मेधाकामं चतुर्दशे पुष्टिकामं .... षोऽशे सर्वकामम्।

305. शत. ब्रा., 11, तां. ह स्मैतां पुरा सवत्सरे अन्वाहः संवत्ससमिता वै गर्भाः।

306. भास (तीसरी शती) और दण्डिन (7वीं शती) के अनुसार यज्ञोपवीत का ब्राह्मणत्व प्रतीक का मानते था।
यज्ञोपवीतेन ब्राह्मणश्चीवरेण रक्तपटः।
अविमारक, अंक–5, भवदंसोपनीतं यज्ञोपवीतं भूसुरभावं द्योतयति।

रघुवश, 11–64

307. वीर मि. स. में आश्वलायन का वचन, पृ. 432

शिक्षार्थियों के लंगोट को कौपीन कहा जाता था। 12 वर्ष की अवस्था के बाद कौपीन पहनना छोडकर वे धोती पहनने लगते थे।

308. वीर मि., 1, पृ. 415

309. वीर मि., स. आश्वलायन का वचन, पृ. 432

वेदत्रयोणावृतोहमिति मन्यते सद्विजः।

द्रष्टव्य : स्वामी विवेकानन्द, 'शिक्षा', रामकृष्ण मठ, नागपुर, पृ. 26 इनका विचार है कि शिष्य गुरू के आश्रम में 'समित्पाणि होकर (हाथ मे समाधि लेकर) जाता था और गुरू उसकी योग्यता का निश्चय करने के पश्चात् उसके कटि प्रदेश में तीन लडवाली भुज–मेखला बांधकर, उसे वेदो की शिक्षा देते थे। यह मेखला तन, मन और वचन को वश में रखने की उसकी प्रतीज्ञा स्वरूप चिन्ह थी।

310. मनु., 2.44, कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत।

शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम्।।

311. आश्व. गृ. सू., 1.12.11, बौ. गृ. सू., 2.5.13, का. गृ. सू., 41.42

312. पा. गृ., सू., 2.1.14

313. अथर्व., 6.133.4, श्रद्धया दुहिता तपसोधिजाता स्वसा ऋषीणा भूतकृतां बभूवः।

वा. गृ. सू., 5, ऋतस्य गोप्त्री तपसश्चरित्री ध्वती रक्षांसि सहमानाऽरातोः।

314. आप. ध. सू., 1.5.15

315. स्मृ. चं. मे याज्ञवल्क्य का वचन, पू. 299

स्नानं दानं तपो होमः स्वाध्यायः पितृतर्पणम्।

नैकवस्त्रो द्विजः कुर्याच्छाद्धभोजन सत्क्रियाः।।

316. गो. ब्रा., 1.2, 1.3

317. भाग. गृ. सू., 1.5 अयं म इध्म आत्मा जातवेदः

तेने ध्यस्व वर्द्धस्व चेन्द्ध वर्द्धय चाहमान्।

318. आश्व. गृ. सू., 1.20.6, देव सवितरेष ते ब्रह्मचारी स मा मृत।

319. शत. ब्र., 11.5.4.3

320. मा. गृ. सू., 1—22—12, प्रस्तर बल का भी प्रतीक है।

मा. गृ. सू., 1—8, बालक को अभेद्य करने से है।

321. पा. गृ. सू., 2—3, कस्य त्वं ब्रह्मचर्यासि। भवत इत्युच्यमाने इन्द्रस्य ब्रह्मचर्यसि अग्निराचार्यस्तव अहमाचार्यस्तव।

322. अश्व. गृ. सू., 1.20, 4

323. हिर. गृ. सू., 1.5.11

324. पाराशर गृ. सू., प्रारम्भिक धर्मशास्त्रों में सभी वर्गो के लिए एक ही प्रार्थना का उल्लेख मिलता है। किन्तु, बाद के धर्म शास्त्रों में विभिन्न वर्णों के लिये पृथक्—पृथक् प्रार्थनाओ का उल्लेख मिलता है —

क्षत्रियो के लिए —

मनु. पर मेघातिथि की टीका, 2.38, आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्य च हिरण्येन सविता रथेना देवो यति भुवनानि पश्यन्।।

शा. गृ. सू. पर नारायण की टीका, हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरूभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते। अथामीवां बाधते वेति सूर्यमभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति।

वैश्यों के लिए —

मनु. पर मेधातिथि की टीका, 2—38, याज्ञवल्क्य पर अपरार्क की टीका, 1—15 विश्वारूपाणि प्रतिमुचते कविः प्रासावीद्भद्रं द्विपदे चतुष्पदे। वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनु प्रयाणामुषसो विराजति।

आश्व. गृ. सू., 3—7 तथा वा. गृ. सू., 6 युंजते मत युत मुंजते धियः विप्रा विप्रस्य वृहतो विपश्चितः।

वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः।

मनु, पर नारायण की टीका, 2—38

हंसः शुचिषद्वसुरंत रिक्ष सद्धोता वेदिषदतिथि र्दुरोण सत्।

नृषद्वरस दृत सद्वयोममदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्।।

325. चूकि उत्तरकाल में गायत्री मंत्र को वेदो का तत्व मान लिया गया था। अतः इसके अनेक रहस्यवादी अर्थ भी लगाए जाने लगे। वृहत्पराशर के अनुसार –

तत्प्रकृतिः स स्वांत विकारो बुद्धिरेव च। तुरित्येतदहंकारं वशब्दं विद्धि पापहरम्। रे स्पर्श तुंणि रूपं च यं रसं गंधमंत्र भम्। र्गो श्रोतं दे त्वचं वै व चक्षुः स्य रसता तथा।। घी नासाच म वाचा च हि हस्तौ धि च पादद्वयम्। यो उपस्थ मुखं योऽन्यो नः खं प्रकारमारूतम्।। चो तेजो द जलं यात्क्ष्मा यागत्र्यास्तत्वचिंतनम्। अग्नि पुराण के अध्याय 216 मे गायत्री मंत्र की गुरुता बतायी गयी है।

326. मा. गृ. सू., 1.22.11

327. वात्स्या. गृ. सू., 6

328. अपरार्क, 1–29

329. अ. के., 6–108, 1.3

ऋभु अपनी यांत्रिक कला और असुर अपनी भौतिक सभ्यता के लिये प्रसिद्ध थे।

त्व नो मेधे प्रथमा गोभिरश्वैभि राणहि।

त्व सूर्यस्थ रश्मिभिस्त्व नो आस यज्ञिया।।

या मेधाभृभवो विदुर्यां मेधामसुरा विदुः।

ऋषयो भद्रां मेधा यां विदुस्तां मध्या वेशयामसि।

330. श. ब्रा., 11.2.6, बौ. ध. सू., 1.3

331. उपाकर्म के निमित्त आषाढ़, श्रावण और भादो की पूर्णिमा को विभिन्न स्मृतियों ने उपयुक्त माना गया है।

बौ. गृ. सू., 3, 1:2:3, खा गृ. सू., 3:2:14, हिर. गृ. सू. 2: 18.1

भारत के विभिन्न प्रान्तों में वर्णित महीनों मे वर्षा होती है। संभवतः इसलिए उपाकर्म के समय में शिक्षाविदों के मध्य मतभेद दिखायी पडता है।

गो. गृ. सू. 2.7.2 मे यहा तक कहा गया हे कि दक्षिणायन में किसी भी समय उपाकर्म किया जा सकता है,

332. आरंभ मे श्रावणी का संबंध श्रावण पूर्णिमा के दिन नाग—पंचमी से था। जब यह संस्कार बंद हो गया तो छंदसामुपाकर्म को ही श्रावणी कहा जाने लगा, क्योंकि यह भी प्रायः उसी दिन होता था।

333. आश्व. गृ. सू., 3.4.10, अध्येष्यमाणः अध्यार्प्यैरन्वारबध .... ।

बौ. गृ. सू., 3.1.3, समारब्धेरवन्तेवासिषु .... उपाकर्म कुर्वीत।

सहान्तेवार्सिभिः ग्रामादभिर्निष्क्रम्य .... उत्सर्जनविधि.।

334. प. गृ. सू., 2—10, स यावन्त गणमिच्छेत्तावन्तस्तिलानाकर्षफलेन जुहुयात्।

335. वा. गृ. सू., 7, अन्तेवासिनां योगमिच्छन्नथ जपति ....।

336. जै. गृ. सू., 1—14, सब्रह्मचारिणश्च उपसमेतान्भौजयेदाचार्यः।

337. आ. ध. सू., 1.1.2.12, निवेशेवृत्ते संवत्सरे द्वौ द्वौ मासो समाहितः आचार्यकुले वसेद्भूयंः श्रुतिमिच्छन्निति श्वेतकेतुः। एतेन ह्मह योगेन भूयः पूर्वस्माच्छु तमकरवमिति। तच्छास्त्रवि प्रतिषिद्धम्। निवेशे हि वृत्ते नैयामिका निश्रूयन्ते।

338. जै. गृ. सू., उपाकर्म खण्ड, न मांसमश्नीयान्न श्राद्धकम्। न लोमानि संहारयेत्। न स्त्रियमुपेयादृतौ जायामुपेयात्।

339. ऋग्वेदिन सम्प्रदाय वाले प्रत्येक मंडल के आरंभ और अन्त के मंत्र पढ़ते थे। सभी वेदो, इतिहास, पुराण को अर्ध्य देते थे तथा अपने सम्प्रदाय के वेदों के रचयिता कृष्णद्वैपायन, वैश्म्पायन तथा तित्तरि,

पदपाठ के रचयिता आत्रेय वृत्तिकार कौडिल्य, प्रवचनकार बौद्धायन, सूत्रकर आपस्तमब तथा सत्याषाढ, हिरण्यकेशी, वाजसनेय, याज्ञवलक्य, भारद्वाज, अग्निवेश्य (बौ. गृ. सू., 3.1) आदि महर्षियों का गुणगान करते थे।

सामवेदिन, जैमिनि, तालवकार, राणायनि, भागुरि जैसे अपने सम्प्रदाय के पंडितों का स्तवन करते थे।

340. व. ध. सू., 20–21,

वपनं मेखला दंडो भैक्षचर्या व्रतानि च।

एतानि तु निवर्त्तन्ते पुन. सस्कार कर्मणि।।

341. पाणिनि, 5.10.112, समापनात्सपूर्वपदात्।

342. आश्व. गृ. सू., 3.9.4

343. मा. गृ. सू., 1.2.3

344. वीर, मित्रो., 575, उत्तर काल मे उपनयन के ठीक बाद ही यह सस्कार होने लगा।

345. भ. गृ. सू., 11.1.8, एतदहः सनाताना ह वा एष एततेजसा तपति तस्मादेनमेतदहर्नाभितपेत्।

346. बौ. गृ. सू., 2.6

347. आ. गृ. सू., 1.11.5

348. गौ. ध. सू., 2.54–55

349. तै. उप. 1–11

350. महद्वै एतद् भूतं या स्नातकः।

351. स्मृ. च., पृ. 299 पर बौधायन का वचन।

उत्तर वासः कर्त्तव्यं पंच स्वतेषु कर्मसु।

स्वाध्यायोत्सर्गदानेषु भुक्ता च मनयो स्त्रथा।

352. वासोविन्यासविशेषो यज्ञोपवीतम्। दक्षिणं बाहुमुद्धरतेऽवधत्ते सत्यमिति यज्ञोपवीत मिति ब्राह्मणम्।

353. अजिनं वासो दक्षिणत उपवीय

354. 2–2, 4, 21–22, नित्यमुत्तरं वास कार्यम्।

अपि वा सूत्रमेवोपवीतार्थे।

355. स्मृ. च. पृ., 84, वस्त्रो तरीयाभावे द्वूयगलं त्र्यंगुलं चतुरंगुल वा सूत्रैर्वस्त्राकृतिपरिमण्डल तदुत्तरीय कुर्यात्।

356. वही, पृ. 84, अपि वा वाससा यज्ञोपवीतार्थ कुर्यात्तदभावे त्रिवृता सूत्रेण।

357. वशिष्ठ, वीर मि. पृ., 21, तृतीयमुत्तरीयार्थो वस्त्राभावे तदिष्यते।

358. वीर मि. 421, त्रीणि चत्वारि पंचाष्ट गृहिणः स्युर्दशापिवा।

359. वीरमि. 427 में भृगु का वचन –

तैत्तिरीयाः कठाः काण्वाश्चरका वाजसेयिन.।

काण्ठादुत्तार्य सूत्रं तु कुर्युवैं क्षालनं द्विजाः।

वहवृचाः समगाश्चैव ये चान्ये यजुः शाखिनः।

कंठादुत्तार्य सूत्रं तु पुनरर्हन्ति संस्क्रियाम्।।

360. उपनयन की भांति इसे भी आध्यात्मिक जन्म कहा गया है।

मज्झिनिकाय, 2, पृ. 103, अरियाम जाति तोजात; थेरीगाथा सं. 17

361. महावाग्ग, 1.50

362. मिलिन्दपन्हो, 1.28

363. जातक, 1 पृ. 106

● ● ● ● ●

तृतीय अध्याय

शिक्षा प्रविधि

प्राचीन भारतीय शिक्षा–प्रविधि के अन्तर्गन्त शिक्षण–सत्र, प्रवेश, पाठ्यक्रम, अध्ययन एवं परीक्षा पद्धति आदि उल्लेखनीय है।

शिक्षण–सत्र

आरभ मे वैदिक मंत्र ही शिक्षा का प्रधान विषय होता था, तब शिक्षण–सत्र छः माह का होता था (अगस्त से प्रारंभ होकर फरवरी माह तक)[1] लेकिन विकास के क्रम मे पाठयक्रमों का का विस्तार होने से शिक्षण–सत्र, एक वर्ष तक चलने लगा। इस अवधि में वेदों के अतिरिक्त वेदांगो, ब्राहमण साहित्य, महाकाव्य, स्मृति साहित्य, पुराण, इतिहास एवं विभिन्न शिल्पो तथा ललित कलाओं की शिक्षा दी जाने लगी।

'उत्सर्जन संस्कार', फरवरी माह में सम्पन्न होता था, जिसका उद्देश्य शिक्षा का अगले सत्र तक के लिये स्थगन था। कालान्तर में पाठ्यक्रमों का विस्तार होने पर शिक्षण–सत्र पूरे वर्ष भर चलने लगा। मनु के अनुसार, उत्सर्जन संस्कार के उपरान्त भी वेद–वेदांगों की शिक्षा चलती रहनी चाहिए।[2] राजगृह और काशी जैसे स्थानों के वे शिक्षार्थी, जो तक्षशिला जैसे दूरस्थ शिक्षा केन्द्रों पर, शिक्षा प्राप्ति के निमित्त जाते थे। संभवतः यातायात की कठिनाइयों के कारण अपना अध्ययन कार्य पूर्ण करने के उपरान्त ही वापस लौटते थे।[3] किन्तु जिन शिक्षार्थियों को घर वापस जाना अपरिहार्य होता था, आचार्य की अनुमति से जा सकते थे। वे शिक्षार्थी जिनका घर शिक्षण–संस्थाओं के समीप होता था, वे भी साधारण अवकाश के समय आचार्य से अनुमति लेकर जा सकते थे। लेकिन, शिक्षार्थियों के आवागमन से शिक्षण कार्य बाधित न हो इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था, और इस प्रकार शिक्षण–कार्य पूरे वर्ष भर चलता था।[4]

जहॉ तक शिक्षावधि का प्रश्न है, प्राचीन शिक्षविदों की यह मान्यता थी कि ज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होने के कारण उसे न तो किसी समय सीमा मे और न ही किसी अवधि में बांधा जा सकता है।[5] बल्कि, यह शिक्षार्थी की योग्यता और उसकी अभिलाषा पर निर्भर करता है। हालांकि, जो शिक्षार्थी अपने विषय में पूर्ण पारंगत होना चाहते थे, उन्हें साधारणतया 25–30 वर्ष की अवस्था तक ब्रहमचर्य धर्म के अनन्तर शिक्षा प्राप्त करना पड़ता था। तदुपरान्त उनसे गृहस्थ बनने की कामना की जाती थी। लेकिन, साधारण ज्ञान प्राप्त कर धर लौटने हेतु उत्कंठित शिक्षार्थी 3 से 6 वर्ष मे ही अपना अध्ययन कार्य समाप्त कर वापस लौट जाते थे।

उपनयन सस्कार के उपरान्त साधारणतया 12 से 15 वर्ष तक शिक्षा प्राप्त करने का उल्लेख प्राप्त होता है। 12 वर्ष तक गुरूकुल वास का उल्लेख मिलता है।[6] सत्य–काम जाबाल के आश्रम मे उपकोशल कामलायन ने शिक्षा प्राप्त करते हुए 12 वर्ष व्यतीत किया था।[7] शिक्षार्थी श्वेतकेतु ने 12 वर्ष तक अपने आचार्य के के सान्निध्य में रहकर शिक्षा प्राप्त किया था।[8] स्पष्ट है कि वेदों के सांगोपाग अध्ययन के लिये इतने वर्ष आवश्यक थे। उन्हे वेदों के अतिरिक्त न्याय, छन्द, धर्म, दर्शन और व्याकरण शास्त्र का भी अध्ययन कराया जाता था। कालान्तर मे व्याकरण शास्त्र की प्रौढ़ता के कारण इनमें पारंगत होने के लिये 10 वर्ष का समय आवश्यक माना गया। किन्तु, साहित्य, महाकाव्य और धर्मशास्त्र के शिक्षार्थी 5 या 6 वर्ष मे ही व्याकरण शास्त्र का अध्ययन समाप्त कर शेष 10 वर्ष अपने मूल विषय के अध्ययन में लगाते थे। स्पष्ट है कि सुशिक्षित और विद्वान बनने के लिये साधारणतया 12 से 15 वर्ष तक ब्रहमचर्य धर्म के अनन्तर शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक था।

यद्यपि, वे शिक्षार्थी जो किसी खास विषय में दक्ष होना चाहते थे और सभी वेद एवं वेदांगों में पारंगत होना चाहते थे, उन्हें विशेषाध्ययन के निमित्त अधिक समय तक ब्रह्ममचर्य धर्म का पालन करना पड़ता था।[9] संभवतः उनका अध्ययन क्रम 35 से 40 वर्ष की अवस्था तक चलता था। गोपथ ब्राह्मण के

अनुसार, ब्रह्मचर्य की अवधि 48 वर्ष थी। प्रत्येक वेद के लिये 12 वर्ष का क्रम निर्धारित था। मनु ने तीन वेदों के अध्ययन के लिये 36 वर्ष का समय माना है। विदित है कि इन्द्र ने प्रजापति के निर्देशन में 32 वर्ष तक अध्ययन कार्य किया था। भारद्वाज ने सभी वेदों में पारंगत होने के लिये 75 वर्ष का समय व्यतीत कर जीवन के अतिम भाग में ब्रह्मचर्य धर्म के परिपालन हेतु अनुष्ठान सम्पन्न किया था।[10] मेगस्थनीज[11] और काले ब्रुक[12] ने भी 37 वर्ष की अवस्था तक अध्ययन करने वाले शिक्षार्थियों का उल्लेख किया है। इसी परिप्रेक्ष्य में एक स्मृतिकार का कथन है कि लम्बी अवधि तक अध्ययन करने वाले शिक्षार्थियो को यौवनावस्था में ही विवाह कर लेना चाहिए, क्योंकि 35–40 वर्ष की अवस्था के उपरान्त विवाह करना मूर्खता है।[13] इसके कारण न केवल प्राकृतिक व्यवस्था, बल्कि सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत गृहस्थ जीवन भी प्रभावित होने का भय बना रहता था। यद्यपि कुछ शिक्षार्थी आध्यात्मिक ज्ञान के निमित्त सम्पूर्ण जीवन शिक्षा संबंधी कार्यों मे ही लगा देते थे।[14] इन्हे "नैष्ठिक ब्रह्मचारी" कहा जाता था। नैष्ठिक का अर्थ था, "जीवन भर ब्रह्मज्ञान के निमित्त ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने वाला।" इन्हें 'बृहद्व्रतधारी' भी कहा जाता था। ब्रह्मविद्या के अनन्तर मोक्ष प्राप्त करना इनका परम उद्देश्य होता था। ह्वेनसांग लिखता है कि सारे कष्टों को भूलकर ये अध्यात्म विद्या के अतिरिक्त विज्ञान और साहित्य साधना में लगे रहते थे। 200 मील की यात्रा इन्हें अल्प प्रतीत होती थी। धनाढय कुल मे जन्म लेकर भी ये परिव्राजक का जीवन व्यतीत करते थे और भिक्षा मांगकर अपनी जीविका चलाने में गर्व अनुभव करते थे।[15] महर्षि कण्व और दिवाकर सेन ऐसे ही नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे।[15A] हारीत के अनुसार नैष्ठिक ब्रह्मचारी न कभी विवाह करता था, और न सन्यास ग्रहण करता था। वह अतीन्द्रिय होकर शरीर त्याग करता था और इस लोक में पुनः जन्म नहीं लेता था।[16] शिक्षण अवधि के अनुसार छात्रों का नाम भी उसी पर पड़ जाता था, जैसे– सावंत्सरिक ब्रह्मचारी, जो वर्ष भर गुरुकुल में रहकर शिक्षा प्राप्त करते थे। मासिक ब्रह्मचारी जो केवल एक माह के लिये ब्रह्मचारी बनते थे और अर्द्धमासिक, जो ब्रह्मचारी जो केवल 15 दिन के लिये ब्रह्मचारी बनते थे।[17] स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में शिक्षा

प्राप्त करने की अवधि साधारणतया 10 से 15 वर्ष का होता था और शिक्षण—सत्र वर्ष भर चलता था। लेकिन समय—समय पर विशेष परिस्थितियो मे कुछ परिवर्तन भी होते रहे।

जहॉ तक अवकाश का प्रश्न है, साक्ष्यो से विदित होता है कि शिक्षण—काल के दौरान विभिन्न अवसरों पर अवकाश की व्यवस्था थी। सर्वप्रथम इसकी सूची उत्तर वैदिक कालीन साहित्य मे मिलती है। प्रत्येक माह मे 4 दिन अवकाश का प्रावधान था। प्रतिपदा, पूर्णिमा, अष्टमी एवं अमावस्या को शिक्षण कार्य नहीं होता था। बस्ती पर बाह्य आक्रमण, डाकुओं के उत्पात, राजा या विद्वानों के आकस्मिक निधन पर सहानुभूति प्रकट करने जाने के कारण, गुरूकुलों में सम्भ्रात व्यक्तियों के आगमन पर ध्यान बंटने के कारण, असमय बादल, झंझावात, मूसलाधार वर्षा, कुहरा, आंधी इत्यादि परिस्थितियों में भी अध्ययन कार्य प्रतिबंधित होता था। बौधायन और गौतम जैसे शिक्षाविदों ने शिक्षण के दौरान अवकाश का निर्देश दिया है।[18] मनु के अनुसार, अस्थिर मौसम, आकस्मिक प्रकृति—प्रकोप तथा अन्य अनुपयुक्त समय में अध्ययन कार्य रोक देना चाहिए।[19] ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारभ मे जब शिक्षक और शिक्षार्थी पर्णकुटियों में रहकर शिक्षा प्राप्त करते थे, उस समय वर्णित काल में अध्ययन कार्य प्रतिबंधित करना आवश्यक था। चूँकि, श्रृंगाल, गर्दभ, श्वान और बिल्ली जैसे जानवरों का बोलना अपशकुन माना जाता था, अतः इन परिस्थितियों में भी शिक्षण—कार्य स्थगित कर देने का उल्लेख मिलता है। प्रारभ में वेदों की शिक्षा प्राप्त करना पवित्र कार्य माना जाता था, अतः शिक्षाविदों की ऐसी मान्यता थी कि अपशकुन परिस्थितियों में शिक्षण—कार्य करने से वेदों की पवित्रता नष्ट हो जाएगी और देवता रूष्ट हो जाएँगे।[20]

उत्तर काल में शिक्षा सम्बन्धी पाठयक्रमों का स्वरूप विस्तृत होने एवं उसका क्षेत्र व्यापक होने के कारण कतिपय विद्वानों का पूर्व परम्पराओं से मोह भंग होने लगा। परिणामतः प्रतिकूल परिस्थतियों में भी मनसा अध्ययन करने का उन्होंने समर्थन किया।[21] लेकिन मेघ—गर्जन, ग्रहण, विभिन्न त्योहारों एवं अशौच इत्यादि के

समय शिक्षण—कार्य प्रतिबधित करने के पक्षधर वे भी थे।[22] याज्ञवल्क्य ने मेध—गर्जन, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन शिक्षण—कार्य न करने की सलाह दी है।[23] मनु ने शिक्षा आदि वेदांगो मे, नित्य सम्पन्न होने वाले ब्रह्मयज्ञ, स्वाध्याय और हवन कर्म में उपरोक्त समयों को अनध्याय का नहीं माना है।[24] कतिपय अन्य विद्वानो का मत था कि स्वीकृत अवकाश के क्षणो में भी वेदेतर साहित्य का अध्ययन हो सकता है।[25] ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरकाल में अनध्याय का निर्णय शिक्षण—संस्थाओं के प्रधान करते थे। व्यस्क शिक्षार्थियों की अपेक्षा अल्पव्यस्क शिक्षार्थियों को अधिक अवकाश मिलता था।[26] लेकिन गंभीर शिक्षार्थी चार साप्ताहिक छुट्टियो के अतिरिक्त अन्य अवकाश तभी लेते थे, जब वे स्वयं अपवित्र हो या वह स्थान अपवित्र हो, जहॉ शिक्षण—कार्य होता था।[27]

प्रवेश

विवेच्यकाल में वर्तमान की भाँति प्रवेश परीक्षा, अंक—पत्र, उपाधि—पत्र, चरित्र प्रमाण—पत्र या स्थानान्तरण—पत्र वितरण जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी, बल्कि किसी भी शिक्षण—संस्थाओं में प्रवेश के लिये छात्र को चरित्रवान, संस्कारवान्, आदर्शवान, बुद्धिमान, निष्ठावान, धैर्यशील, विनयशील, प्रतिभासम्पन्न, जिज्ञासु, अभिलाषी एव आज्ञाकारी होना आवश्यक था। इसकी परीक्षा अवश्य ली जाती थी और यही प्रवेश का मापदण्ड होता था। जिन छात्रों मे इन गुणों का अभाव दिखता था, उन्हें विद्या—प्राप्त के अयोग्य समझा जाता था। ब्राह्मण शिक्षा—पद्धति के अनन्तर शिक्षा पाने वाले शिक्षार्थियों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे इन गुणों को आत्मसात् करे। दरअसल, ब्राह्मण शिक्षा पद्धति का मूल उद्देश्य व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना था और इसी उद्देश्य के अनन्तर ब्राह्मण शिक्षाविदों ने मानव जीवन को चार वर्गों एवं चार आश्रमों में विभक्त कर एक आदर्श व्यवस्था कायम की थी, जिससे मानव जीवन का कोई भी पक्ष अछूता न रह जाय और मनुष्य अपना बौद्धिक, भौतिक एवं आध्यात्मिक उत्थान सम्यक् तरीके से करता रहे

और जीवन का अंतिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सके। शिक्षार्थियों के आंतरिक शुचिता एव विकास पर विशेष बल दिया जाता था और इसके लिये उन्हें अनुशासित जीवन व्यतीत करने का उपदेश दिया जाता था। शिक्षाविदो की ऐसी मान्यता थी कि प्रत्येक व्यक्ति के अंदर कुछ जन्मजात मानवीय दुर्गुण विद्यमान होते है जिसको नैतिक एव आध्यात्मिक शिक्षा के द्वारा दूर किया जा सकता है और इसीलिए उन्होंने प्रत्येक शिक्षार्थियों से कठोर एवं अनुशासित जीवन की अपेक्षा की थी। यह शिक्षा प्राप्त करने के लिये प्रवेश सम्बन्धी अनिवार्य योग्यता के रूप मे भी स्वीकार्य था।

जहॉ तक बौद्ध शिक्षा–पद्धति का प्रश्न है, प्रारंभ में बौद्ध शिक्षा का मूल उद्देश्य बुद्ध के सिद्धान्तो का प्रचार–प्रसार करना था और इसके लिये उन्हें चरित्रवान, धैर्यवान, बुद्धिमान एवं अनुशासित भिक्षुओं की आवश्यकता थी। अतः ब्राह्मण शिक्षाविदो की भॉति बौद्धों ने भी जिज्ञासु प्रवेशार्थियों की योग्यता का सम्यक् परीक्षण कर अपने संध का सदस्य बनाया। ब्राह्मण शिक्षण संस्थाओ में प्रवेश के लिये 'द्विज वर्ण' का होना आवश्यक था, लेकिन बौद्ध संघ का सदस्य बनने के लिए ऐसी कोई बाध्यता नहीं थी। सुधी, चरित्रवान और प्रज्ञावान व्यक्ति चाहे वह किसी भी जाति, धर्म, वर्ग, वर्ण या देश का हो, बौद्ध धर्म में प्रवर्जित होकर अपेक्षित शिक्षा प्राप्त कर सकता था। इसी क्रम में यह प्रश्न उठना भी स्वाभाविक कि क्या प्रत्येक व्यक्ति को प्रव्रज्या की दीक्षा दी जाती थी ? इस संदर्भ में वर्णित है कि पन्द्रह वर्ष से कम आयुवाले व्यक्ति को, बिना माता–पिता की अनुमति के पुत्र को, अस्वस्थ, कुष्ठ, गंड, क्षय, चर्म एवं मिर्गी रोग से पीड़ित व्यक्ति को, अपंग को, राजसैनिक, राजसेवक, चोर, डाकू, दंडित व्यक्ति को, ऋणी, दास और समाजविरोधी कार्य करने वाले व्यक्तियों को संघ का सदस्य नहीं बनाया जाता था। यद्यपि कुछ उदाहरण अपवाद स्वरूप भी है। जैसे अंगुलिमाल दस्यु को बुद्ध ने विशेष परिस्थितियों में प्रव्रज्या के अनन्तर सघ का सदस्य बनाया था। कभी–कभी बौद्धेत्तर परिव्राजक भी संघ का सदस्य बनते थे। उनके लिये चार माह का समय संघीय प्रवास के लिये नियत था। इस दौरान उनके आचरण एवं चरित्र

को परखा जाता था, तदुपरान्त उन्हे स्थायी सदस्य बनाया जाता था। उत्तरकाल मे जब बौद्ध शिक्षा का प्रसार हुआ, शिक्षार्थियो की संख्या बढी, पाठ्यक्रमो का विस्तार हुआ, तब शासक एव कुलीन वर्गों का भी यथोचित सहयोग, इन्हें प्राप्त होने लगा। परिणामतः वे बौद्ध शिक्षार्थी, जो प्रारभ मे अरण्य, वृक्षमूल, पर्वत, कंदरा, श्मशान–भूमि, पुआल के ढेर आदि पर निवास करते थे, नदी तट या जंगल मे कुटिया बनाकर रहने लगे। उनके लिये संधाराम और विहारों का निर्माण होने लगा, जो आगे चलकर नालन्दा, वलभी एवं विक्रमशिला जैसे बड़े शिक्षण–संस्थाओं के रूप में स्थापित हुए। इन संस्थाओ में प्रवेश के लिये प्रवेशार्थियों की योग्यता की जॉच कड़ी परीक्षा द्वारा ली जाती थी। चरित्रहीन और बुद्धिहीन प्रवेशार्थियों का प्रवेश पूर्णतया वर्जित था।[28] प्रवेश से पूर्व सर्वप्रथम उन्हें द्वार पंडितों से वाद–विवाद करना पडता था और उनकी शंकाओं का समाधान करना आवश्यक था। ऐसा उल्लेख मिलता है कि प्रवेश के प्रथम दिवस ही ज्यादातर प्रवेशार्थी प्रायः असफल हो जाते थे और दस की संख्या में से औसतन एक–दो ही सफल हो पाते थे।[29] उनकी योग्यता, दक्षता, चरित्र एवं धारणा की जॉच के लिये दक्ष आचार्यों की नियुक्ति की जाती थी।[30] निजी पाठशाला चलाने वाले उपाध्याय अपने प्रवेशार्थियों की योग्यता की जॉच स्वयं करते थे।

जहाँ तक शिक्षार्थियो की संख्या का प्रश्न है, यद्यपि स्मृति साहित्य में अधिकाधिक शिष्य प्राप्ति की कामना हेतु एक विशिष्ट संस्कार का विधान मिलता है तथापि उपलब्ध साक्ष्यों से विदित होता है कि एक शिक्षक के अन्तर्गत औसतन 10–15 शिक्षार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे। उत्तरकालीन गुरूकुलों में जब जिज्ञासु छात्रों की संख्या बढ़ने लगी, तब शिक्षण–कार्य हेतु ज्येष्ठ शिष्यों की मदद ली जाने लगी। ऐसा उल्लेख मिलता है कि नालन्दा में शिक्षार्थियों की संख्या लगभग 10,000 के आस–पास थी, जिसके लिये 1000 भिक्षु नियुक्त थे[31] जो अत्यन्त तन्मयता से शिक्षण–कार्य करते थे। 11वीं शताब्दी में एन्नारियम के प्रत्येक विद्यापीठ में एक अध्यापक औसतन 20 छात्रों को शिक्षा प्रदान करते थे।[32] 17वीं शताब्दी मे काशी में यह संख्या 12–15 के बीच थी।[33] स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में एक अध्यापक औसतन 10–15 छात्रों को शिक्षा प्रदान करते थे। कभी–कभी यह संख्या 20 के आस–पास पहुँच जाती थी।

पाठ्यक्रम

शिक्षा के उत्थान एवं विकास में पाठयक्रमो की भूमिका महत्वपूर्ण होती है, जिनसे तत्कालीन समाज के शैक्षिक स्तर का आकलन किया जा सकता है। व्यक्तित्व के निर्माण में इसकी सर्वाधिक भूमिका होती है, अतः इसके महत्व को नजरदाज नही किया जा सकता। प्राचीन भारतीय शिक्षा धर्म से प्रभावित होने के कारण शैक्षिक पाठ्यक्रम भी धार्मिक विषयों पर केन्द्रित रहा। ब्राह्मण शिक्षा पद्धति का मूल उद्देश्य चरित्र निर्माण के साथ–साथ व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना था, जिसके लिये धर्म को आधार बनाया गया था। अतः संबधित शिक्षा धार्मिक विषयो पर केन्द्रित रही। आरम्भ मे बौद्ध शिक्षा का मूल उद्देश्य बुद्ध के विचारों और सिद्धान्तों का प्रचार–प्रसार करना था। अतः बौद्ध शिक्षा का पाठ्यक्रम भी धर्म एवं दर्शन पर आधारित रहा। यही कारण है कि प्राचीन शिक्षा पद्धति के अन्तर्गत धार्मिक विषयों को जो सम्मान मिल पाया, वह सम्मान तकनीकी एवं व्यवसायिक पाठ्यक्रमों को नहीं मिल पाया। यद्यपि इन विषयों की शिक्षा दी जाती रही, लेकिन व्यक्तिगत और पारिवारिक स्तर पर ही। समाज एवं शासक वर्ग से, जो सहयोग इन्हें अपेक्षित था, वह नही मिल पाया। परिणामतः जितना विकास इनका होना चाहिए था, उतना नही हो पाया। यदि ऐसा हुआ होता, तो प्राचीन शिक्षा का इतिहास कुछ और ही होता।

अध्ययन की दृष्टि से संबंधित पाठ्यक्रमो को तीन वर्गों में विभक्त करना समीचीन होगा–

1. प्रारंभिक शिक्षा से सम्बधित पाठ्यक्रम
2. उच्च शिक्षा से सम्बन्धित पाठ्यक्रम
3. तकनीकी एवं व्यवसायिक शिक्षा से सम्बद्ध व्यवहारिक और उपयोगी विषयों का पाठ्यक्रम।

जहाँ तक प्रारंभिक शिक्षा का प्रश्न है, प्रारंभ में शिक्षा का मुख्य विषय वेद था, जो आर्यों के ज्ञान का मूल आधार था। यह विभिन्न ऋषियों के वाणी का संकलन मात्र था। प्रारंभ में लिपि की जानकारी न होने के कारण इसकी शिक्षा मौखिक एवं श्रवण परम्परा के अन्तर्गत दी जाती थी। अतएव, तत्कालीन ज्ञान कई शताब्दियो तक विद्वत्जन की स्मृतियों मे ही सुरक्षित रहा। अन्य धर्मेत्तर विषयों की प्राण—प्रतिष्ठा अब तक नहीं हो पायी थी। व्याकरण और गणित का विकास अभी शेष था। व्यापार शैशावस्था मे था, अतः वाणिज्यिक ज्ञान की आवश्यकता नहीं थी। उद्योग—धधे प्रारंभिक अवस्था में होने के कारण इसकी सामान्य जानकारी सम्बन्धित परिवार से प्राप्त होती थी। सर्वसाधारण वर्ग अपनी परम्पराओं की जानकारी प्रचलित कथाओं और कीर्त्तनों के माध्यम से प्राप्त करते थे।

प्रारंभ में उच्चारण की शुद्धता पर विशेष बल दिया जाता था। शिक्षार्थियों को हस्व, दीर्घ एवं प्लुत स्वरों में अंतर, तालों का ज्ञान, उदात्त और अनुदात्त उच्चारणों में अंतर, संहिता पाठ में संधि होने पर शब्दों में होने वाले रूपान्तर इत्यादि का ज्ञान कराया जाता था।[34]

उत्तरकाल में लेखन कला की जानकारी हो जाने पर, उन्हें प्रारंभिक शिक्षा में समुचित स्थान दिया गया। यद्यपि वेदों के संरक्षक अब भी उन्हें लिपिबद्ध करने के पक्ष में नहीं थे, तथापि् वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द एवं ज्योतिष) जैसे नये शास्त्रों को लिपिबद्ध करने की मनाही नहीं थी। बल्कि, वेदांगों के सम्यक् अध्ययन हेतु लिपि की जानकारी आवश्यक समझी जाती थी। समकालीन तमिल लेखक तिरूवल्लुवर के अनुसार, लिपि और गणित व्यक्ति के दो नेत्र हैं। स्पष्ट है कि उत्तर वैदिक काल से प्रारंभिक शिक्षा के अन्तर्गत भाषा एवं गणित की लिपिगत जानकारी दी जाने लगी थी। वेदांग शाखा का व्यापक विस्तार हुआ। इस प्रकार प्रारंभिक शिक्षा से संबंधित पाठ्यक्रमों में प्रारंभिक गणित, व्याकरणों की सामान्य जानकारी, उच्चारण की शुद्धता पर बल, छन्द की सामान्य जानकारी तथा ग्रहों एवं नक्षत्रों की सामान्य जानकारी सम्मिलित था। चूँकि, वर्णित काल में संस्कृत भाषा को विशेष महत्व प्राप्त था। अतः संस्कृत भाषा का साधारण

ज्ञान एव उसकी लिपिगत जानकारी छात्रो को दी जाती थी। प्रारंभिक शिक्षा प्रदत्त करने मे परिवार की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण थी। लेकिन, जो परिवार शिक्षित नही होते थे, उनके बच्चे उन शिक्षित परिवारो मे जाकर प्रारभिक ज्ञान प्राप्त करते थे जो शिक्षित होते थे। प्राचीन पुरोहित भी जिज्ञासु शिक्षार्थियो को प्रारंभिक शिक्षा देते थे। इसका केन्द्र या तो उनका आवास या जिज्ञासु छात्रों का घर होता था। कुछ प्रारभिक पाठ्शालाओं की भी जानकारी प्राप्त होती है। कई स्थानों पर नौकरों के साथ इन पाठ्शालाओं में पढने जाते हुए धनी बालको के दृष्टान्त मिलते हैं।[34A] प्रत्येक छात्र के व्यक्तिगत उत्थान पर जोर दिया जाता था।[34B]

उच्च शिक्षा के विकास में प्रारभिक शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी से शिक्षा प्रारंभ करने हेतु 'अक्षरस्वीकरण' नामक संस्कारों का विधान मिलना, प्रारंभिक शिक्षा के महत्व को रेखांकित करता है। अक्षरारंभ संस्कार को धार्मिक संरक्षण मिल जाने से प्रारंभिक शिक्षा का महत्व और बढ गया। यह संस्कार साधारणतया 5 या 6 वर्ष की अवस्था मे सम्पन्न होता था। बुद्ध, रघु, लव और कुश को इसी अवस्था में शिक्षा प्राप्त करते हुए दर्शाया गया है।[35] चीनी यात्री इत्सिंग के अनुसार, शिक्षा का आरंभ 6 वर्ष की अवस्था में होता था, जिसके अन्तर्गत बच्चों को वर्णमाला और संयुक्ताक्षरों का ज्ञान कराया जाता था। व्याकरणिक शिक्षा के साथ–साथ आरंभिक गणित, ज्योतिष, भाषा और लिपि आदि की शिक्षा उन्हे दी जाती थी। सूर्य एवं चन्द्र गति की सामान्य जानकारी उन्हें दी जाती थी।[35A] मौर्य काल के उपरान्त प्राकृत भाषा को शैक्षिक महत्व मिलने के कारण[36], उसे भी प्रारंभिक शिक्षा के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया। किन्तु, द्वितीय शताब्दी के उपरान्त संस्कृत भाषा का पुनः वर्चस्व स्थापित हुआ और इसका सीधा प्रभाव प्रारंभिक शिक्षा पर पड़ा। 6 से 8 वर्ष की अवस्था तक व्याकरण, गणित एवं भाषा की सामान्य शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त 8 से 11 वर्ष की अवस्था तक पाणिनीय सूत्र एवं अन्य व्याकरणिक ग्रंथों का प्रणयन किया जाने लगा।[37] इस प्रकार प्रारंभिक शिक्षा क्रमशः परिपक्व होती गयी और व्याकरण शास्त्र, गणित, ज्योतिष एवं भाषा शास्त्र की व्यवस्थित शिक्षा दी जाने लगी। इसके अन्तर्गत गंभीर

विषयो का भी समावेश होने लगा। सम्भाषाण एवं लिखावट की शुद्धता और सुन्दरता पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। सामान्य जन अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं की जानकारी कथाओ एव कीर्तनो के माध्यम से प्राप्त करते थे। यह भी प्रारभिक शिक्षा का एक अंग था। आज भी परिवार के वयोवृद्ध सदस्य छोटे बच्चों को कथा कहानियों के माध्यम से विभिन्न परम्पराओं की जानकारी हॅसी—हॅसी में दे देते हैं। मंदसौर के ततुवाय निगम (5वीं शती) के सदस्य लोक गीत और ज्योतिष मे निपुण होते थे।[38] इसकी शिक्षा उन्हे अपने परिवार के ज्येष्ठ सदस्यों से प्राप्त होती थी। स्त्रियॉ भी प्रारंभिक शिक्षा के सुख से लाभान्वित होती थी।

उच्च शिक्षा से सम्बन्धित पाठयक्रमों में 'वेद' का स्थान सर्वप्रमुख था, जिसकी शिक्षा ब्राह्मण शिक्षा पद्वति के अन्तर्गत प्रत्येक जिज्ञासु ब्रह्मचारियों को दी जाती थी। वैदिक शिक्षा के अन्तर्गत सर्वप्रथम ऋग्वेद को सम्मिलित किया गया था। तदुपरान्त उसका विस्तार होता गया और उसके अन्तर्गत यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद को भी सम्मिलित कर लिया गया। इस प्रकार वैदिक शिक्षा के अन्तर्गत चारों वेद की शिक्षा दी जाने लगी। वैदिक मत्रों के अध्ययन में ऐतिहासिक काव्य, पौराणिक गाथाएँ और वीरता पूर्ण काव्य भी समाविष्ट थे।[39] उत्तर वैदिक काल मे जब वेदों का विस्तार हुआ, उसके सम्यक् अध्ययन हेतु वेदांगों की उत्पत्ति हुई। वेदागो (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष) के अतिरिक्त आरण्यक् एवं उपनिषद साहित्य का भी विकास हुआ। साथ ही वेदों के अर्थ को भली—भाँति समझने हेतु टीकात्मक एवं चर्चात्मक साहित्य की भी रचना हुई, जिसे हम ब्राह्मण साहित्य के नाम से जानते हैं। प्रत्येक वेद के लिये अलग—अलग ब्राह्मण साहित्य की रचना हुई, जैसे ऋग्वेद (ऐतरेय एवं कौषितकी), यजुर्वेद (तैत्तिरीय एवं शतपथ), सामवेद (पंचविश) एव अथर्ववेद (गोपथ)। यज्ञों की महता स्थापित होने के कारण संबंधित विषयो का विवेचन ब्राह्मण साहित्य में मिलता है। इस प्रकार इसकी रचना यज्ञीय विधान और उसकी क्रिया को समझने के लिये की गयी थी। ये सभी विषय पाठयक्रम के आधार बने। आरण्यक् साहित्य में यज्ञीय कर्म काण्ड के स्थान पर ज्ञान और चिंतन को बल मिला। कालान्तर में इन्हीं से उपनिषद साहित्य का

विकास हुआ। इन दार्शनिक रचनाओं मे प्रमुख है– ऐतरेय, तैत्तिरीय, शंखायन, वृहदारण्यक जैमिनी, छान्दोग्य आदि। उपनिषद काल तक आते–आते वेद, वेदांग और याज्ञीय क्रियाओं के साथ–साथ अपरा विद्या (ब्रह्म विद्या) का महत्व बढा। अपरा विद्या के सर्वोच्च आचार्य यम थे। उपनिषद साहित्य में वैदिक चितन की अतिम परिणति दृष्टिगत होती है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार सनत्कुमार अनेक विषयो के ज्ञाता थे। नारद ने सनत्कुमार से कहा कि उसे चारों वेद कंठस्थ है, इतिहास पुराण पॉचवॉ वेद है, वेदो का वेद (व्याकरण), श्रद्धाकल्प, गणित, उत्पत्तिज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, देव विद्या, सर्वविद्या और देवजन विद्या (सगीत–नृत्य) आदि मैं जानता हूँ।[40] ब्रह्म विद्या उपनिषदकालीन छात्रों के प्रधान विषय थे।[41] इस प्रकार स्पष्ट है कि वेदो के अतिरिक्त, इतिहास, पुराण, महाकाव्य, व्याकरण, निरूक्त, छन्द, शिक्षा, भूत विद्या, क्षात्र विद्या, वाकोवाक्यम, तर्कशास्त्र, नक्षत्र विद्या, ज्योतिष, राशि, एकायन आदि विषयों की उच्च शिक्षा तत्कालीन छात्रों को दी जाती थी।[42] मक्स मूलर के अनुसार, संस्कृत साहित्य, तर्कशास्त्र और व्याकरण के जन्मदाता भारतीय थे। महाभारत में वर्णित है कि महर्षिच्यवन के पुत्र भार्गव से आस्तिकों ने वेद–वेदांगों की शिक्षा प्राप्त की थी। इससे वेद–वेदांगों की शिक्षा की व्यापकता का पता चलता है।

बौद्ध काल तक आते–आते उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रमों का पर्याप्त विस्तार हुआ। वेद, वेदांगों के अतिरिक्त ब्राह्मण साहित्य, आरण्यक, उपनिषद, अर्थशास्त्र, शिल्प, वार्ता, व्याकरण, धर्म, दर्शन, इतिहास, पुराण आदि उच्च शिक्षा के प्रमुख विषय थे।[43] कौटिल्य ने भी आन्वीक्षकी (तर्क और दर्शन), त्रयी (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा सम्बन्धित ब्राह्मण साहित्य), वार्ता (कृषि, पशुपालन, चारा–भूमि, वाणिज्य–व्यापार) और दंडनीति (राजशासन एवं राजशास्त्र) का उल्लेख किया है,[44] जो उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम थे।

तक्षशिला 18 शिल्पों के अध्ययन के लिये प्रसिद्ध था, जहाँ जिज्ञासु शिक्षार्थियों को धनुर्वेद, आयुर्वेद, युद्धकला, इन्द्रजाल, सर्पक्रीड़ा, रत्नान्वेषण आदि

विषयो की शिक्षा दी जाती थी।[45] इस बात की पुष्टि मिलिन्द पन्ह से भी होती है।[46] अन्य बौद्ध साहित्य मे भी गजाश्व परिचालन, न्याय, ज्योतिष, अर्थशास्त्र, वार्ता, पशुपालन आदि 18 विषयो का उल्लेख मिलता है।[46A]

कालिदास ने 14[47] एवं वात्स्यायन ने 64 विद्याओं[48] का उल्लेख किया है, जिसकी शिक्षा गुप्तकालीन छात्रो को दी जाती थी। कालिदास द्वारा वर्णित विषयों मे सभी वेद, वेदांग, मीमांसा शास्त्र, न्याय, पुराण, महाकाव्य, धर्मशास्त्र एवं उपवेद (धनुर्वेद, आयुर्वेद एवं गंधर्ववेद) आदि उल्लेखनीय है। गुप्त शासक समुद्रगुप्त कई विषयों मे पारंगत था।[49] विक्रमादित्य के दरबार में नवरत्नो (विद्वानों) की एक टोली थी। स्कंदगुप्त भी एक विद्वान था।[50] शासकों के संबन्ध में कालिदास का कथन है कि– शास्त्रो को ही नेत्र बनाकर अपने प्रयत्नों के सूक्ष्म परिणाम को चरितार्थ होने से पूर्व वे देख सकते थे।[51] दण्डी ने पाठ्यक्रमों की सूची इस प्रकार दी है– सभी लिपियॉ, भाषाएँ, वेद–वेदांग, उपवेद, काव्य, नाट्यकला, धर्मशास्त्र, व्याकरण, ज्योतिष, तर्कशास्त्र, मीमांसा, राजनीति, संगीत, छन्द, रसायण, युद्धविद्या, द्यूत, चौर्य विद्या आदि।[52] हवेनसांग ने भी व्याकरण, शिल्प, आयुर्वेद आदि का उल्लेख विद्यार्जन के अन्तर्गत किया है।[53] जहॉ तक शिल्प का प्रश्न है, इसका तात्पर्य उन कलाओं से था, जिनके लिये विशेष अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है।[54] वैदिक काल में शिल्प शब्द से गीत, वाद्य, नृत्य आदि ललित कलाओ का बोध होता था।[55] जबकि बौद्धकालीन 18 शिल्पों से गीत, नृत्य चित्रकला, नक्षत्रकर्म, अर्थशास्त्र, वास्तुकला, तक्षण, वार्ता, पशुपालन, व्यापार, आयुर्वेद, गजश्वपरिचालन, शासन, युद्धकला और धनुर्वेद, इन्द्रजाल, सर्पक्रीडा और मणिरागाकर आदि का ज्ञान था। इस प्रकार विकास के क्रम में पाठ्यक्रमों का फलक विस्तृत होता गया।

अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि बदलते परिवेश में पाठ्यक्रमों का स्वरूप कैसा रहा ? पूर्व वैदिक काल में केवल ऋग्वेद की उपस्थिति के कारण उसी से सम्बन्धित सूक्तों का अध्ययन–अध्यापन होता था। ऋषि साधक के रूप में मंत्रों के अर्थ एवं वाक् की रचना करते थे, जिसे देववाणी के रूप में स्वीकार किया जाता था। सूक्तों को कंठस्थ करने की परम्परा थी। मौखिक परम्परा के

अन्तर्गत योग्य शिष्यो को कंठस्थ कराया जाता था। असख्य सूत्र विद्वानों के मस्तिष्क में सदैव बने रहते थे, जिनमें से अधिकाश सूक्त समय के साथ विस्मृत हो गये, जो शेष बच गए, उन्हें संहिताओं मे संकलित कर लिया गया। ऋग्वेद का अध्ययन कई शाखाओं में किया जाता था। प्रत्येक शाखा का अध्ययन करने वाला चरण कहा जाता था, जो अपनी शाखा के प्रति आस्थावान रहता था। प्रत्येक चरण के मंत्र–पाठ, कर्मकाण्ड में मंत्रों का विनियोग तथा शिक्षक–शिक्षार्थी का व्यवहार और अनुशासन भिन्न–भिन्न थे। चरण के माध्यम से शाखाओं की पाठ परम्परा सुरक्षित रहती थी।

उत्तर–वैदिक काल तक चारों वेदों का सम्पादन हो चुका था। इनके अर्थ–बोध हेतु टीकात्मक एव चर्चात्मक साहित्य के अन्तर्गत ब्राह्मण साहित्य की रचना हुई। आरण्यक् एवं उपनिषद् साहित्य का विकास हुआ। वेदांगों (शिक्षा, कल्प, निरूक्त, छन्द, व्याकरण एव ज्योतिष) की महत्ता स्थापित हुई। समाज मे यज्ञ एव कर्मकाण्ड की महत्ता स्थापित होने के कारण अनेक गूढ एव दुरूह विषय पाठ्यक्रमो के अंग बने और उनकी शिक्षा दी जाने लगी। यज्ञ सम्बन्धी वेदियो के निर्माण के लिये रेखागणित का साधारण ज्ञान आवश्यक समझा जाने लगा। वस्तुत. उसका विकास हुआ। सौर एवं चन्द्र मास में अंतर स्पष्ट करने के लिये ज्योतिष शास्त्र का सहयोग लिया जाता था। इस प्रकार उत्तर–वैदिक काल में वेद–वेदांग, तर्क एवं दर्शनशास्त्र की प्रतिष्ठा स्थापित हुई और उसकी शिक्षा जिज्ञासु शिक्षार्थियों को दी जाने लगी।

सूत्र–काल तक वेदों की भाँति ब्राह्मण एवं उपनिषद् साहित्य को भी उचित सम्मान मिलने लगा था। इस समय तक लिपि की जानकारी हो चुकी थी। लेकिन, उसकी सहायता नहीं ली जाती थी, क्योंकि वेदों को लिपिबद्ध करना अब भी अधर्म माना जाता था।[56] ऐसी मान्यता थी कि वैदिकमंत्रों के उच्चारण में लेश–मात्र भी त्रुटि होने पर न केवल अभीष्ट की प्राप्ति में बाधा उत्पन्न होगा, बल्कि पाठक को दैव कोप भी भोगना पड़ेगा।[57] अतः यह आवश्यक था कि शिक्षार्थी

अपना अधिकाश समय वैदिक पाठ को शुद्ध–शुद्ध कंठस्थीकरण में ही लगावें। इसके कारण तदर्थ पद–पाठ,[58] क्रम–पाठ, जटा–पाठ और धन–पाठ के साथ–साथ व्याकरण साहित्य का विकास हुआ। धारणा शक्ति पर अधिभार बढ़ा और उसका विस्तार हुआ। विकास के क्रम मे पाठयक्रमों का क्षेत्र एवं उसका स्वरूप विस्तृत होते जाने के कारण सम्पूर्ण ज्ञान को चिरकाल तक मानस पटल में सुरक्षित रख पाना व्यवहारतः कठिन प्रतीत होने लगा। परिणामतः शिक्षार्थियो का दो वर्ग अस्तित्व मे आया। एक वर्ग विशाल साहित्य की कंठस्थीकरण में अपने को संलग्न किया, जबकि दूसरा वर्ग निरूक्त, छन्द, व्याकरण और टीकात्मक साहित्य का अध्ययन कर उसकी समुचित व्याख्या करना अपना शैक्षिक दायित्व समझा। शुगकालीन विद्वान पाणिनी द्वारा रचित 'अष्टाध्यायी' जैसे व्याकरण–शास्त्र का जन्म इसी वातावरण में हुआ। निःसन्देह प्राचीन भारत का सूत्रकाल मेधा की दृष्टि से सृजनात्मकता का काल था और शैक्षिक पाठयक्रमों की दृष्टि से यह काल काफी परिवर्तन के दौर से गुजर रहा था। वेद, वेदांग, ब्राह्मण और उपनिषद् साहित्य के अतिरिक्त जैन और बौद्ध सम्प्रदायो के सुधारवादी आन्दोलनों के परिणामस्वरूप शिक्षा के क्षेत्र में तकनीकी और व्यवसायिक पाठ्यक्रमों का प्रवेश हुआ। लोक भाषा का महत्व बढ़ा और उसे तत्कालीन विद्वत् समाज स्वीकार करने लगा। इसके कारण समाज का बहुसंख्यक वर्ग शिक्षा के प्रति उत्प्रेरित हुआ। यद्यपि इसका विपरीत प्रभाव वैदिक शिक्षा पर पडा और संस्कृत भाषा का विकास बाधित हुआ। जातक साहित्य से विदित होता है कि साहित्य के साथ–साथ व्यवहारिक एवं उपयोगी विषयो को भी शैक्षिक महत्व मिलने लगा था। वेदों में पारगत होने के साथ–साथ 18 शिल्पों में भी दक्ष होना आवश्यक समझा जाने लगा।[59] इसके अन्तर्गत धनुर्विद्या, युद्धकला, आयुर्वेद, इन्द्रजाल, सर्पदंशनिवारण, रथ–संचालन, राजशासन, संगीत, नृत्य, चित्रकला आदि विषय सम्मिलित थे।[60] यद्यपि, वेदों की शिक्षा के साथ–साथ सभी शिल्पों में कुशलता प्राप्त कर पाना किसी भी शिक्षार्थी के लिये व्यवहारतः असंभव था तथापि तक्षशिला जैसे कतिपय प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्रों पर साहित्य के शिक्षार्थियों को किसी एक शिल्प में दक्षता प्राप्त

करना आवश्यक समझा गया, इससे न केवल उन्हे आत्मनिर्भर बनने में सहायता मिली, बल्कि वे आजीविका के संकट से दूर रहकर अपनी सम्पूर्ण शिक्षा निष्ठा से प्राप्त करने लगे।

स्मृति और पुराण काल तक आते–आते मौलिक शिक्षा का पतन होना प्रारभ हो गया और अनुदित एवं अनुकरणात्मक शिक्षा की परम्परा विकसित हुई। वैदिक साहित्य में अभिरूचि रखने वाले शिक्षार्थी मंत्रों के अतिरिक्त पद–पाठ, क्रम–पाठ, जठा–पाठ और धन–पाठ को भी कठस्थ करते थे। वैदिक अध्येताओ को पाठ्यक्रमो के आधार पर संबोधित किया जाने लगा और वही संबोधन उनके परिवार की पहचान बनी; जैसे– द्विवेदी, त्रिवेदी, चतुर्वेदी, इत्यादि।[61] उत्तरकाल में वैदिक मत्रो का पाठ करने वाले ब्राह्मणों से अधिक महत्व उन कवियों को मिलने लगा जो राजा की प्रशस्ति में काव्य रचा करते थे।[62] निश्चित रूप से इसके दोषी वे स्वयं थे, क्योकि वे वेदों के अल्प सूक्त को कंठस्थ तो अवश्य कर लेते थे, लेकिन उसका अर्थ नही जानते थे। इसके कारण सर्वथा उनकी निन्दा होती थी। इस प्रकार हम देखते है कि उत्तरकाल मे वैदिक शिक्षा का गंभीर अध्ययन बाधित हुआ और अल्प ज्ञान को ही पांडित्य समझ लिया गया।

प्राचीन भारत में विभिन्न धर्मावलम्बियो के मध्य वाद–विवाद का स्पष्ट प्रमाण मिलता है, जिसके कारण तत्व ज्ञान को प्रोत्साहन मिलना स्वाभाविक था। व्याकरण और साहित्य की प्रारम्भिक जानकारी प्राप्त कर लेने के उपरान्त तत्कालीन शिक्षार्थी दर्शन के किसी एक शाखा का अध्ययन करते थे। इस क्रम मे उनसे मत प्रतिपादन के साथ–साथ प्रतिपक्ष के मत के खंडन की भी अपेक्षा की जाती थी। इस प्रकार दर्शन के पाठ्यक्रम में तत्वज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन सम्मिलित हुआ। परिणामतः शिक्षार्थियों का दृष्टिकोण तार्किक, गंभीर एवं वैज्ञानिक बना। गौडपाद, शंकराचार्य, नागार्जुन और बसुबंधु जैसे दार्शनिक उक्त कला में पारंगत थे। बौद्ध शिक्षा को सामाजिक महत्व मिलने के कारण सर्वसाधारण के अतिरिक्त वैदिक ज्ञान में आस्था रखने वाले ब्राह्मण शिक्षार्थी भी बौद्ध शिक्षा की

तरफ उन्मुख हुए। आचार्य दिवाकर सेन, जो जन्मना ब्राह्मण थे, बौद्ध धर्म की दीक्षा प्राप्त किये थे। विध्य पर्वत पर उनका आश्रम था जहॉ जिज्ञासु शिक्षार्थियों को विभिन्न विषयो की शिक्षा दी जाती थी।[63]

बुद्ध के उपरान्त बौद्ध शिक्षा को व्यापक जन समर्थन मिलने लगा। ईसा की आरभिक शताब्दी से पाठ्यक्रमों का स्वरूप एवं उसका क्षेत्र भी विस्तृत होता गया। लज्जाराम तोमर के अनुसार प्राचीन शिक्षा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था। अध्यात्म विद्या, भौतिक, विज्ञान, शिल्प एवं कला मे वे अग्रणी थे।[63A] परिणामतः जिज्ञासु शिक्षार्थी तीव्र गति से उसकी ओर उन्मुख हुए। प्रत्येक शिक्षार्थी व्याकरण और संस्कृत साहित्य से अध्ययन प्रारम्भ करते थे, तदुपरान्त उन्हें पालि भाषा की शिक्षा दी जाती थी। क्योंकि, अधिकांश बौद्ध आगम पालि भाषा में लिपिबद्ध था। प्रत्येक शिक्षार्थियों के लिये पालि के साथ–साथ आगमों का अध्ययन आवश्यक था। इसके अतिरिक्त संस्कृत साहित्य, धर्मशास्त्र, महाकाव्य, ज्योतिष, आयुर्वेद, राजनीतिशास्त्र आदि पाठ्यक्रम के अंग थे। जो शिक्षार्थी दर्शनशास्त्र का अध्ययन करना चाहते थे, उन्हें हेतु विद्या, अभिधम्मशास्त्र, न्यायशास्त्र जैसे बौद्ध साहित्य का अध्ययन करना पड़ता था। हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी त्रिपिटकों और महायान सम्प्रदाय के अनुयायी नागार्जुन और बसुबंधु जैसे आचार्य के साहित्य में पांडित्य प्राप्त करते थे। आस्तिक दर्शन से सम्बन्धित साहित्य भी उनके पाठ्यक्रम के अंग थे। निःसदेह दर्शन के विकास मे जो भूमिका उपनिषद् साहित्य की रही, वही भूमिका बौद्ध एवं जैन साहित्य की भी रही। भिक्षुओं के पाठ्यक्रम में धार्मिक विषयों की प्रमुखता रहती थी। 'प्रव्रज्या' के उपरान्त प्रत्येक उपासक अपने आचार्य के निर्देशन में पालि एवं संस्कृत साहित्य का अध्ययन करते थे। तदुपरान्त त्रिपिटकों का सूक्ष्म अध्ययन प्रारम्भ होता था। उन्हें ब्राह्मण साहित्य एवं आस्तिक दर्शन की भी शिक्षा दी जाती थी। ह्वेनसांग भारत में मुख्यतया बौद्ध आगमों के अध्ययन के निमित्त आया था, लेकिन जितने समय तक वह भारत में रहा, उसका एक तिहाई समय ब्राह्मण साहित्य के अध्ययन में व्यतीत हुआ। ब्राह्मण शिक्षार्थियों की भॉति बौद्ध भिक्षु भी 'उपसम्पदा' के उपरान्त जिज्ञासु शिक्षार्थी बने रहते थे।

भाषा और साहित्य के संयोजन और सग्रथन में व्याकरण शास्त्र की महत्ता होती है। शब्द और वाक्य पर विचार करने वाले वैयकरणाचार्यो में शाकट, पाणिनि, पतंजलि, शर्बवर्मन, शशिदेव आदि स्मरणीय है, जिन्होंने व्याकरण शास्त्र में पांडित्य प्राप्त कर बहुचर्चित ग्रंथो का प्रणयन किया था। इत्सिंग के लेख से विदित होता है कि काशिकावृत्ति और पतजलि के महाभाष्य का अध्ययन 4–6 वर्ष में समाप्त होता था। उल्लेखनीय है कि सूत्र एवं स्मृतिकाल तक संस्कृत भाषा का शैक्षिक वर्चस्व बना रहा और उसका सम्यक् विकास होता रहा। लेकिन, बौद्ध शिक्षा को सामाजिक महत्व मिलने के कारण लोकभाषा का विकास हुआ और वह भी शिक्षा का अंश बना। तदन्तर विभिन्न शासको द्वारा प्राकृत को राज्याश्रय प्रदान किया गया। उनके आदेशों एवं अभिलेखों मे उसका प्रयोग हुआ। किन्तु, कालान्तर मे बौद्ध एव ब्राह्मण धर्म में वैचारिक एवं शैक्षिक दूरियॉ मिटने के कारण क्रमशः सस्कृत भाषा को पुनः महत्व मिलने लगा और गुप्तकाल तक आते–आते सस्कृत भाषा ने पुन· अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया। इसके उत्थान में महायान शाखा की भूमिका महत्वपूर्ण रही, जिन्होंने सस्कृत भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया। चूँकि, गुप्त शासक ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे, अतः उनके समय में संस्कृत भाषा को महत्व मिलना स्वाभाविक था। परिणामतः प्राकृत भाषा का महत्व कम होता गया और सस्कृत का वर्चस्व स्थापित हुआ। बुद्ध ने जिस सामाजिक एवं धार्मिक बुराइयों की तरफ अपना ध्यान केन्द्रित कर धर्म एवं शिक्षा को सर्वसाधारण तक पहुँचाया था, छठी शताब्दी के उपरान्त लगभग वही बुराइयां पुनः उसमे प्रविष्ट हो गई। परिणामतः लोक भाषा का महत्व गौण हुआ और तत्कालीन साहित्य की रचना संस्कृत भाषा में होने लगी।

स्पष्ट है कि उच्च शिक्षा से सम्बन्धित पाठ्यक्रमों को स्वरूप समय–समय पर परिवर्तित होता रहा। आरम्भ में वेद ही उच्च शिक्षा का मुख्य विषय होता था, जिसकी शिक्षा मौखिक दी जाती थी और भाषा के रूप में वैदिक संस्कृत का प्रयोग होता था। कालान्तर में वेदों की बहुसंख्यक शाखाएँ विकसित हुई और उपनिषद्काल में दर्शनशास्त्र का प्रादुर्भाव हुआ। बौद्धों के प्रयासोपरान्त तत्कालीन

शिक्षा सर्वसाधारण तक पहुँची। उन्होने धर्म एवं दर्शन के अतिरिक्त व्यवहारिक विषयो को भी महत्व देना प्रारम्भ किया। चूँकि पाठ्यक्रम शिक्षा के उद्देश्यो की प्राप्ति का साधन होता है,[63B] अतः शिक्षा का स्वरूप ध्येय एवं अवधारण परिवर्तित होता गया और धार्मिक विषयों के साथ–साथ तकनीकी एव व्यवसायिक विषय भी पाठ्यक्रमों के अन्तर्गत सम्मिलित हुए। लोक भाषा नेपथ्य एवं हाशिए से निकलकर अपनी शैक्षिक और बौद्धिक महत्ता सिद्ध की। तकनीकी एवं चिकित्सकीय शिक्षा को महत्व मिलने के कारण जनसामान्य के जीवन स्तर को सुधारने में वह महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इस प्रकार छठी शताब्दी तक शिक्षा का दृष्टिकोण एवं पाठ्यक्रमों का स्वरूप व्यापक होता गया। वेद–वेदांग, ब्राह्मण साहित्य, उपनिषद् साहित्य, आरण्यक् साहित्य, सूत्र साहित्य, स्मृति साहित्य, महाकाव्य, पुराण, इतिहास, त्रिपिटक, आगम, जातक साहित्य, जैन साहित्य तथा विभिन्न शिल्पो एवं व्यवसायो को पाठ्यक्रमों के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया।

आलोच्य काल में धार्मिक विषयों की भॉति जीवनोपयोगी विषयों की व्यवस्थित शिक्षा का उल्लेख नहीं मिलता। ज्योतिष का विधान है कि यदि उष्ण प्रभावित क्षेत्र विकसित हो तो अभीष्ट फल की प्राप्ति हेतु शीत प्रभावित क्षेत्र को विकसित कर समानता लाने का प्रयास करना चाहिए। यही भूल प्राचीन शिक्षाविदों ने की थी। वर्तमान डाक्टर एवं इंजीनियर प्राचीन समय का वैद्य एवं शिल्पकार था। आज भारत सूचना तकनीकी के क्षेत्र में इसलिए अग्रणी है, क्योंकि वर्तमान समाज इसके महत्व को स्वीकार कर इसे प्रोत्साहित कर रहा है। हर वर्ग के लोग सम्बन्धित दिशा में जाने हेतु उत्प्रेरित है। प्रारम्भ में जब बौद्धों ने सर्वसाधारण को शिक्षित करना प्रारम्भ किया और सम्बन्धित वर्ग शिक्षा के क्षेत्र में अपनी उपलब्धि दर्शित करने लगे, तब न केवल उनके विषयगत महत्व को स्वीकार किया गया बल्कि तक्षशिला और नालन्दा जैसे प्रसिद्ध शिक्षण केन्द्रों पर विभिन्न शिल्पों एवं व्यवसायों की शिक्षा परशुराम और भरद्वाज जैसे ऋषियों ने इनके महत्व को समझा। कुनिंद जैसे आचार्यों का सान्निध्य इन्हें प्राप्त होने लगा।

जातक साहित्य से विदित होता है कि तक्षशिला 18 शिल्पों के अध्ययन के लिये प्रसिद्ध था, जहाँ देश के कोने–कोने से जिज्ञासु छात्र अध्ययन के निमित्त आते थे।[64] उन्हे विविध विषयो के अतिरिक्त अर्थशास्त्र शिल्प एवं वार्ता (कृषि, पशुपालन एव वाणिज्य–व्यापार) आदि की भी सम्यक् शिक्षा दी जाती थी।[65] विविध विषयो के अन्तर्गत आयुर्वेद, शल्यचिकित्सा, धनुर्विद्या, युद्धकला, मुनीमी, रथ–सचालन, इन्द्रजाल, सर्पक्रीडा, गुप्तनिधि–अन्वेषण (रत्नान्वेषण), वाद्य, संगीत, नृत्य, चित्रकला, वास्तुकला, तक्षण, नक्षत्र–कर्म, अश्व–गज परिचालन आदि सम्मिलित था।[66] कौटिल्य रचित अर्थशास्त्र से भी तक्षशिला मे अन्य विषयों के अतिरिक्त वार्ता (कृषि, पशुपालन एवं वाणिज्य–व्यापार) की शिक्षा की पुष्टि होती है।[67] कौटिल्य स्वय तक्षशिला का भूतपूर्व शिक्षार्थी था, जिसने अपनी शिक्षा समाप्ति के उपरान्त आचार्यत्व स्वीकार किया था। सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य ने उसी के निर्देशन में सैन्य–विज्ञान और राजशासन की शिक्षा प्राप्त किया था। वात्स्यायन रचित कामसूत्र से ज्ञात होता है कि गुप्तकाल मे 64 कलाओ की शिक्षा दी जाती थी।[68] चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भारत यात्रा के दौरान जिन विविध विषयों का अध्ययन किया था, उनमे शिल्प एवं आयुर्वेद भी सम्मिलित था।[69] दण्डी ने भी अपनी रचना में नाट्यकला, राजनीतिशास्त्र,संगीत, रसशास्त्र, युद्धविद्या, द्यूत एवं चौर्य विद्या आदि विषयों का उल्लेख किया है, जिसकी शिक्षा अभिलषित शिक्षार्थियों को दी जाती थी।[70] स्पष्ट है कि उत्तरकाल में शैक्षिक पाठ्यक्रमों का विस्तार होता गया और विभिन्न उपयोगी एवं व्यवहारिक विषय शिक्षा के अंग बनते जा गये।

प्रारम्भ में तकनीकी और व्यवसायिक विषयों की शिक्षा पारिवारिक परम्परा के अन्तर्गत कार्य व्यवहार के द्वारा दी जाती थी। परिवार के ज्येष्ठ एवं अनुभवी सदस्य शिक्षक की भूमिका का निर्वहन करते थे। कालान्तर में उनकी पहचान अपने व्यवसाय के आधार पर बनी। विभिन्न परिवारों द्वारा अपने क्षेत्र विशेष को प्रोत्साहित करने एवं उसमें दक्ष होने के कारण विशेषज्ञता एवं उत्कृष्टता को बल मिला। विकास के क्रम में जब उनकी महत्ता सिद्ध होने लगी तब राज्य का सहयोग भी उन्हें प्राप्त होने लगा। परिणामतः व्यक्तिगत शिक्षा सामाजिक शिक्षा में

तब्दील होने लगी। यद्यपि विद्वत समाज द्वारा उन्ही विषयो को महत्व मिलता रहा जिनकी आवश्यकता उन्हें समय–समय पर महसूस हुई जैसे– सैन्य–शिक्षा, आयुर्वेद की शिक्षा आदि। जबकि, अन्य विषय उपेक्षित रहे और व्यक्तिगत प्रयास से ही विकसित होते रहे। जैसे–कुम्भकारी की शिक्षा, बढ़ईगीरी की शिक्षा, अस्त्र–शस्त्र निर्माण की शिक्षा आदि।

जहॉ तक सैन्य शिक्षा का प्रश्न है, वैदिक कालीन आर्य युद्ध–प्रिय होने के कारण अश्वारोहण और रथ–परिचालन मे दक्ष थे, तथा अपनी सैन्य श्रेष्ठता के कारण ही वे दस्युओ पर विजय प्राप्त किये थे। यद्यपि, उस समय तक इसकी व्यवस्थित शिक्षा नहीं दी जाती थी, तथापि इसकी सामान्य व्यवहारिक शिक्षा परिवार के ज्येष्ठ एवं अनुभवी सदस्यो द्वारा दी जाती थी। धनुष–वाण, ढाल, गदा, बर्छे आदि उनके आयुध थे, जिनका निर्माण वे स्वयं करते थे। किन्तु, बाद में कतिपय परिवारों द्वारा इसे व्यवसाय के रूप में अपना लिया गया और उन्होने इसे अपनी जीविका का आधार बनाया। इस प्रकार जिज्ञासु शिक्षार्थियों को परिवार के ज्येष्ठ सदस्यों से इसकी व्यवहारिक शिक्षा मिलती रही। इस परम्परा का दृष्टान्त वर्तमान भारतीय समाज में भी देखने को मिल जाएगा। रथ–संचालन और पदादि सेना का प्रशिक्षण किसी संस्था के माध्यम से न होकर व्यवहारिक ज्ञान इसमें सहायक बनता था। प्रारम्भ में किसी सैन्य विद्यालय का न मिलना भी व्यवहारिक ज्ञान की महत्ता को सिद्ध करता है।

प्रत्येक ग्रामवासियों से यह आशा की जाती थी कि अपनी रक्षा वे स्वयं करेंगे। कौटिल्य रचित अर्थशास्त्र के अनुसार, प्रत्येक ग्रामवासियों को अपनी रक्षा हेतु स्वयं योग्य बनाना चाहिए।[71] स्पष्ट है कि प्राचीन ग्रामवासी अपने परिवार के ज्येष्ठ एवं अनुभवी सदस्यों से व्यवहारिक सैन्य–शिक्षा प्राप्त कर अपने परिवार एवं ग्राम की रक्षा हेतु सर्वथा सचेष्ट रहते थे। यूनानी इतिहासकारों के विवरण से भी स्पष्ट होता है कि सिकन्दर कालीन भारतीय गॉव विभिन्न प्रकार के अस्त्र–शस्त्रों से सुसज्जित होता था। कई स्थानों पर उसकी सेना को वहाँ की जनता से भयंकर संघर्ष का सामना करना पड़ा था, जो पूर्णतया अस्त्र–शस्त्रों से सुसज्जित

थे।[72] पजाब क्षेत्र के कठ, मालव, यौधेय, शिवि आदि गणराज्य अपने यहाँ के प्रत्येक बालिग सदस्य को सैन्य–शिक्षा देते थे। लिच्छवी गणराज्य अपनी सैन्य कुशलता के लिए ख्यात था। मल्ल गणराज्य के प्रत्येक बालिग सदस्य सैन्य–कला में दक्ष होते थे। कई गॉव अपनी सैन्य दक्षता के लिये ख्यात थे। सैन्य उत्कृष्टता के कारण राज्य की ओर से कर–मुक्त भूमि दान मे दी जाती थी तथा कई गॉव कर–मुक्त घोषित थे। बदले में उस गॉव के सदस्य अपने राजा को सैन्य सहयोग प्रदान करते थे।[73]

कालान्तर में जब गॉव नगर मे, नगर राज्य में एवं राज्य साम्राज्य मे तब्दील होने लगे, तब सेना की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण होती गयी। राज्य के लिये दक्ष, प्रशिक्षित एवं अनुभवी सेना की आवश्यकता प्रतीत होने के कारण शासक वर्ग की अभिरूचि भी क्रमशः सैन्य शिक्षा की ओर बढने लगी और कालांतर में राजकुमारो के लिये इसकी शिक्षा अनिवार्य होती गई। प्राचीन गुरूकुल, जो प्रारम्भ में सैन्य–शिक्षा प्रदान करने मे विशेष अभिरूचि नही रखते थे, जिज्ञासु शिक्षार्थियों को सैन्य–शिक्षा प्रदान करने लगे। ऐसा उल्लेख मिलता है कि एक ब्राह्मण राजपुरोहित नें अपने पुत्र को धनुर्विद्या की शिक्षा प्राप्त करने हेतु तक्षशिला भेजा था।[74] यह सिद्ध करता है कि क्षत्रिय राजकुमारों के साथ ब्राह्मण–पुत्र भी सैन्य शिक्षा प्राप्त करते थे। संभवतः इसका उद्देश्य सैन्य–शिक्षा में पारंगत होकर उसमे आचार्यत्व प्राप्त करना था। क्योंकि, इसकी पुष्टि गुरू द्रोणाचार्य के प्रसंग से भी होती है, जिसने महाराज द्रुपद के साथ हरिद्वार स्थिति ब्रह्मर्षि भरद्वाज के आश्रम में सैन्य–शिक्षा प्राप्त कर आचार्यात्व प्राप्त किया था। इस प्रकार स्पष्ट है कि सैन्य–शिक्षा की महत्ता स्थापित होने पर आचार्यात्व के उद्देश्य से ब्राह्मण शिक्षार्थी भी सैन्य–शिक्षा प्राप्त करने लगे थे। महेन्द्र पर्वत पर स्थित महर्षि परशुराम के आश्रम में अन्य विषयों के अतिरिक्त सैन्य–शिक्षा भी दी जाती थी। पितामह भीष्म ने कौरव और पाण्डवो को सैन्य–शिक्षा प्रदान करने हेतु गुरू द्रोणाचार्य को नियुक्त कर, उन्हें निःशुल्क सुसज्जित आवास उपलब्ध कराया था।[75] राजकुमारों को सैन्य शिक्षा प्रदान करने से सम्बन्धित प्रमुख शिक्षा केन्द्र तक्षशिला विश्वविद्यालय था,

जहॉ देश–विदेश के जिज्ञासु शिक्षार्थी सैन्य–दक्षता प्राप्त करने के उद्देश्य से आते थे। जातक साहित्य से ज्ञात होता है कि यहॉ के एक सैन्य विद्यालय में 103 राजकुमार हस्त–परिचालन, अश्वारोहण तथा विभिन्न आयुधों के परिचालन की शिक्षा प्राप्त करते थे।[76] कोशल नरेश प्रसेनजित एव महान अर्थशास्त्री कौटिल्य भी तक्षशिला में ही शिक्षा प्राप्त कर विद्वान बने थे। सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य को सैन्य–विज्ञान की शिक्षा आचार्य कौटिल्य के निर्देशन में प्राप्त हुई थी। सामरिक क्षेत्र में व्यूह–रचना एवं सैनिकों मे अनुशासन की जानकारी सिकन्दर के सैन्य अभियान से प्राप्त हुई थी। मिलिन्द पन्हो से ऐसे शिक्षकों की जानकारी प्राप्त होती है जो अभिलाषी राजकुमारों कंो सैन्य–शिक्षा प्रदान कर उनसे भूमि, धन, अश्व आदि दान मे प्राप्त करते थे।[77] दक्षिण भारतीय लेख में एक शिक्षक को अश्व परिचालन मे अद्भूत प्रतिभावाला कहा गया है।[78] बाणभट्ट रचित कादम्बरी से ज्ञात होता है कि जगह–जगह सैन्य–पाठशालाएँ खुलने लगी थी,[79] जहॉ राजकुमारो, मत्रियो एवं उच्चाधिकारियों के जिज्ञासु बच्चे साथ–साथ सैन्य शिक्षा प्राप्त करते थे। सहशिक्षा के कारण उनमें प्रतिस्पर्धा की भावना विकसित होती थी। वे पाठशालाएँ जो राजधानियों के समीप होती थीं, शिक्षार्थियों के लिये व्यायाम, तैराकी एवं अन्य सैन्य अभ्यास का समुचित प्रबन्ध करती थी। इतिहास, वार्ता, दंडनीति, सामान्य प्रशासन, व्यवहारशास्त्र आदि की भी शिक्षा उन्हें दी जाती थी। निश्चित रूप से इस प्रकार के शिक्षण संस्थाओं के जन्मदाता वे ही विद्वान ब्राह्मण थे, जो पूर्व मे तक्षशिला जैसे शिक्षण संस्थाओं से सैन्य–विज्ञान की शिक्षा प्राप्त कर आचार्यात्व प्राप्त किये थे। उन्हें प्रोत्साहित करने में राज्य की भूमिका महत्वपूर्ण रही। कालिदास की रचना से भी धनुर्विद्या एवं दण्डी की रचना से युद्ध विद्या की जानकारी प्राप्त होती है।[79A]

प्रारंभिक आर्य मूलतः पशुपालक थे, अतः उनके जीवन में पशुओं का विशेष महत्व था। ऋग्वेद से विदित होता है कि गाय विनिमय का माध्यम थी। गोधन की रक्षा हेतु वे सर्वथा सचेष्ट रहते थे और उनके मध्य संघर्ष भी प्रायः गायों के लिये ही होता था। गायों को दुहने का कार्य संभवतः स्त्रियाँ ही करती थी,

अतएव उन्हे 'दुहिता' कहा जाता था। स्पष्ट है कि प्रारंभिक आर्यो के जीवन में कृषि का महत्व गौण था। किन्तु विकास के क्रम मे कृषि का महत्व बढा और उनका खानाबदोश परक जीवन स्थायित्व की ओर उन्मुख हुआ। उनमें सामुदायिकता एवं सह अस्तित्व की भावना विकसित हुई। तकनीकी विकास से अधिशेष उत्पादन प्रारम्भ होने के कारण ईसा पूर्व छठी शताब्दी में व्यवस्थित नगरीय जीवन का प्रादुर्भाव हुआ। ग्रामीण एवं नगरीय जीवन के मध्य अप्रत्यक्षत. कार्यो का बटवारा हुआ। नगरो में रहने वाले लोग वाणिज्य व्यापार से जुडे, जबकि ग्रामवासियों का जीवन कृषि एव पशुपालन पर अवलम्बित रहा। 'ऋग्वेद' से हल एवं बैल द्वारा कृषि कार्य की जानकारी प्राप्त होती है। कृषि को सफल बनाने हेतु उसमें प्रार्थनाओ का उल्लेख मिलता है। कृषि कार्य में पिता को सहयोग प्रदान करते हुए विदुषी 'अपाला' को दर्शित किया गया है।[80] अथर्ववेद, ब्राह्मण साहित्य, रामायण एवं महाभारत से पशुपालन एवं कृषि के विभिन्न प्रकारों की जानकारी प्राप्त होती है। यद्यपि वैदिक शिक्षा धर्म से प्रभावित होने के कारण पशुपालन एवं कृषि जैसे जीवनोपयोगी विषय को विशेष महत्व नही मिल पाया, तथापि आचार्य के गृहकार्य मे सहयोग प्रदान करते समय शिष्य को उपयोगी विषयों की व्यवहारिक शिक्षा प्राप्त हो जाती थी। कृषि कार्य् में सहयोग करने का जीवंत दृष्टान्त आरूणि की कथा है। विभिन्न फसलों की जानकारी, बीज, खाद, जुताई, बुआई, सिंचाई एवं मडाई की विधि, मौसम की जानकारी, पशुओं से संबंधित व्याधियों की जानकारी आदि की शिक्षा उन्हें व्यवहारिक रूप में दी जाती थी। लेकिन, इसमें पारंगत होना सभी के लिये अनिवार्य नही था। पशुपालन एव कृषि के क्षेत्र में जो भी विकास हुआ उसमें पशुपालक एवं कृषक परिवार की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। उनका व्यक्तिगत प्रयास ही इस क्षेत्र मे उत्थान का कारक बना। विभिन्न फसलों की जानकारी, खाद्य एवं अखाद्य फलों में अंतर, मौसम का ज्ञान एवं उसकी उपयोगिता, सिंचाई की जानकारी, कृषि कार्य में पशुओं की उपयोगिता, भूमि की उर्वरता में गोबर का महत्व, अधिशेष उत्पादन का ज्ञान, दूध, दही, धृत एवं शहद आदि की जानकारी सर्वप्रथम परिवार के ज्येष्ठ सदस्यों से प्राप्त होती थी। तदुपरान्त उसका

सूक्ष्म एवं विस्तृत ज्ञान शिक्षण संस्थाओं में गुरू के सान्निध्य में रहकर वे प्राप्त करते थे। निःसन्देह समाज का वह वर्ग, जो वैदिक शिक्षा से वंचित रहा, इस क्षेत्र मे अपनी सार्थक भूमिका निभाया। वह वर्ग अपने व्यक्तिगत प्रयास से पशुपालन एवं कृषि के क्षेत्र को समृद्ध किया। यदि तत्कालीन विद्वत समाज द्वारा उन्हें यथोचित सहयोग मिला होता और धार्मिक विषयो की भॉति कृषि एवं पशुपालन को भी उच्च शिक्षा का पाठ्यक्रम बनाया जाता, तो इसका इतिहास कुछ और होता। गुरुकुलो मे इसकी शिक्षा उतनी ही दी जाती थी, जितना दैनिक जीवन के लिये आवश्यक था। लेकिन, जब बौद्धो ने सर्वसाधारण को भी शिक्षित करना प्रारम्भ किया, तब विभिन्न व्यावहारिक विषयो को भी पाठ्यक्रमों के अन्तर्गत समुचित स्थान दिया गया। क्योकि, समाज का बहुसंख्यक वर्ग उन्हीं विषयों से व्यवहारिक स्तर पर जुडा होता था। अतः उन्हें धर्म एवं दर्शन के साथ–साथ तकनीकी एवं व्यवसायिक विषयों की भी शिक्षा दी जाने लगी।

बौद्धों से प्रेरणा प्राप्त कर ब्राह्मणों ने भी वैदिक शिक्षा के साथ–साथ विभिन्न उपयोगी विषयों की शिक्षा प्रदान करने लगे। जातक साहित्य से विदित होता है कि तक्षशिला में 18 शिल्पों के अतिरिक्त पशुपालन एवं कृषि की भी शिक्षा दी जाती थी।[81] कौटिल्य ने भी शैक्षिक पाठ्यक्रमो के अन्तर्गत वार्ता (कृषि पशुपालन एव वाणिज्य–व्यापार) का उल्लेख किया है।[82] इन विषयों की शिक्षा तक्षशिला जैसे महत्वपूर्ण शिक्षा केन्द्रों के साथ–साथ व्यक्तिगत प्रयास से चलने वाले पाठशालाओं में भी दी जाती थी। सभवतः तक्षशिला जैसे महत्वपूर्ण शिक्षा–केन्द्रों पर शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त, वे शिक्षार्थी, जो आचार्यात्व प्राप्त करना चाहते थे, निजी विद्यालय चलाते थे। किन्तु, प्राचीन पांडुलिपियों के विनष्ट हो जाने के कारण इसकी साक्ष्यगत पुष्टि नहीं की जा सकती। पाटलिपुत्र निवासी 'जीवक', जो तक्षशिला जाकर आयुर्वेद–शास्त्र का गहन अध्ययन किया था, को लगभग सभी वनस्पतियों एवं खाद्य पदार्थों के बारे में सम्यक् जानकारी प्राप्त थी। इसकी अप्रत्यक्ष सम्बन्ध कृषि एवं पशुपालन से भी था।

स्पष्ट है कि प्रारम्भ मे पशुपालन एव कृषि की व्यवस्थित शिक्षा किसी शिक्षण—सस्थाओ में नहीं दी जाती थी, बल्कि इसका केन्द्र परिवार होता था, जहॉ जिज्ञासु सदस्यों को उपयोगी विषयो की व्यवहारिक शिक्षा प्राप्त होती थी। समाज का बहुसख्यक वर्ग इसके अनुसंधान मे सलग्न था। किन्तु, कालान्तर में जब उनके व्यवहारिक ज्ञान के महत्व को समझा जाने लगा, तब बौद्धो ने उन्हें प्रोत्साहित कर सम्बन्धित विषय की शिक्षा देना प्रारम्भ किया। परिणामतः विभिन्न उपयोगी एवं व्यवहारिक विषय शैक्षिक—पाठ्यक्रमो के अंग बने।

चूँकि, प्रारंभिक आर्य मूलतः पशुपालक थे। अतः कृषि की जानकारी उन्हें नही थी। अधिशेष उत्पादन के अभाव में वाणिज्य—व्यापार का महत्व नगण्य था। पणि (व्यापारी) वर्ग बडे हेय दृष्टि से देखे जाते थे। इसकी पुष्टि ऋग्वेद से होती है। किन्तु, उत्तरकाल में जब आर्यो की युद्ध सम्बन्धी वासना शांत हुई और उनका खानाबदोशपरक जीवन स्थायित्व के लिये ललायित होने लगा, तब न केवल उनकी अभिरूचि कृषि कार्य में बढ़ी, बल्कि उनकी शोधपरक मस्तिष्क के कारण कृषि के क्षेत्र में विभिन्न तकनीकों का प्रवेश हुआ। परिणामतः अधिशेष उत्पादन के अनन्तर ईसा—पूर्व छठी शताब्दी में द्वितीय नगरीय क्रांति की प्रार्दुभाव हुआ। यह सर्वविदित है कि नगरों के उत्थान में वाणिज्य—व्यापार की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, क्योकि नगरीय जीवन का वाणिज्य—व्यापार से गहरा सम्बन्ध होता है। इस प्रकार द्वितीय नगरीय क्रांति के उपरान्त तीव्रगति से अधिशेष उत्पादन प्रारम्भ हुआ और अन्तर्राज्यीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की नींव पड़ी। ईसा की आरंभिक शताब्दी में रोम से होने वाले वैदेशिक व्यापार से भारतीयों ने पर्याप्त लाभ उठाया। पांडिचेरी स्थित अरिकामेडू से तमाम पुरातात्विक साक्ष्य प्राप्त हुए हैं। कुषाण कालीन सिक्कों से ज्ञात होता है कि देश का आन्तरिक एवं वाह्य व्यापार चरमोत्कर्ष पर था। गुप्तकालीन स्वर्ण सिक्कों से ज्ञात होता है कि देश का वैदेशिक व्यापार ह्रासोन्मुख था, लेकिन सिक्कों की बहुतायतता से विदित होता है कि आन्तरिक व्यापार प्रगति पर था। गुप्तोत्तर काल में सिक्कों की अनुपलब्धता

यह सिद्ध करता है कि भारत का वैदेशिक व्यापार हाशिए पर चला गया था और आन्तरिक व्यापार भी क्षरण की अवस्था मे था। इसके लिये उस समय की राजनैतिक परिस्थितियॉ जिम्मेदार थी।

अधिशेष उत्पादन के परिणामस्वरूप वाणिज्य—व्यापार का महत्व बढा। सह अस्तित्व, सहकारिता, सामाजिकता एवं भौतिक उत्कर्ष की भावना विकसित हुई। रोजगार की संभावनाएँ बढी। लोगों का जीवन स्तर ऊँचा उठा। शिक्षा का दायरा बढ़ा और चिंतन का फलक विस्तृत हुआ। व्यापार का क्षेत्र बढने के कारण वस्तु—विनिमय के स्थान पर साख के रूप में मुद्राओ का इस्तेमाल होने लगा। प्रारम्भ मे इनकी शिक्षा जो इस पेशे से जुडे हुए वर्ग थे, उन्हे अपने परिवार के ज्येष्ठ सदस्यों से मिलती थी। विभिन्न व्यवसायो से सम्बद्ध पिता अपने बच्चों को साथ मे रखकर उसे व्यवहारिक प्रशिक्षण देते थे तथा वह अपने नूतन ज्ञान से क्षेत्र विशेष को और परिमार्जित करते थे। इस प्रकार अपने पैतृक व्यवसाय को अपनाने और व्यक्तिगत प्रयासों से उसमें दक्षता प्राप्त करने की एक परम्परा सी चल पडी। सम्बन्धित वर्ग जब अपने व्यक्तिगत प्रयासो से क्षेत्र विशेष में विशेषज्ञता प्राप्त कर समाज को विभिन्न सुविधाएँ उपलब्ध कराने लगा, तब इनके व्यावसायिक महत्व को तत्कालीन समाज द्वारा स्वीकार किया जाने लगा। उनका व्यवसाय भी शैक्षिक पाठ्यक्रमों में सम्मिलित हुआ। वर्णित है कि जब बौद्धों ने सर्वसाधारण को शिक्षित करना प्रारम्भ किया तब उनके व्यवसाय को भी शैक्षिक पाठ्यक्रमों के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया। ब्राह्मण शिक्षण संस्थाएं भी उनके महत्व को स्वीकार कर उन्हें शिक्षा के योग्य समझा तथा उनका व्यवसाय पाठ्यक्रम का अंग बना। जातक साहित्य से विदित होता है कि तक्षशिला के शैक्षिक पाठ्यक्रमों के अन्तर्गत 18 शिल्पों में व्यवहार—गणित, मुनीमी और वाणिज्य—व्यापार आदि सम्मिलित था।[83] इस बात की पुष्टि कौटिल्य के विवरण से भी होती है, जिसके अनुसार वार्ता की शिक्षा के अन्तर्गत वाणिज्य—व्यापार सम्मिलित था।[84] आगे चलकर नालन्दा, वलभी और विक्रमशीला जैसे शिक्षा केन्द्रों पर इसकी शिक्षा दी जाने लगी।

प्रथम शताब्दी के आस–पास देश के अधिकांश भागों में व्यापारी समुदाय की सुसंघटित श्रेणियाँ बन चुकी थी। भिन्न–भिन्न श्रेणी संगठन अपने–अपने व्यापारिक समूहों का प्रतिनिधित्व करते थे। प्रत्येक श्रेणी संघ अपने समुदाय के लोगों को शिक्षित करने का कार्य भी करते थे। इसके लिये वे आर्थिक एवं नैतिक सहयोग प्रदान कर प्रोत्साहित करते थे। यद्यपि विभिन्न व्यवसायों की व्यवहारिक शिक्षा उत्तराधिकार के आधार पर परिवार में मिलती रही, तथापि प्रत्येक श्रेणी संघ द्वारा संचालित शिक्षण संस्थाओं से न केवल विशेषज्ञता को प्रोत्साहन मिला, बल्कि सम्बन्धित व्यवसाय कालान्तर में उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रमों मे भी सम्मिलित हुआ।

इस प्रकार प्राचीन भारत मे अन्य विषयों की भाँति वाणिज्य–व्यापार को भी महत्व मिला। इसकी शिक्षा प्रदान करने में संबंधित परिवार तक्षशिला, नालन्दा और वलभी जैसे बड़े शिक्षण सस्थाओं तथा श्रेणी संघों की भूमिका महत्वपूर्ण रही। यह सच है कि उत्तरकालीन शिक्षा में यह एक महत्वपूर्ण विषय बन चुका था तथा तत्कालीन समाज इसके महत्व को स्वीकार करने लगा था, किन्तु विद्वत समाज द्वारा अब भी इसे शिक्षा का मूल विषय नहीं माना गया। बल्कि सहायक विषय के रूप में ही इसकी शिक्षा दी जाती रही।

जहाँ तक शिल्पगत शिक्षा का प्रश्न है, आदिकालीन समाज में विभिन्न व्यवसायों एवं शिल्पों को बड़े ही सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। समाज का प्रत्येक सदस्य अपनी अभिरूचि, योग्यता और आवश्यकतानुसार विभिन्न क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन कर निर्माण कार्यों में संलग्न था। जीवन को सुखद एवं उपयोगी बनाना उसका लक्ष्य था। जीवन का यथार्थवादी पक्ष अत्यधिक प्रबल होने के कारण उसका आध्यात्मिक जीवन गौण एवं भौतिक जीवन महत्वपूर्ण बना रहा। विकास के क्रम में जब उसे नये–नये क्षेत्रों की जानकारी प्राप्त होने लगी, तब उस ज्ञान को व्यवहारिक जीवन में परिणित किया जाना स्वाभाविक होता गया। जैसे– पशुओं की उपयोगिता, चाक का आविष्कार, मिट्टी के बर्तनों का निर्माण, अग्नि की खोज, पाषाण निर्मित उपकरणों का महत्व, काष्ठ निर्मित वस्तुओं का उपयोग, भावनात्मक अमूर्त अभिव्यक्ति के परिणामस्वरूप चित्रकला एवं मूर्तिनिर्माण कला का

जीवन मे प्रवेश, वनस्पतियों एव औषधियो की खोज, फलों का महत्व, धातुओ (ताम्र, कास्य एव लौह तत्व) की जानकारी एव उससे सम्बन्धित उपकरणों का जीवन मे महत्व, विभिन्न परिधानों की खोज एवं सौन्दर्य शास्त्र का विकास आदि। ये विषय मनुष्य के दैनिक जीवन से जुडे हुए थे, जिसका महत्व उनके भौतिक जीवन में था।परोक्षतः इसका आध्यात्मिक महत्व भी था, क्याकि सुखद भौतिक जीवन स सफल आध्यात्मिक जीवन की कामना तत्कालीन विद्वत् समाज द्वारा की जाती थी। इसका ज्ञान उन्हें किसी संस्थान के माध्यम से न होकर, आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है, के अन्तर्गत होती थी। आगे चलकर समस्त उपयोगी ज्ञान सम्बन्धित परिवार से व्यवहारतः जुडता चला गया और व्यवहारिक शिक्षा के अन्तर्गत इसका विकास होने लगा।

प्रारभिक आर्यो का आध्यात्मिक जीवन भौतिक समृद्धि पर केन्द्रित था। देवोपासना मुख्यतः भौतिक कल्याण जैसे—युद्ध में विजय, अच्छी खेती, संतति, पशु, अन्न, धन, स्वास्थ्य आदि उद्देश्य से की जाती थी। किन्तु, जैसे—जैसे मानव का सरल जीवन संशिलिष्ट होता गया। उसमें भय एवं रहस्य तथा राग एवं द्वेष का भाव प्रवेश करता गया, वस्तुतः उसकी परिणति कर्मकांडीय जीवन पद्धति के रूप मे हुई। आगे चलकर कर्मकांडों का महत्व इतना अधिक बढ़ गया कि जीवन का कोई भी पक्ष उससे अछूता नहीं रहा। यद्यपि उसका भी परोक्ष सम्बन्ध भौतिक कल्याण से ही रहा। चूँकि, आर्यो का सम्पूर्ण जीवन धर्म से प्रभावित था, अतः उनके शैक्षिक पाठ्यक्रमों मे धार्मिक विषयो का वर्चस्व होना स्वाभाविक था। लेकिन, कालान्तर में परिस्थितिजन्य प्रभावों के कारण शिक्षा का क्षेत्र विस्तृत होता गया और उसके अन्तर्गत धर्मेत्तर विषयों को भी सम्मिलित किया गया। किन्तु सहायक विषय के रूप में ही उसे स्वीकार किया जाता रहा। धार्मिक पाठ्यक्रमों की प्रध ानता के कारण समाज का बहुसंख्यक वर्ग, जो लंबे समय तक वैदिक शिक्षा से वंचित रहा, अपने को उपेक्षित महसूस करने के कारण विकास की मुख्य धारा से कटा रहा। अतः जिन व्यवसायों से वह व्यवहारतः जुडा हुआ था, उसका अपेक्षित विकास नही कर पाया। अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आर्यों ने धर्म को

ही शिक्षा का मुख्य विषय क्यो बनाया ? जब उन्होने यह महसूस किया कि मनुष्य जो भी कार्य करता है, उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध उसके अन्तःचेतना से होता है। आतरिक शक्ति ही उसे किसी भी कार्य के लिये प्रेरित करती है। जब मनुष्य का अन्त.करण दूषित होता है, तभी वह अमानवीय एव असामाजिक कार्य करने लगता है। अतः आन्तरिक शक्ति को परिष्कृत, परिमार्जित एवं सस्कारित करने हेतु उन्होने धर्म का सहारा लिया और उनकी सम्पूर्ण शिक्षा धार्मिक विषयों पर केन्द्रित होती गयी। चूँकि, प्राचीन शिक्षा का मूल उद्देश्य चरित्र–निर्माण के साथ–साथ व्यक्तित्व का सर्वागीण विकास करना था, जिसका अंतिम लक्ष्य मोक्ष था। अतः तत्कालीन शिक्षा धार्मिक विषयो पर केन्द्रित होती गयी। कालान्तर में उन्होंने उन सभी विषयों को धर्म से जोड दिया जिनकी आवश्यकता मानव जीवन के लिये थी। अर्थात् अपने शोधात्मक ज्ञान को व्यवहारिक जीवन मे परिणित करने हेतु उसका धार्मिक रूपान्तर कर दिया।

प्रारभिक आर्य मूलतः यायावर, खानाबदोश एवं पशुपालक थे। विकास के क्रम में उनमे स्थायित्व की भावना का प्रवेश हुआ और वे सभ्यता के विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान अर्पित करने लगे। उनके स्थायित्व मे कृषि की भूमिका महत्वपूर्ण रही। कृषि को महत्ता सिद्ध होने पर उस क्षेत्र में नयी–नयी तकनीकों का प्रयोग होने लगा और अधिशेष उत्पादन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। वाणिज्य व्यापार का प्रचलन बढ़ा और नगरों की उत्पत्ति हुई। नगरीय सभ्यता विकसित होने के कारण विभिन्न व्यवसायों को पनपने का पर्याप्त अवसर मिला और रोजगार की सभावनाएँ बढी। समाज का बहुसंख्यक वर्ग उत्पादक कार्यों में संलग्न हुआ। यद्यपि नगरीय सभ्यता के कारण लोगों का जीवन स्तर ऊँचा उठा, लेकिन वर्ग–भेद की स्थिति भी उत्पन्न हुई, जो कालान्तर में और चौड़ी होती गयी। समाज व्यवसायों के आधार पर विभक्त होता गया। प्रारम्भ में जो समाज कर्म के आधार पर चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वेश्य एवं शूद्र) में विभक्त था, क्रमशः रूढ़ होता चला गया और उत्तरकाल में वह जाति के रूप में सामने आया। कार्यों का स्पष्ट विभाजन हो जाने पर वैश्य एवं शूद्र वर्ण से सम्बन्धित समुदाय उत्पादक कार्यों में

सलग्न रहा। आलोच्यकालीन शिक्षा धर्म से प्रभावित होने के कारण व्यवसायपरक शिल्पगत शिक्षा को गुरूकुलीय शिक्षा के अन्तर्गत अपेक्षित महत्व नहीं मिल पाया। अतः व्यवसायिक एवं तकनीकी शिक्षा का उपेक्षित होना एव उसका स्वतत्र विकास न हो पाना स्वाभाविक था। यद्यपि कतिपय क्षेत्र, जिनकी उपयोगिता समय–समय पर अपेक्षित प्रतीत हुई, उन्हे प्रोत्साहित किया गया, जैसे– सामरिक जीवन मे रथो की उपयोगिता के कारण रथकार एवं बढई की महत्ता स्वीकार की गयी। ऋग्वेद से विदित होता है कि 12 रत्नियो मे रथकार भी एक था, जिसके यहाँ राजा अपने राज्याभिषेक के समय स्वयं उपस्थित होते थे और युद्ध के लिये प्रस्थान करते समय वे सभी रत्नियों के साथ एक ही थाली में भोजन करते थे। इससे उनके महत्व का पता चलता है। लौह–तत्व का ज्ञान होने पर सामरिक एवं कृषि क्षेत्र मे उसकी उपयोगिता सिद्ध हुई। अतः लुहारों को महत्व मिलना स्वाभाविक था। सौन्दर्य के प्रति रूझान बढने से स्वर्णकारों की प्रतिष्ठा बढ़ी। उत्तम स्वास्थ्य के लिये वैद्यों की आवश्यकता महसूस की गई। विभिन्न परिधानों के प्रचलन से जुलाहे अस्तित्व में आये। इसी प्रकार कुंभकार, वास्तुकार, मूर्तिकार, चित्रकार, चर्मकार, राजगृह, नाई, धोबी, रंगरेज, पेन्टर, दर्जी, कहार, मल्लाह, ग्वाला आदि अस्तित्व में आये और इनके ज्ञान एवं श्रम से प्राचीन भारतीय समाज लाभान्वित हुआ। आज का इंजीनियर एव् डॉक्टर प्राचीन समय का शिल्पकार एवं वैद्य था। वर्तमान सूचना प्रौद्योगिकी के युग में कम्प्यूटर इंजीनियरों की न केवल मांग बढ़ी है, बल्कि इनसे सम्बद्ध व्यक्तियों की आर्थिक एवं सामाजिक प्रतिष्ठा भी बढ़ी है। अतः इस व्यवसाय के प्रति आकर्षण बढना स्वाभाविक था। प्राचीन समय में भी समय–समय पर विभिन्न व्यवसायों का महत्व सिद्ध होने पर सर्वसाधारण का उसके प्रति आकर्षित होना स्वाभाविक था। यद्यपि वर्तमान समय में उपयोगी विषयों की सम्यक् शिक्षा प्रदान करने हेतु आवश्यक व्यवस्था सुलभ है। किन्तु, प्राचीन समय मे इसका अभाव था। उस समय तकनीकी एवं व्यवसायिक क्षेत्र में, जो भी अन्वेषण हुआ, वह वर्ग–विशेष के व्यक्तिगत प्रयासों का परिणाम था, जिसकी शिक्षा उन्हें व्यवहारिक रूप में अपने परिवार के माध्यम से प्राप्त होती थी। प्रारम्भ में

धार्मिक विषयो की भॉति स्वतत्र विषय के रूप मे इसका उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु कालान्तर में जब यह व्यवस्थित शिक्षा का अंग बना, उस समय भी यह सहायक विषय के रूप में शिक्षार्थियों के मध्य प्रचलित रहा। इस प्रकार स्पष्ट हैं कि विभिन्न व्यवसायों एवं शिल्पों की व्यवहारिक शिक्षा संबंधित व्यक्ति को अपने परिवार के ज्येष्ठ सदस्यों से ही मिलती थी और इसके विकास मे सम्बन्धित परिवार की भूमिका सर्वथा महत्वपूर्ण बनी रही। किन्तु, जब बौद्धों ने सर्वसाधारण को शिक्षित करना प्रारम्भ किया तब उन्हें धर्म एव दर्शन के अतिरिक्त उन व्यवहारिक विषयों की भी सम्यक् शिक्षा दी जाने लगी, जिनसे वह वर्ग व्यवसायगत रूप में जुडा होता था तथा जिसकी उपयोगिता उसके दैनिक जीवन में थी। इस प्रकार व्यवसायिक पाठ्यक्रमों को बौद्ध शिक्षा मे समुचित स्थान मिलने के कारण जनसाधारण का बौद्ध धर्म के प्रति आकर्षित होना स्वाभाविक था। जातक साहित्य से विदित होता है कि अन्य विषयों के अतिरिक्त आयुर्वेद, गंधर्ववेद, रथ–संचालन, इन्द्रजाल, नाग–वशीकरण, संगीत, वाद्य, नृत्य एवं चित्रकला जैसे विषयों की शिक्षा दी जाती थी।[85] आचार्य कुणिक द्वारा मथुरा में मूर्तिकला की शिक्षा प्रदत्त करने का उल्लेख मिलता है। वात्स्यायन ने 64 विद्याओं का उल्लेख किया है,[86] जिसकी शिक्षा गुप्तकालीन शिक्षार्थियों को दी जाती थी। इससे विदित होता है कि गुप्तकाल तक शिक्षा का क्षेत्र काफी व्यापक हो चुका था। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने अपने विवरण में शिल्प एवं आयुर्वेद का उल्लेख किया है,[87] जिसकी शिक्षा जिज्ञासु शिक्षार्थियों को दी जाती थी। दण्डी ने भी पाठ्यक्रमों के अन्तर्गत नाट्यकला, संगीत, रसायनशास्त्र, चौर्य विद्या आदि का उल्लेख किया है।[88] साक्ष्यों से विदित होता है कि विभिन्न व्यवसायों की व्यवहारिक शिक्षा तक्षशिला की भॉति नालन्दा, वलभी जैसे बडे शिक्षण–संस्थाओं में भी दी जाने लगी थी। जातक साहित्य से ज्ञात होता है कि द्विजों के साथ दर्जी एवं मछुआरे भी तक्षशिला में शिक्षा प्राप्त करते थे।[89] अशोक का स्तम्भ लेख, सांची, भराहुत एवं अमरावती का स्तूप, कुषाण एवं गुप्तकालीन धातु मुद्राएँ, मथुरा एवं गांधार कला से सम्बन्धित मूर्तियाँ, चन्द्रगुप्त द्वितीय का लौह स्तम्भ, बाघ एवं अजन्ता का भित्ती चित्र इस बात का प्रमाण है कि

प्राचीन भारतीय व्यवसायिक एव तकनीकी ज्ञान विकासोन्मुख था, जिसकी व्यवहारिक शिक्षा जिज्ञासु शिक्षार्थियों को अपने परिवार में मिलती थी और इसके विकास में उसका व्यक्तिगत प्रयास सम्मिलित था। किन्तु, कालान्तर मे जब उनकी उपयोगिता स्वीकार्य होती गयी और जब बौद्धो ने उन्हें भी शिक्षित करना प्रारम्भ कर दिया, तब तक्षशिला और नालंदा जैसे बडे शिक्षण–सस्थान तथा कुणिक जैसे आचार्यो के व्यक्तिगत प्रयास से भी शिक्षित होने लगे और इनके व्यवसायों को शैक्षिक महत्व मिलने लगा। परिणामतः विभिन्न शिल्पों एवं व्यवसायों से सम्बन्धित वर्ग अपने–अपने क्षेत्र मे विशेषज्ञता एवं उत्कृष्टता प्राप्त कर अपनी भावी संतति के लिये विकासोन्मुख मार्ग प्रशस्त किया।

इस बात को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध है कि प्राचीन भारत मे चिकित्सा–शास्त्र का संतोषजनक विकास हुआ था। अतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि चिकित्सा–शिक्षा के अन्तर्गत पाठ्यक्रमों मे कौन–कौन से विषय सम्मिलित थे। शल्य चिकित्सा, औषधीय चिकित्सा एवं पशु चिकित्सा शिक्षा से सम्बन्धित विवरण प्राप्त होता है। इन विषयों की शिक्षा या तो सम्बन्धित परिवारों में या किसी शिक्षण–संस्थान पर दक्ष आचार्यो के निर्देशन में दी जाती थी। ऋग्वेद में अश्विनों को दिव्य चिकित्सक बताया गया है। अश्विन मूलतः राजकुमार थे, किन्तु आर्यो ने उनकी चमत्कारिक प्रतिभा से प्रभावित होकर उन्हे देवतुल्य स्वीकार किया था। उनके द्वारा विश्पला के कटे पैर के स्थान पर लौह पाद लगाये जाने की कथा के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस काल में शल्य चिकित्सा अस्तित्व में था। ऋग्वेद में 'यक्ष्म' शब्द का उल्लेख मिलना, जिसका सम्बन्ध संभवतः किसी व्याधि से था, चिकित्सकीय ज्ञान को प्रमाणित करता है। इस व्याधि का उपचार पानी, विभिन्न जड़ी–बूटियों एवं मंत्रोच्चार के माध्यम से किया जाता था। अथर्ववेद में 'तक्मन' नामक ज्वर के लक्षणों का उल्लेख मिलता है। अन्य व्याधियों में क्षय, अतिसार, मरोड़, व्रण, कंठमाला, स्फीति, पीत, जरा, सर्पदंश, विच्छु दंश, कुष्ठरोग, पागलपन, हड्डीरोग इत्यादि वर्णित है। रक्त का प्रवाह रोकने के लिये बालू की पोटली का प्रयोग किया जाता था। 'ऋतु' परिवर्तन

से विभिन्न व्याधियों का सम्बन्ध होने की जानकारी शंखायन ब्राह्मण से होती है। छोटे बच्चो को होने वाली व्याधियो मे अपस्मार–मिरगी एवं शंख आदि का उल्लेख मिलता है। सिकन्दर के साथियो ने सर्पदंश से सम्बन्धित चिकित्सकीय ज्ञान की भूरि–भूरि प्रशंसा की है। तक्षशिला के शल्य चिकित्सार्थी कपाल के गहरे घावों की शल्य–क्रिया करने के साथ–ही–साथ अन्य व्याधियो जैसे आतों के उथल–पुथल को भी ठीक करते थे। मोतियाबिन्द अण्डवृद्धि, विद्रधि तथा भ्रूणों की चिकित्सा शल्य–क्रिया के द्वारा करने का उल्लेख मिलता है।[90] अथर्ववेद एवं पतंजलि के योग साहित्य से विदित होता है कि शरीर को स्वस्थ्य रखने हेतु प्रातः जागरण, सूर्य नमस्कार, आसन, प्रणायाम एवं आहार–बिहार आदि की विस्तृत जानकारी जिज्ञासुओं को दी जाती थी। लज्जाराम तोमर के अनुसार, ध्यान, योग एवं एकाग्रता को विशेष महत्व प्राप्त था।[90A] उत्तरकालीन सामाजिक जीवन में जब विभिन्न अंधविश्वासों का प्रवेश हुआ, तब न केवल मानवीय चिंतन, जिसका स्वतंत्र विकास हो रहा था, बाधित हुआ, बल्कि उसका गंभीर प्रभाव शल्य–चिकित्सा पर भी पडा। सांसारिक शुद्धि की भावना मजबूत होने से शव–स्पर्श हेय समझा जाने लगा। श्वच्छेदन की प्रथा बंद होने से शल्य–चिकित्सा की प्रगति बाधित हुई। अश्विन एवं धन्वन्तरी जैसे चिकित्सों को प्रारम्भ में दैव–पद प्राप्त था, तथा उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था, अब उनके साथ भोजन करना प्रायश्चित समझा जाने लगा।[91] पुराणों में वर्णित है कि चिकित्सक अम्बादासी से उत्पन्न गालब ऋषि के अवैध पुत्र के वंशज हैं।[92] नि.सन्देह इस प्रकार का चिंतन विकसित होने के कारणशल्य चिकित्सा का स्वतंत्र विकास प्रभावित एवं बाधित हुआ।[93] किन्तु, यह स्पष्ट है कि प्रारम्भ में शल्य–चिकित्सा अपने चरमोत्कर्ष पर था तथा इनकी शिक्षा जिज्ञासु शिक्षार्थियों को दी जाती थी। शिवपुत्र–गणेश का आख्यान प्राचीन शल्य–चिकित्सा के चरमोत्कर्ष को रेखांकित करता है।

बुद्ध के समय में तक्षशिला आयुर्वेदीय शिक्षा का एक महत्वपूर्ण केन्द्र था। आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त करने हेतु उपनयन एवं समावर्तन संस्कारों का विधान होना इसकी व्यवस्थित शिक्षा को प्रमाणित करता है। प्रारम्भ में उपनयन संस्कार

मूलतः वैदिक शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से सम्पन्न होता था, किन्तु कालान्तर में जब शैक्षिक पाठ्यक्रमों का फलक विस्तृत होता गया, तब व्यवसायिक शिक्षार्थियों का भी उपनयन संस्कार होने लगा। चरक और सुश्रुत जैसे आयुर्वेदाचार्य आयुर्वेद के शिक्षार्थियो के लिये उपनयन संस्कार की अनिवार्यता बतलाते है। चिकित्सकीय शिक्षा पर किसी वर्ण विशेष का एकाधिकार नही था। क्षत्रिय एवं वैश्य वर्ण के वैद्य अपने वर्ण के शिक्षार्थियों को आयुर्वेद की शिक्षा देते थे। इसका उल्लेख सुश्रुत ने किया है।[94] यद्यपि सुश्रुत सम्प्रदाय के विद्वान शूद्र वर्ण के शिक्षार्थियों को भी आयुर्वेद की शिक्षा देने के पक्ष में थे, लेकिन उनके उपनयन में वैदिक मंत्रोच्चार वर्जित था।[95] संभवतः जिज्ञासु ब्राह्मण शिक्षार्थी भी अब्राह्मण वैद्यों से आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त करते थे। यह भी संभव है कि क्षत्रिय एवं वैश्य वर्ण के चिकित्सक शल्य–क्रिया मे अपने सहयोगी ब्राह्मण चिकित्सको से अधिक दक्ष रहे हो, क्योंकि आधुनिक शल्य–चिकित्सा के विकास के पूर्व भारत में नाई ही छोटे–मोटे आपरेशन कर देते थे। हड्डियों का जोड एवं नसो का मरोड़ भी ठीक कर देते थे।

तक्षशिला में आयुर्वेद का पाठ्यक्रम काफी दीर्घ था, क्योंकि शिक्षार्थी जीवक को 7 वर्ष तक आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त भी उसके आचार्य ने बडी अनिच्छा से उसे घर लौटने को अनुमति प्रदान की थी। चरक के शब्दों में "कोई भी शिक्षार्थी आयुर्वेद के सभी क्षेत्रों में विशेषज्ञता प्राप्त नहीं कर सकता और वह भी अल्प समय में। "इससे स्पष्ट होता है कि आयुर्वेद की शिक्षा व्यवस्थित रूप मे दी जाती थी और शिक्षण काल की अवधि दीर्घ होती थी। क्षेत्र विशेष में दक्षता प्राप्त करने हेतु आयुर्वेद के शिक्षार्थियो को न्यूनतम 8 वर्ष तक गुरू के सान्निध्य में रहकर शिक्षा प्राप्त करना पड़ता था। चरक[96] और सुश्रुत[97] का कथन है कि अयोग्य शिक्षार्थियो को चिकित्सा के लिये अनुमति देना अनुचित होगा। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि शिक्षा–समाप्ति के उपरान्त ज्ञान–परीक्षण की व्यवस्था रही होगी। शुक्राचार्य ने भी लिखा है कि शिक्षा समाप्ति के उपरान्त आयुर्वेद के शिक्षार्थी को अनुमति–पत्र प्राप्त किये बिना चिकित्सकीय व्यवसाय नहीं अपनाना चाहिए।[98] संभवतः चिकित्सकीय व्यवसाय की अनुमति, उन्हें ही प्राप्त होती थी जो शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त अपनी दक्षता प्रमाणित करते थे।

शिक्षा समाप्ति के उपरान्त सम्पन्न होने वाले समावर्तन संस्कार के अनन्तर आयुर्वेद के स्नातकों को व्यवसाय में उच्च नैतिकता के पालन का उपदेश दिया जाता था। उन्हे सम्पूर्ण जगत के कष्ट को निवारण का व्रत लेना पड़ता था। साथ ही उन्हे यह भी स्मरण दिलाया जाता था कि वे आजीवन नूतन ज्ञान के प्रति जागरूक एवं अध्ययनशील बने रहेगे। जहॉ तक समावर्तन उपदेश का प्रश्न है, शिक्षा समाप्ति के उपरान्त आचार्य अपने शिक्षार्थियो को निम्नलिखित उपदेश देता था–

"आचार्य की आज्ञा मिलने पर जब तुम वैद्यक आरम्भ करो, तब तुम्हे यथाशक्ति गुरूदक्षिणा अर्पित करने का प्रयत्न करना चाहिए। अपने कर्म की सिद्धि, अर्थ, यश और स्वर्ग की प्राप्ति के निमित्त गोब्राह्मण और पृथ्वी के सम्पूर्ण प्राणियों के हित में रत रहना चाहिए। प्रतिदिन सोते, उठते–बैठते हर समय तुम्हें रोगी के स्वास्थ्य की ही चिन्ता करनी चाहिए, तुम्हें दूसरों के धन को हड़पने का दुर्विचार भूलकर भी मन में नहीं लाना चाहिए। तुम्हारी वेश–भूषा भडकीली न हो, बल्कि व्यक्तित्व को शालीन बनाने वाली हो। मद्यपान से विरत, पाप से रहित एवं पापी से दूर रहना। शब्द सरल एवं सच्चाई से युक्त हो। व्यर्थ बकवास से दूर रहना। देशकाल एवं परिस्थितियों पर विचार कर अपने ज्ञान एवं सम्बन्धित उपकरणों में सदैव वृद्धि करनी चाहिए। ऐसे रोगी, जिसका रोग असाध्य या जो मुमूर्ष हो, उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिये। यदि पति या संरक्षक उपस्थित न हो, तो किसी स्त्री को औषधि देने से बचना चाहिए। पति या संरक्षक की स्वीकृति के बिना फीस लेने से बचना चाहिए। रोगी के कमरे में जाने पर समस्त ध्यान उसकी बोली, अंग परिचालन और औषधि ज्ञान पर केन्द्रित होना चाहिए। रोगी और उसके परिवार से सम्बन्धित बाते सदैव गुप्त रखनी चाहिए। यदि रोगी या उसके परिवार के किसी सदस्य को आघात लगने का भय हो तो यह जानते हुए भी की रोगी की मृत्यु अपरिहार्य है, गुप्त रखनी चाहिए। स्वयं ही अपने ज्ञान की प्रशंसा नहीं करनी चाहिए। चूँकि कोई भी व्यक्ति सम्पूर्ण आयुर्वेद में पारंगत नहीं हो सकता, अतः बिना प्रमाद के अपने ज्ञान की वृद्धि हेतु सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। बुद्धिमान व्यक्ति

संसार के सभी प्राणियों से शिक्षा प्राप्त करता है, जबकि मूर्ख इसके विपरीत आचरण करते हैं। अतएव तुम्हे भी चाहे वह शत्रु ही क्यों न हो उसके ज्ञान एवं अन्वेषण का लाभ उठाकर अपने यश एव ऐशवर्य मे वृद्धि करनी चाहिए।[99]

अरब और मेसोपोटामिया के शिक्षार्थियो को चिकित्सकीय शिक्षा प्रदत्त करने एवं उनके चिकित्सालयों के सघटन हेतु उस समय भारतीय विद्वानों की आवश्यकता महसूस की जाती थी। खलीफा हारून ने हिन्दू चिकित्सा एवं औषधि निर्माण पद्धति का अध्ययन करने के उद्देश्य से अपने यहॉ के शिक्षार्थियो को भारत भेजा था। साथ ही 20 भारतीय चिकित्सको को अपने यहॉ के चिकित्सालयो के संघटन एवं अरबी में हिन्दू ग्रंथों का अनुवाद करने के उद्देश्य से अपने यहॉ आमन्त्रित किया था। उन विद्वानो में 'मनका' प्रमुख थे। ऐसा उल्लेख मिलता है कि सुल्तान हारून किसी गंभीर रोग से ग्रस्त थे। जब अरबी चिकित्सक उन्हें स्वस्थ करने में असमर्थ रहे तब बगदाद शासक द्वारा चिकित्सक मनका को आमंत्रित किया गया। चिकित्सकीय उपचारोपरान्त स्वस्थ्य होते ही उन्होंने अपने राजकीय चिकित्सालयों के संघटन एवं अरबी में संस्कृत के आयुर्वेदीय ग्रंथों के अनुवाद हेतु रोक लिया।[100] इस प्रकार अरब चिकित्सा पद्धति अनेक दृष्टि से भारतीय आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति का ऋणि है। स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में आयुर्वेदीय चिकित्सा की व्यवस्थित शिक्षा दी जाती थी। तक्षशिला जैसे बड़े शिक्षण–संस्थाओ से शिक्षा प्राप्त शिक्षार्थी व्यक्तिगत शिक्षणशाला चलाकर उन जिज्ञासु शिक्षार्थियों को शिक्षित करने का कार्य करते थे, जो बड़े शिक्षण सस्थाओं में जाकर शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते थे। कतिपय शिक्षार्थी अपने पिता एवं परिवार के ज्येष्ठ सदस्यों से जो आयुर्वेदीय शिक्षा में दक्ष होते थे, से शिक्षा प्राप्त करते थे। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में आयुर्वेद की व्यवस्थित शिक्षा दी जाती थी जिसको प्रदत्त करने में परिवार, निजी शिक्षणशालाएं, तक्षशिला एवं नालन्दा जैसे प्रसिद्ध शिक्षण संस्थाओं की भूमिका महत्वपूर्ण रही।

पशु चिकित्सा के क्षेत्र मे भी प्राचीन भारतीय अग्रणी थे। शालिहोत्र इस विज्ञान के जन्मदाता माने जाते हैं। पाण्डव भाइयों में नकुल एवं सहदेव इसके

विशेषज्ञ थे। ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी में जब अशोक द्वारा देश भर मे कई पशु चिकित्सालय खोला गया, तब उसके लिये चिकित्सकों का अभाव नहीं दिखा, जो इस शिक्षा की महत्ता को दर्शित करता है। अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि सैनिक अधिकारी घोडो और हाथियो की चिकित्सा हेतु चिकित्सकों की नियुक्ति करते थे।[101] नकुल का अश्व चिकित्सा पर, जयदत्त का अश्ववैद्यक पर एव पालकाप्य का हस्त्यायुर्वेद पर पुस्तकें उपलब्ध है, जिनसे पशु चिकित्सा की विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इस विषय की शिक्षा कहा दी जाती थी, संभवतः सैनिक अधिकारी स्वयं इसकी शिक्षा की व्यवस्था करते थे। कतिपय कृषक परिवार जो कृषि कार्य के साथ–साथ पशुपालन भी करते थे उन्हें भी इसका व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त था, जो उन्हें अनुभव द्वारा प्राप्त हुआ था। इस प्रकार यह परम्परागत ज्ञान निरन्तर गतिशील बना रहा और नये–नये अनुभवात्मक ज्ञान को आत्मसात् करता रहा।

अध्ययन – पद्धति

प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति का मूल उद्देश्य व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना था। अतः तत्कालीन शिक्षाविदों ने ऐसी व्यवस्था स्थापित कर रखी थी, जिससे शिक्षार्थियों का न केवल सर्वांगीण विकास हो, बल्कि वह आत्मसात् ज्ञान को जीवनोपयोगी एवं समाजोपयोगी बना सके। शिक्षा के सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक दोनों पक्ष में बेहतर समन्वय का प्रमाण मिलता है। सैद्धान्तिक ज्ञान उसके व्यवहार में सदैव परिलक्षित होता रहता था, जिसका अभाव वर्तमान शिक्षार्थियों में दिखलायी पड़ता है। वृहदारण्यक उपनिषद् में ज्ञानार्जन की तीन प्रक्रियाओं (श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन) की व्याख्या मिलती है। श्रवण के द्वारा शिष्य गुरू के वचन को ध्यान पूर्वक सुनता था, मनन के द्वारा उनके वचन का बौद्धिक परिग्रहण करता था तथा निदिध्यासन के द्वारा उसकी साधनात्मक अनुभूति करता था। इस प्रकार ज्ञानार्जन की प्रक्रिया में शिक्षक की

अपेक्षा शिष्य की चेष्टा ही प्रधान रहती थी। अपने स्वाध्याय के द्वारा ही वह गुरू के उपदेशो को हृदयगम करता था। गुरू केवल उसे मार्ग दर्शन करते थे। वैदिकोत्तर साहित्य में इस पद्धति के एकाधिक दृष्टान्त मिलते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में मन अन्नमय है, प्राण जलमय है तथा वाक् तेजोमयी है, को समझाने के लिये आरूणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को 15 दिन तक केवल जल पीकर रहने का निर्देश देते हैं, ताकि इस अवधि में वे इस तथ्य का अनुभवात्मक ज्ञान प्राप्त करे सके। इसी प्रकार आत्मा तथा शरीर का संबध बताने के लिये वे वट वृक्ष का एक फल तोडकर लाने को कहते हैं। श्वेतकेतु उस फल के बीजों का निरीक्षण करता है और आरूणि उसे सत्य की व्यापकता को बताते हैं। स्मृति—चन्द्रिका मे ज्ञानार्जन के निम्नलिखित अंगं वर्णित है[101A] — शुश्रूषा, श्रवणम्, ग्रहणम्, धारणम्, ऊहापोह, अर्थविज्ञानम्, तत्वज्ञानम्। इस प्रकार श्रवण, ग्रहण, मनन, शंका—समाधान, तर्क—वितर्क, प्रयोग तथा साधनादि द्वारा तत्व ज्ञान की प्राप्ति संभव थी।[101B] मनु के अनुसार, तत्व ज्ञान की प्राप्ति चार रूपों में होती है— छात्र शिक्षक से प्राप्त करता है, अपनी बुद्धि से प्राप्त करता है, अपने मित्रों एवं सहपाठियों से प्राप्त करता है तथा अपने अनुभव से प्राप्त करता है।[101C] कंठस्थीकरण, प्रवचन, व्याख्यान, प्रश्नोत्तर, प्रश्नानुप्रश्न, शास्त्रार्थ एवं प्रयोगात्मक पद्धति आदि द्वारा शिक्षार्थियों को ज्ञान सम्पन्न बनाया जाता था।

लिपि की जानकारी न होने पर भी वैदिक ज्ञान को ऋषियों ने पीढ़ी—दर—पीढ़ी सुरक्षित रखा, इसका श्रेय कंठस्थीकरण पद्धति को जाता है। इस पद्धति में आचार्य जैसा बोलते थे शिष्य वैसा ही बिना विचारे स्मरण कर लेता था। नारद की शिक्षा कंठस्थीकरण पद्धति के अन्तर्गत प्राप्त हुई थी। इसकी पुष्टि उसकी नामावली[102] से होती है। आरूणि और श्वेतकेतु के आख्यान से भी इसकी पुष्टि होती है। आरूणि श्वेतकेतु[103] से कहते हैं कि ऋक्, यजु एवं साम का पाठ करो। वह भूखे रहने के कारण अपने ज्ञान को प्रस्तुत नहीं कर पाता, लेकिन भोजन के पश्चात् उसे सभी ज्ञान स्मृत हो आता है।[104] स्पष्ट है कि तत्कालीन शिक्षार्थी कंठस्थीकरण पद्धति द्वारा शिक्षा प्राप्त करते थे।

गंभीर एवं क्लिष्ट विषय की शिक्षा प्रवचन के माध्यम से दिया जाता था। आचार्य और शिष्य के मध्य विद्या को संधि तथा प्रवचन को संघान माना गया था। आचार्य पूर्व एवं अन्तेवासी उत्तर रूप में निर्दिष्ट है।[105] शिष्य दत्तावधान होकर आचार्य का उपदेश सुनते थे। इस पद्धति का प्रयोग व्यक्तिगत एवं सामूहिक शिक्षण के लिये होता था।

गूंढ विषय एवं गहराई के साथ विषय में प्रविष्ट ज्ञान को व्याख्यान पद्धति से स्पष्ट किया जाता था। व्याख्यान पर चितन किया जाता था।[106] याज्ञवल्य का कथन है कि मैं व्याख्यान करूँगा। तुम मेरे व्याख्यात वाक्यो का चिंतन करना।[107] व्याख्यान को रोचक बनाने हेतु दृष्टान्त का आश्रय लिया जाता था। उदाहरणार्थ– आत्मा से जगतसृष्टि का सम्बन्ध बताते हुए कहा गया है कि जैसे मकडी तन्तुओं पर ऊपर की ओर जाती है और अग्नि से चिनगारियॉ निकलती है, उसी प्रकार आत्मा से समस्त प्राण लोक, देवगण एवं भूतादि विविध रूप में उत्पन्न होते है।[108] विद्वान द्वारा किये गये हवन के विषय में कहा गया है कि जैसे आग में सींक का अग्रभाग प्रविष्ट कर देने से जल जाता है, उसी प्रकार विद्वान हविप्रदाता के पाप नष्ट हो जाते है।[109] निःसंदेह इस प्रकार के दृष्टान्त पूर्ण व्याख्यानों से छात्रों में चिंतन की प्रवृत्ति विकसित होती थी और उनमें शोधात्मक बुद्धि का विकास होता था।

उपनिषद् साहित्य में शिक्षण की एक विशिष्ट शैली प्रश्नोत्तर पद्धति का वर्णन मिलता है। इस पद्धति के द्वारा गूढ आध्यात्मिक तत्त्वों का स्पष्टीकरण बड़े ही रोचक ढंग से किया जाता था। मौखिक शिक्षा के सभी उपादेय उपादानों जैसे– दृष्टान्त, कथा, कहानी, जीवनवृत्त आदि का प्रयोग होता था। यूनान के प्रसिद्ध विद्वान सुकरात की शिक्षण–शैली भी इसी प्रकार की थी। आज शिक्षक ही शिष्य से प्रश्न करता है, जबकि प्राचीन शिष्य स्वयं शिक्षक के पास प्रश्न लेकर जाता था। आचार्य उन प्रश्नों का सविस्तार उत्तर देते थे। प्रश्नोपनिषद एवं मिलिन्दपन्हो साहित्य इस प्रक्रिया से परिपूर्ण है। कबन्धी, भार्गव, कौसल्य, गार्ग्य, सत्यकाम और सुकेशा पिप्पलाद[110] आदि के शिष्य पृथक्–पृथक् जिज्ञासापरक

प्रश्न लेकर उनके पास गये थे। उन्होने उनके सभी प्रश्नो का तार्किक समाधान प्रस्तुत किया था, जो प्रश्नोपनिषद् मे सकलित है। हिन्द यवन शासन मिनान्डर के जिज्ञासपूर्ण प्रश्नो का समाधान बौद्ध आचार्य नागसेन द्वारा किया गया था, जिसका संकलन मिलिन्द पन्हो है।

संशय की स्थिति मे शिष्य द्वारा अनुप्रश्न भी किये जाते थे। तैत्तिरीय उपनिषद[111] मे शिष्य के अनुप्रश्नों का उल्लेख मिलता है। प्रश्नों की विविध कोटियॉ होती थी। ज्ञान के साथ विवाद के लिये भी प्रश्न किये जाते थे। कौसल्य के प्रश्न को सुनकर पिप्पलाद ने कहा कि तू अतिक्लिष्ट प्रश्न कर रहा है। चूँकि तू ब्रह्मविद है, अतः मै प्रश्नो का उत्तर अवश्य दूँगा।[112] गार्गी द्वारा भी याज्ञवल्क्य से ब्रह्मलोक विषयक पूछने पर याज्ञवल्क्य ने उसे अतिप्रश्न न करने से मना किया। अतिप्रश्न करने से मस्तक फट जाने की बात कही गई है।[113] तात्पर्य यह है कि मात्र विवाद के लिये पूछे गये प्रश्नों मे से स्वस्थ्य एवं प्रासगिक प्रश्नों को महत्व दिया जाता था। इस पद्धति में शिक्षार्थी को जागरूक होना अपरिहार्य था। शिष्य प्रश्न तभी कर सकता था, जब उसकी विषय के प्रति सच्ची निष्ठा हो। पूर्व वैदिक काल में जो विद्वत सभाएँ होती थी, उनमें स्त्रियाँ भी ऋक्गान किया करती थी।[114] किन्तु, उत्तरकाल में उन विद्वतगोष्ठियों का शास्त्रार्थ–सभा के रूप में विकास हुआ। याज्ञवल्क्य का शाकल्य से शास्त्रार्थ इसी प्रकार का था।[115] शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि उद्दालक आरूणि और सौचेय प्राचीनी में ब्रह्म विषयक शास्त्रार्थ हुआ था।[116] आचार्य शांडिल्य और उनके शिष्य साम्तर्थवाह के मध्य विचारों का आदान प्रदान हुआ था।[117] पांचाल परिषद् मे निरन्तर ज्ञान चर्चाएँ होती थी, जिसे पांचाल नरेश प्रवाहण जैबलि का सरक्षण प्राप्त था। वात्स्यायन ने भी विद्वत् गोष्ठियो का उल्लेख किया है, जहॉ लोगो को मधुर वार्ता के लिये अवकाश मिलता था तथा साहित्यिक एवं धार्मिक परिचर्चाएँ होती थी और अनेक प्रतिभाशाली विद्वान प्रकाश में आते थे।[118] हर्षचरित् से विदित होता है कि उन दिनों अनेकानेक विद्वत गोष्ठियाँ होती थी, जहाँ विभिन्न विषयों पर ज्ञान चर्चाएँ चलती थी।[119] ऐसी गोष्ठियों को बाण ने

'विद्यागोष्ठी' कहा है।[120] 'काव्य गोष्ठी' में प्रबंधो के विषय और रचना पर विचार किया जाता था।[121] 'प्रमाण गोष्ठी' मे सभी विषयो की प्रमाणिकता पर विचार किया जाता था।[122] 'वीरगोष्ठी' में वीरता और शौर्य से सबंधित विषयो पर चर्चा होती थी।[123] काशी में आयोजित शंकर और मंडन मिश्र का शास्त्रार्थ जगत प्रसिद्ध है।

विषय को सहज ही हृदयगम करने के लिये वर्तमान प्रयोगात्मक प्रविधि की भॉति प्रत्यक्षीकरण पद्धति का आश्रय लिया जाता था। आरूणि ने श्वेतकेतु से वट वृक्ष का फल मंगवाकर उसे फोड़ने के लिये कहा। श्वेतकेतु ने उसे फोड दिया। फोडने पर आरूणि ने पूछा– इसमे क्या दीखता है। श्वेतकेतु बोले भगवन। इसमें अणु सदृश दाने हैं इस पर आरूणि ने कहाँ, इनमें से एक को फोडो। श्वेतकेतु ने फोड दिया। आरूणि के पूछने पर कि इसमे क्या है। वह चुप रहा।[124] एक दृष्टान्त में अजातशत्रु[125] गार्ग्य का हाथ पकडकर सोते हुए पुरूष के पास ले जाता है। उसका नाम पुकारने पर वह नहीं उठता। किन्तु, सुषुप्त पुरूष के हाथ को दबाकर जगाने से वह उठ खड़ा होता है। प्राचीन भारत में इस प्रत्यक्षीकरण पद्धति का अनुपालन बहुतायत होता था। इस पद्धति से प्राप्त ज्ञान अत्यधिक व्यवहारिक एवं प्रमाणिक होता था तथा शिक्षार्थी के मानस पटल पर अपना स्थायी प्रभाव छोडता था।

चूँकि प्रारम्भ में लिपि की जानकारी नहीं थी, अतः शिक्षा मौखिक ही दी जाती थी। किन्तु लिपि की जानकारी हो जाने के उपरान्त भी शताब्दियों तक शिक्षा की परम्परा मौखिक ही चलती रही। अध्ययन का मुख्य विषय वैदिक साहित्य था। यह आवश्यक था कि आगमों और निगमो को शुद्ध–शुद्ध कंठस्थ कर लिया जाय, जिससे वेदों के पाठ मे लेश–मात्र भी उच्चारण दोष न हो। अवैदिक साहित्य के संरक्षण और अध्यापन में लिपि–ज्ञान की सहायता ली जाती थी, किन्तु कागज और मुद्रण–कला का आविष्कार न होने के कारण जो भी पुस्तकें उपलब्ध थी, वह भोज–पत्रों पर हस्तलिखित होने के कारण अत्यन्त दुर्लभ एवं बहुमूल्य थी। अतः साधारण शिक्षार्थियों के लिए उन पुस्तकों को प्राप्त

कर पाना असभव था।[126] पुस्तकों की सहायता से अध्ययन करने वाले छात्रों को उस समय अत्यन्त हेय दृष्टि से भी देखा जाता था।[127] अतएव, पुस्तकों के अभाव में तत्कालीन शिक्षा मौखिक ही दी जाती रही।

शिक्षक वैदिक मंत्रो के संयुक्ताक्षरों को एक साथ पढ़ाता था, जिसे उसी नाद एवं स्वर में शिक्षार्थी भी पढता था। किसी प्रकार की कठिनाई उत्पन्न होने पर मंत्रों को और स्पष्ट किया जाता था। प्रत्येक शिक्षार्थियों पर पृथक्–पृथक् ध्यान दिया जाता था। अवैदिक पाठशालाओं मे आचार्य पुस्तक का कोई एक खण्ड पढकर शिक्षार्थियों को सुनाता था और उसकी व्याख्या करता था, शिक्षार्थी उसका अर्थ समझने के उपरान्त उस खण्ड को कंठस्थ कर लेते थे। इसी पद्धति से पाणिनीय व्याकरण, मनुस्मृति एवं अमरकोश जैसे महत्वपूर्ण ग्रंथों प्रणयन हुआ था। चूँकि, प्राचीन भारत में उसी ज्ञान को महत्व प्राप्त था, जो जिहाग्र हो। अतः आवश्यकता पडने पर पुस्तक ढूढ़ने की प्रथा को तत्कालीन विद्वत समाज अत्यन्त हेय दृष्टि से देखता था।[128]

शिक्षार्थियों के दैनिक जीवन में ग्रंथों का पाठ एवं उसकी आवृत्ति को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। अवकाश के क्षणों में उसे पठित पाठ की आवृत्ति एवं पुनरावृत्ति करनी पड़ती थी। पाठशाला में वे प्रतिदिन निश्चित समय तक समवेत स्वर में पठित पाठ की आवृत्ति करते थे। इस पद्धति से शिक्षार्थियों की स्मरणशक्ति तीव्र बनती थी। इत्सिंग द्वारा स्मरण शक्ति बढ़ाने हेतु कतिपय क्रियाओं को गूढ़ भाषा में उल्लेख किया गया है, जिसके 10 या 15 दिन के अभ्यास मे ही शिक्षार्थी यह अनुभव करने लगता था कि उसमें विचारों का उत्स फूट निकला है और वे एक बार सुन लेने पर ही कुछ भी स्मरण कर सकते हैं। इत्सिंग लिखता है कि यह असत्य नही, क्योंकि मैंने स्वयं ऐसे व्यक्तियों से भेंट की है।[129] पुस्तकों के अभाव में स्मरणशक्ति के विकास पर जोर देना स्वाभाविक था।

शिक्षार्थियों को जब यह ज्ञात हो गया कि सौन्दर्यानुभूति के कारण पद्य को कंठस्थ करना सरल होता है। अतः उन्होंने सम्पूर्ण पाठ्य को पद्य–बद्ध करने

की परम्परा डाली। शब्दकोश एव व्याकरण की प्रारंभिक पुस्तकों की रचना भी श्लोको में की गई। सूत्र–प्रणाली का विकास भी शिक्षार्थियों के लाभार्थ ही हुआ था, क्योकि उस समय पठित विषयों को स्मरण हेतु धारणाशक्ति पर ही भरोसा रखना पड़ता था। अतः शिक्षार्थियों के लाभार्थ विषय को छोटे–छोटे वाक्यों में सूत्रबद्ध कर देने की परम्परा चल पडी। आज का वेदपाठी वेदो का शुद्ध–शुद्ध पाठ तो कर जाता है, लेकिन उसका अर्थ वह नही जानता। प्राचीन भारत मे ऐसी बात नही थी। कालान्तर में वैदिक साहित्य के विस्तार एवं वेदो को कंठस्थ करने की अपरिहार्यता के कारण विशेषज्ञता की प्रवृत्ति विकसित हुई। वेदों को कंठस्थ करने का कार्य एक वर्ग को एव उसकी व्याख्या करने का कार्य दूसरे वर्ग को दे दिया गया। यह विभाजन परिस्थितिवश हुआ था, क्योकि विषय की व्यापकता के कारण दोनों कार्य किसी एक व्यक्ति के द्वारा सम्पन्न कर पाना संभव नही था और यह अव्यवहारिक प्रतीत होने लगा था।

व्याकरण और दर्शन के दुरूह सूत्र को स्पष्ट करने के लिये विस्तृत व्याख्या की जाती थी। वाद–संवाद के समय प्रतिपाद्य विषय को सुलझाने, उसकी विशेषताओं और त्रुटियो को स्पष्ट करने, ग्रंथकार के उद्देश्य को समझाने एवं विरोधी आरोप की त्रुटियों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जाता था।[130] ऐसा उल्लेख मिलता है कि आचार्य दिवाकर सेन के तत्वावधान में विभिन्न आस्तिक एवं नास्तिक सम्प्रदाय वाले शिक्षार्थी अपने–अपने सम्प्रदाय के व्याख्यानों को सुनते, उनपर मनन करते विशेषताओं पर वाद–संवाद स्थापित करते, गूढ़ प्रकरणो पर शंका उपस्थित करते तथा विरोधी सम्प्रदाय के शिक्षार्थियों से शास्त्रार्थ करते थे।[131] तर्क और व्याख्यान प्राचीन शिक्षा पद्धति की मुख्य विशेषता थी। संस्कृत भाषा में उच्च शिक्षा प्रदत्त की जाती थी, किन्तु प्राकृत एवं अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के विकास होने पर उन्हें भी शिक्षा का माध्यम बनाया गया।[132] चूँकि, प्राचीन भारतीय आचार्य व्याख्या और व्याख्यान तथा प्रतिपादन कला में दक्ष होते थे। अतः कोरिया, तिब्बत और चीन जैसे सुदूर देशों के शिक्षार्थी उनके मुख से गूढ़ तत्वों से पूर्ण ग्रंथों की व्याख्या सुनने हेतु उत्सुक रहा करते थे।

चीनी यात्री ह्वेनसांग भारतीय आचार्यो की प्रशंसा इसलिए नही की है कि उन्हे सम्पूर्ण नियम कंठस्थ होते थे, बल्कि वह उनके कठिन अशों की व्याख्या और शंकास्पद विषयों के लिये सटीक सुझाव उपस्थित करने की विलक्षण प्रतिभा रखते थे जिनसे वह सर्वाधिक प्रभावित था।[133] चीनी यात्री इत्सिंग ने लिखा है कि उनके मुखमडल से ज्ञान प्राप्त करके मै अपने को धन्य समझता हूँ, जो मेरे लिये अन्यत्र असंभव था।[134]

ऋग्वेद में साहित्यिक वाद–विवाद का सजीव चित्रण मिलता है। इनमें विजयी उम्मीदवारों को पुरस्कृत किया जाता था।[135] प्राचीन शिक्षणशालाओं में सदैव शास्त्रार्थ एवं तर्कों का खंडन–मंडन चलता रहता था। खंडन–मंडन की इस परम्परा से विद्यार्थियों में प्रत्युत्पन्नमतित्व और वक्तृत्व शक्ति का विकास होता था। पंचतंत्र एव हितोपदेश की कथा से स्पष्ट होता है कि गूढ़ सिद्धान्तो की व्याख्या में कथा–आख्यायिकाओ की भी सहायता ली जाती थी। उपनिषद साहित्य और बौद्ध सूत्र से ज्ञात होता है कि गुरू–शिष्य संवाद और व्याख्यान चलता रहता था।[136] मंद–बुद्धि तथा अ–प्रतिभावान शिक्षार्थियों को नये तथ्यों के निरीक्षण एवं प्राचीन तथ्यों से उसकी तुलना करने को दी जाती थी। इससे शिक्षार्थियो में बोध शक्ति का विकास होता था। इस प्रकार तुलनात्मक अध्ययन प्राचीन शिक्षा पद्धति की विशेषता थी।[137]

कंठस्थीकरण और आवृत्ति का समय ब्रह्ममुहूर्त होता था, जिसका निरीक्षण गुरू या कोई अग्र शिष्य करता था। नये पाठ अपरान्ह पढाये जाते थे। शिक्षार्थी आचार्य के कुल में या उनके आस–पास ही रहते थे। आचार्य का निवास या शिक्षण शाला सदैव् नगरों से दूर किसी निर्जन एवं एकांत स्थल पर होता था। ऐसे स्थानों का चयन बेहतर कार्य, ध्यान एवं एकाग्रता के लिये उपयुक्त समझकर किया जाता था। शिक्षार्थियों की संख्या सीमित होने के कारण उनकी प्रगति पर पृथक्–पृथक् ध्यान रख पाना संभव था। शिक्षार्थियों को प्रत्येक दिन अपने ज्ञान की परीक्षा देनी पड़ती थी। पिछले पाठ को विस्मरण की

स्थिति मे अगले पाठ का अध्यापन स्थगित कर दिया जाता था।[138] बौधायन धर्म सूत्र से ज्ञात होता है कि पूर्व में पठित पाठ के कुछ अंश विस्मृत हो जाने पर नये पाठ नही पढाये जाते थे।[139] हवेनसाग लिखता है कि यदि कोई प्रतिभाशाली शिक्षार्थी आलस्य के कारण पढ़ने से जी चुराता था, तो आचार्य उसे तब तक पढाते रहते थे, जब तक उसका पाठ्यक्रम समाप्त नहीं हो जाता था।[140] चीनी यात्रियों ने शिक्षार्थियों को प्रोत्साहित करने एवं उनकी प्रगति पर सदैव ध्यान रखने का भारतीय आचार्यों की भूरि–भूरि प्रशंसा की है।

शिक्षार्थियों की प्रगति का निरीक्षण करने हेतु उच्च कक्षा के बुद्धिमान छात्रों का सहयोग लिया जाता था। इस कार्य से ज्येष्ठ छात्रों का प्रशिक्षण भी होता रहता था। आपस्तम्ब का वचन है कि ऐसे ब्रह्मचारी को, जिन्हें वे 'बृद्धत्तर ब्रह्मचारी' कहते हैं, आचार्य के समान ही सम्मान दिया जाना चाहिए।[141] वलभी के शिक्षार्थियो के सबध मे इत्सिंग लिखता है कि अपने आचार्यों से शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त वे कनिष्ठ शिक्षार्थियों को पढ़ाने में दो–तीन वर्ष का समय व्यतीत करते थे।[142] तक्षशिला में भी इस प्रकार की परम्परा विद्यमान थी। इसकी पुष्टि सुतसोम जातक से होती है, जिसके अनुसार कुरू के राजकुमार सुतसोम, जो तक्षशिला के वृद्धतर ब्रह्मचारी थे, काशी के युवराज को पढ़ाते थे।[143] आचार्य की अनुपस्थिति में उसका अग्रशिष्य ही संस्था का प्रधान होता था।[144] इस प्रकार प्रतिभाशाली छात्रों से छात्र जीवन में ही अध्यापन कार्य करवाने से उन्हें शिक्षणकला सीखने का पर्याप्त अवसर मिलता था तथा उनका ज्ञान परिपक्व होता था। इससे शिक्षणशालाओं की कार्यक्षमता में वृद्धि एवं व्यय में भी कमी होती थी, क्योंकि प्रत्येक आचार्य को निःशुल्क, लेकिन योग्य सहायक प्राप्त हो जाता था।

निःसंदेह प्राचीन भारत में अध्ययन–अध्यापन की जो पद्धति प्रचलित थी, वह उस काल खण्ड के लिये जब कागज और मुद्रण कला का आविष्कार नहीं हुआ, स्मरण शक्ति के विकास पर जोर दिया जाता था, सर्वोत्तम थी। जो ग्रंथ शिक्षार्थी कंठस्थ करते थे, उसका अर्थ वे भली–भाँति जानते थे। कंठस्थीकरण

से न केवल उनका शब्दकोश बल्कि भाषायी ज्ञान भी पुष्ट होता था। प्रत्येक छात्र पर पृथक्–पृथक् ध्यान देने से न केवल उनका जन्मजात दोष नष्ट होता था बल्कि किशोर वय मे भटकने की भी संभावना नही रहती थी। उनका व्यक्तित्व अनुशासन के सांचे में ढलकर निकलता था। परिवार एव नगरीय जीवन से दूर एकात और शांतचित वातावरण में शिक्षण कार्य करने से न केवल उनमें चिंतन एवं मनन की प्रवृति विकसित होती थी, बल्कि उनमें मानसिक एकाग्रता का भी विकास होता था। बुद्धि और भावना मे सतुलन स्थापित होने के कारण उनके अन्दर शोधात्मक बुद्धि का विकास होता था। चरित्र निर्माण के साथ–साथ अनुशासन की भावना विकसित होती थी। प्रवचन एवं व्याख्यान से किसी भी विषय की गहराई तक पहुँचने का अवसर मिलता था। प्रश्नानुप्रश्न, शास्त्रार्थ एव वादसवाद से तार्किक क्षमता विकसित होती थी और चिंतक, दार्घानुशीलन एवं विश्लेषणात्मक बुद्धि का विकास होता था वे किसी भी विषय की वैज्ञानिक व्याख्या करने में समर्थ होते थे। ज्येष्ठ छात्रों से शिक्षण कार्य करवाने से उनका पूर्व ज्ञान पुष्ट एवं पठित ज्ञान की आवृति होता था। सदैव व्यवहारिक प्रशिक्षण मिलते रहने के कारण उनके आत्मविश्वास में भी अभिवृद्धि होती थी। स्पष्ट है कि सैद्धान्तिक, व्यवहारिक एवं प्रयोगात्मक शिक्षण का लाभ उन्हें मिलता था। उनका अर्जित ज्ञान शोधात्मक और वैज्ञानिक बनता था, जो सदैव उनके व्यक्तित्व में परिलक्षित होता था।

अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आलोच्य कालीन पाठ्यक्रमों की शिक्षा किस प्रकार वितरित की जाती थी ? प्रारम्भ में बढ़ई, लुहार या कृषक के लिये शैक्षिक योग्यता का कोई महत्व नही था, किन्तु वर्तमान समय में कारीगर या मजदूर के लिये भी प्रारभिक शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक समझा जाता है, क्योंकि साक्षर होने पर वह अपने विषय के उपयोगी साहित्य का अध्ययन कर अपने ज्ञान में अभिवृद्धि कर सकता है। प्राचीन समय में वह कथाओं और कीर्तनों के माध्यम से अपनी परम्पराओं की जानकारी प्राप्त करता था तथा अपने व्यवसाय की प्रारंभिक जानकारी व्यवहारिक रूप में परिवार से प्राप्त करता था।

किन्तु, द्विज वर्ण के छात्रो को उच्चारण से सबंधित स्वर एवं व्यजन का अभ्यास कराया जाता था। हृस्व, दीर्घ एवं प्लुत मे अतर, तालो का ज्ञान, उदात–अनुदात स्वरो में अतर, संहिता पाठ मे सधि होने से शब्दो में होने वाले रूपान्तर इत्यादि का ज्ञान कराया जाता था।[145] विकास के क्रम में व्यवहार गणित, व्याकरण, छन्द इत्यादि का भी साधारण ज्ञान वितरित किया जाने लगा। पेशावर स्थित सग्रहालय मे भगवान बुद्ध को एक चौकोर पट्ट पर लिखते हुए प्रदर्शित किया गया है।[146] संभवतः लिपि की जानकारी होने के उपरान्त लिखावट पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। कुलीन छात्र काष्ठ पट्ट पर रंग से लिखा करते थे, जबकि निर्धन छात्र भूमि पर ही बालू या धूल फैलाकर लिखने का अभ्यास करते थे। पेसिलो के अभाव में नुकीली डंठलों या अपनी उंगलियों से लिखा करते थे। आचार्य बडे पट्टों पर कोई अक्षर लिखता था और छात्र अपने पट्टों पर या तो भूमि पर उसी प्रकार की आकृति बनाकर अभ्यास करते थे। ईसा की आरंभिक शताब्दी के ग्रंथों में इस पद्धति का उल्लेख मिलता है।[147] अक्षर ज्ञान देने के लिये आचार्य ताड–पत्रों का भी प्रयोग करते थे तथा शिक्षार्थी उसी पत्र पर कोयले की रोशनाई से वैसी ही आकृति बनाने का अभ्यास करते थे। प्रतिदिन शिक्षा समाप्ति के उपरान्त उन पत्रों को साफ कर दिया जाता था। इस प्रकार एक ही ताड़ पत्र को कई दिन तक प्रयोग में लाया जाता था। जब छात्रों की उंगलियों में आवश्यक लचीलापन आ जाता था, तब उन्हें कदली–पत्र पर लिखने का अभ्यास कराया जाता था। कदली–पत्र पर पूर्ण अभ्यासोपरान्त ही उन्हें ताड़–पत्रों पर लिखना सिखलाया जाता था।[148] प्रारंभिक शिक्षा पिता स्वयं अपने बच्चों को देते थे, लेकिन जो पिता शिक्षित नहीं होते थे, उनके जिज्ञासु बच्चे प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करने हेतु शिक्षकों के घर पर जाते थे। कुलीन परिवार के बच्चों को शिक्षित करने हेतु निज़ी अध्यापक रखे जाते थे। राजतरंगिणी से ज्ञात होता है कि आलोच्य काल में प्रारंभिक शिक्षक होते थे।[149]

जहाँ तक उच्च शिक्षा का प्रश्न है, इसके अन्तर्गत ब्राह्मण शिक्षा पद्धति एवं बौद्ध शिक्षा पद्धति उल्लेखनीय है। ब्राह्मण शिक्षा का मुख्य विषय वैदिक

साहित्य था। ऋषि के मुख से निःसृत वाणी को 'मंत्र' और 'सूक्त' कहा गया। 'मंत्रो' और सूक्तों का चलन तत्कालीन समाज मे था। उसे योग्य शिष्य को स्मरण करा दिया जाता था। ऐसे असख्य सूक्त विद्वानों को स्मरण रहते थे, जिनमे से अधिकांश समय के साथ विस्मृत हो गए और जो शेष बचे उन्हे सहिताओ में संकलित कर लिया गया। सहिताओं का अध्ययन कई शाखाओं मे किया जाता था। प्रत्येक शाखा का अध्ययन करने वाला, 'चरण' (विद्यालय) अपनी शाखा के प्रति आस्था रखता था। प्रत्येक 'चरण' में मंत्र–पाठ, कर्मकाण्ड मे मत्रो का विनियोग तथा ब्रह्मचारी और आचार्य मध्य के व्यवहार और अनुशासन के नियम भिन्न–भिन्न थे। विकास के क्रम मे वेदो के अतिरिक्त उपनिषद साहित्य का विकास हुआ। वेदांगो की महत्ता बढी, यज्ञ और कर्मकाण्ड के अनेक गूढ और दुरूह विषय भी पढ़ाये जाने लगे। आचार्य अपने छात्रों को मंत्रों का स्मरण तो कराते ही थे, साथ ही साथ उसका अर्थ भी वे समझाते थे। न्याय, दर्शन, महाकाव्य, पुराण, व्याकरण, ज्योतिष, भाषा, विज्ञान आदि अनेकानेक विषय शिक्षा के अग बने। कालान्तर में दो प्रकार के आचार्य अवतरित हुए एक वे जो वेदों को कंठस्थ करते थे, दूसरे वे जो भाष्य लेखन में संलग्न थे तथा मंत्रों की व्याख्या करते थे। मौखिक पाठ और अर्थग्रहण के माध्यम से वेदों का अध्ययन–अध्यापन होता था किन्तु पाठ पर अधिक बल दिया जाता था। अध्ययन मे ऋचाओं के वाक् और अर्थ की प्रतिष्ठा थी। सुन्दरतम शब्दों के चयन और उनके संयोजन से उत्तम अर्थ की अभिव्यक्ति की जाती थी। ब्रह्मचारी को सर्वप्रथम वेद का अध्ययन कराया जाता था, तदुपरान्त उसे अन्य विषयों की शिक्षा दी जाती थी। प्रातः कालीन पक्षियों के कलरव और गुंजन के पूर्व ब्रह्मचारी वेद पाठ प्रारंभ कर देता था।[150] वेद का अध्ययन करने वाला पूज्य माना जाता था। राम के राज्याभिषेक के समय कुल पुरोहितों ने चारों वेद की स्तुति की थी।[151] आचार्य कुल में निवास करने वाले विभिन्न शाखाओं के अनुयायी अपनी–अपनी शाखाओं में प्रचलित पाठों को कुशलतापूर्वक कंठस्थ करके गान करते थे।[152] उच्चारण उदात्त और सौम्य रूप में किया जाता था। अनुदात्त

उच्चारण करने वाले शिक्षार्थियों के गाल पर थप्पड लगाये जाने का उल्लेख मिलता है।[153] ऋग्वेद के मण्डूक सूक्त में ऋक्–पाठ के तीन प्रकार निर्दिष्ट है, जो क्रमश पदपाठ, क्रम पाठ और सहिता पाठ था। इनका अध्ययन एक–एक करके या दो एक साथ अथवा लगातार पढते हुए किया जाता था। इसी के साथ 'स्वर शास्त्र' का भी विकास हुआ। उपनिषद् साहित्य मे इसकी शिक्षा और गान पर विशेष बल दिया गया है। प्रातः और सायं बेला में वेद पाठ मध्यम ध्वनि में तथा मध्यान्ह में उच्च ध्वनि में सस्वर किया जाता था। मंत्रों का सही उच्चारण और 'वाक्' उत्तम माना जाता था। अशुद्ध उच्चारण कराने वाले ब्राह्मण को कुल–ऋत्विक् से वचित कर दिया जाता था।[154] मंत्रों के कंठस्थीकरण के साथ–साथ उसका अर्थज्ञान भी आवश्यक था। जो शिक्षार्थी मंत्रों का अर्थ जाने बिना उसके उच्चारण करते थे, वे निन्दनीय समझे जाते थे।[154A] यास्क ने वेदमंत्रो के अर्थ को न जानने वाले को मूॅढ और भार ढोने वाला कहा है।[155]

वेद पाठ प्रायः उषाः काल में सम्पन्न होता था और इसके लिये आचार्य कुल को सर्वोत्तम स्थान माना गया था, जहाँ शिक्षार्थी गुरु के निर्देशन में रहकर वेदाध्ययन करते थे। मेघातिथि, विश्वरूप और अपरार्क आदि लेखकों के अनुसार छात्र को गुरु के सान्निध्य में रहकर ही वेदाध्ययन करना चाहिए। बाणभट्ट स्वयं गुरुकुल में रहकर वेदाध्ययन किया था।[156] श्मशान और चतुष्पथ जैसे स्थान वेद पाठ के लिये वर्जित थे। अमावस्या को भी वेद–पाठ निषिद्ध था। प्राचीन शिक्षाविदो का ऐसा निर्देश था कि घर से बाहर उन्मुक्त वातावरण में ही वेद पाठ करना चाहिए। इसीलिए शिक्षक और शिक्षार्थी प्रायः ग्राम और नगर से दूर एकांत स्थल और शात वातावरण मे वेदाध्ययन करते थे। लक्ष्मीधर के अनुसार वेद न मार्ग में न नगर में और न शूद्र के सम्मुख पढा जाना चाहिए, बल्कि उन्मुक्त वातावरण में पढ़ा जाना चाहिए।[157] वेदों की शिक्षा के साथ ही साथ शिष्टाचार एवं अनुशासन पर भी बल दिया जाता था। लक्ष्मीधर ने बृहस्पति को उद्धृत करते हुए लिखा है कि ब्राह्मणों का पहला कर्त्तव्य उसे वेद–पाठी होना चाहिए तदुपरान्त 'स्मृति' और 'सदाचार' का अनुपालन करें।[158] जो शिक्षार्थी पौरोहित्य

धर्म का पालन करना चाहते थे, उन्हे मत्रो को कंठस्थ करने के साथ–साथ कर्मकाण्डो का भी सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करना पड़ता था। यज्ञ सम्बन्धी वेदियो के निर्माण हेतु रेखागणित का साधारण ज्ञान आवश्यक था। इसकी शिक्षा उन्हें व्यवहारिक रूप में दी जाती थी। कर्मकाडीय ब्राह्मण वैदिक मंत्रों की विस्तृत शिक्षा प्राप्त करते थे, किन्तु सर्वसाधारण वर्ग (कृषक, शिल्पकार, योद्धा आदि) कतिपय चयनित मंत्रों को ही कंठस्थ करते थे, जिसका उनके व्यवहारिक जीवन से सम्बन्ध होता था।

स्मरणीय है कि प्रारंम्भ में वैदिक शिक्षा से सम्बन्धित पाठ्यक्रमों का अत्यधिक विस्तार न होने के कारण उसकी व्यवस्थित शिक्षा जिज्ञासु छात्रों को दी जाती थी, जो मौखिक होती थी। किन्तु, उत्तरकाल में पाठ्यक्रमों का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक हो जाने के कारण लिपिबद्धता के अभाव मे समस्त ज्ञान को कंठस्थ कर आत्मसात कर पाना अव्यवहारिक प्रतीत होने लगा। अतः मंत्रों और शब्दों के उच्चारण में दोष आने लगे। चूँकि, शिक्षार्थियो के लिए वेद पाठ करना ही पर्याप्त नहीं था, बल्कि उसका अर्थज्ञान और व्याख्यान भी उतना ही आवश्यक था। शिक्षाविदों के मध्य ऐसी अवधारणा थी कि बिना अर्थ जाने केवल पाठ करने से बुद्धि आलोकित नहीं हो सकती। वह ज्ञान सूखे ईंधन के समान माना गया, जो बिना अग्नि के जल नहीं सकता।[159] किन्तु, विकास के क्रम में पाठ्यक्रमों का विस्तार होने से धारणाशक्ति पर अधिभार बढ़ता गया। अतः उच्च शिक्षा हेतु अभिलषित अध्येताओं के लिए विशाल साहित्य को अद्यतन आत्मसात् करना, उसका अर्थ विन्यास करना और सदैव उसे स्मृति में बनाए रखना अव्यवहारिक प्रतीत होने लगा। परिणामतः कार्य विभाजन अपरिहार्य होने पर कुछ अध्येताओं ने उसे कंठस्थ करने में अपने को लगाया। शेष उसकी टीकाओं, निरूक्तों और शब्द कोश आदि का अध्ययन कर उसकी व्याख्या करने लगे। यद्यपि इस व्यवस्था के कारण कतिपय विद्वानों को तोते की तरह रट्टू होने का आक्षेप भी सहना पडा,[160] लेकिन कार्य विभाजन की इस व्यवस्था के कारण ही वह दुर्लभ ज्ञान बच पाया और उसका संरक्षण व संवर्द्धन होता रहा।

उत्तरकाल में वैदिक धर्म, साहित्य एव दर्शन के साथ–ही–साथ महाकाव्यो और आख्यानो की भी शिक्षा दी जाने लगी। स्मृतियॉ और पुराण भी पाठ्यक्रम के अग बने। अध्ययन हेतु प्रवचन, व्याख्यान, वाद–सवाद, शास्त्रार्थ, प्रत्यक्षीकरण, कंठस्थीकरण, चितन एव मनन की पद्धति को अपनाया गया। तत्व ज्ञान के अध्ययन में न्याय का अंतर्भाव निहित रहता था। अतः दर्शन के शिक्षार्थियो द्वारा अपने मत का प्रतिपादन एव प्रतिपक्ष के मत का खडन किया जाना स्वाभाविक था। वाद–संवाद एवं शास्त्रार्थों के कारण न केवल तत्व ज्ञान के अध्ययन को प्रोत्साहन मिला, बल्कि उसका तुलनात्मक अध्ययन भी प्रारभ हुआ। गौडपाद एवं शकराचार्य जैसे ब्राह्मण दार्शनिक तथा नागार्जुन एव बसुबंधु जैसे बौद्ध दार्शनिक को अपने विरोधी दर्शन मे भी पाडित्य प्राप्य था।

जहॉ तक बौद्ध शिक्षण पद्धति का प्रश्न है, इसका प्रारंभ बुद्ध ने स्वयं किया था, जिसमें सरल और सुबोध जनभाषा मे जीवन के तत्वों की चर्चा होती थी। व्याख्यान और प्रश्नोत्तर के आधार पर विचारो को रखा जाता था। प्रासंगिक उपमा, दृष्टात, उदाहरण, कथा आदि का भी समावेश होता था। सत्य, दार्शनिक तथ्य, तर्क, पर्यवेक्षण, चिंतन, मनन एवं वाद–सवाद को भी उचित स्थान दिया जाता था। विनय और धर्म की शिक्षा उपासक को दी जाती थी, जिसमें बुद्ध के सिद्धान्तो का नियोजन होता था। सुत्त, विनय और अभिधम्म पिटक के शिक्षार्थी एक साथ रहते थे। भिक्षु युत्त का पाठ करते थे, विनय का विमर्श करते थे तथा धम्म का पर्यालोचन करते थे। इससे उनका बौद्धिक विकास होता था। बाह्य आडम्बरों की अपेक्षा उनके अंतःकरण की शुद्धता पर विशेष बल दिया जाता था।[160A] प्रव्रज्या के उपरान्त उनका उपासक का जीवन प्रारंभ होता था।[161] इसके लिये अभिभावक की अनुमति आवश्यक थी।[162] प्रव्रजित शिक्षार्थी को करूणा, मुदिता और उपेक्षा सम्बन्धी भावनाओ का अभ्यास करना पड़ता था। उसे मैत्री भावना, चित्त–अर्पण, समाधि और ब्रह्मपरायणता का अनुपालन करना पड़ता था। उपासकत्व की समाप्ति उपसम्पदा के उपरान्त संभव थी।[163] संघ में रहते हुए प्रत्येक शिक्षार्थी को संघ के नियमों और उसके आचार–विचार का दृढ़तापूर्वक

पालन करना पडता था। वह बुद्ध, धम्म एव सघ के प्रति सदा निष्ठावान रहता था।[164] ब्रह्मचर्य एवं भिक्षाटन धर्म का सम्यक् पालन प्रत्येक शिक्षार्थी के लिये अपरिहार्य धर्म होता था। चित्त एवं मन को प्रांजल तथा उदात्त बनाए रखना उनका आदर्श था। बुद्ध का कथन था कि हे भिक्षुओ, पशु भी पारस्परिक प्रेम और सौहार्द के साथ रहते हैं। तुम्हे भी उसी प्रकार रहना चाहिए, जिससे तुम्हारा प्रकाश शोभायुक्त हो।[165] प्रत्येक शिक्षार्थी से इद्रिय–निग्रह, संयम–व्रत एव अपरिग्रह जैसे कठोर अनुशासन की अपेक्षा की जाती थी। आचार्य सर्वदा उसके हित लाभ के लिए सन्नद्ध रहते थे।

ईसा की आरंभिक शताब्दी से बौद्ध–विहारों में सर्वसाधारण भी शिक्षित किये जाने लगे। उन्हे संस्कृत भाषा, व्याकरण और ब्राह्मण साहित्य के साथ–साथ आगम साहित्य, (जो पालि में होता था) का भी अध्ययन कराया जाता था। जो शिक्षार्थी न्याय या दर्शन का अध्ययन करना चाहते थे, उन्हे हेतु विद्या, अभिधर्मशास्त्र, न्यायशास्त्र आदि चयनित बौद्ध ग्रंथों का अध्ययन करना पडता था। हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी त्रिपिटक साहित्य एवं महायान सम्प्रदाय के अनुयायी नागार्जुन, बसुबंधु आदि आचार्यों के साहित्य मे पांडित्य प्राप्त करते थे। वे ब्राह्मण तत्व ज्ञान का भी अध्ययन करते थे। किन्तु जो शिक्षार्थी धर्मेत्तर विषयों का अध्ययन करना चाहते थे, उसकी व्यवहारिक शिक्षा उन्हें दी जाती थी। प्रारम्भ मे लोकभाषा, जो जनसाधारण की भाषा थी, शिक्षा का माध्यम बनाया गया। किन्तु, उत्तरकाल में संस्कृत भाषा का वर्चस्व स्थापित होने के कारण न केवल लोकभाषा, लोक साहित्य एवं लोक संस्कृति का विकास बाधित हुआ, बल्कि बहुसंख्यक जनता भी बौद्ध शिक्षा से दूर होती चली।

विज्ञान और शिल्प की शिक्षा प्रायः उम्मीदवारी प्रथा के अनन्तर दी जाती थी।[166] शिक्षार्थी को कई वर्ष तक आचार्य के पास रहकर शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती थी। भोजन, वस्त्र एवं आवास की व्यवस्था आचार्य स्वयं करते थे। शिष्य के श्रम एवं कौशल का लाभ उसे मिलना ही आचार्य के धन व्यय की

क्षतिपूर्ति मानी जाती थी। बिना समुचित कारण के आचार्य को त्यागने पर उसे शर्त की अवधि तक साथ रहने, सीखने एव कार्य करने के लिये बाध्य किया जा सकता था।[167] लेकिन यदि आचार्य शिष्य की शिक्षा में प्रमाद करे, उससे शिल्पगत कार्य के अतिरिक्त अन्य कार्य करने को कहे, तो शिष्य वचनभंग के उत्तरदायित्व से मुक्त होकर उसे परित्याग कर सकता था।[168]

अपने आचार्यो के सान्निध्य मे रहकर ज्ञातव्य निर्माणकला के विभिन्न अगो और उपागो से पूर्णतया परिचित होते थे। विभिन्न शिल्पों में दक्षता प्राप्त करने के लिये प्रत्येक शिक्षार्थी से आवश्यक उपकरणो के निर्माण की अपेक्षा की जाती थी। चित्रकला के शिक्षार्थी वृक्षमूलों या रेशो से गिलहरी के बालो या घासो से अपने लिये तुलिका का निर्माण करते थे। इसी प्रकार अन्य उपकरणो के निर्माण की व्यवहारिक शिक्षा उन्हे दी जाती थी। रेखा और चाप खीचने का अभ्यास कराया जाता था तथा जब मौलिक चापों के खींचने मे उनकी आखे, हाथ एवं स्मृति सध जाती थी, तब उन्हे विभिन्न आभूषणों और नक्काशियों का अभ्यास कराया जाता था। तदुपरान्त कल्पित प्राणियों का चित्र खींचने का अभ्यास कराया जाता था। रंग घोलने, तलपृष्ठ भाग को सजाने, रंग भरने और रेखा आदि को भरने मे उसकी सहायता करते थे। इस प्रकार निष्ठा, लगन और योग्यता से प्रभावित होकर प्रत्येक आचार्य अपने शिक्षार्थियों को अभिलषित विषयों मे दक्ष बनाते थे। विभिन्न शिल्पो की व्यवहारिक शिक्षा उसे अपने पारिवारिक पृष्ठभूमि में ही दी जाती थी।[169] शिल्पगत ज्ञान के साथ—साथ उन्हें संस्कृत साहित्य की भी शिक्षा दी जाती थी, जिससे वे संस्कृत के उन पुस्तकों का अध्ययन कर सके, जिसमें विभिन्न शिल्पों की जानकारी दी होती थी। तक्षण एवं चित्रकला के शिक्षार्थियों को मूर्तिशास्त्र के साथ—साथ पुराण साहित्य का भी अध्ययन कराया जाता था। वस्तुशिल्पकारों को गणित की भी शिक्षा दी जाती थी। शिक्षार्थियों से इस बात की अपेक्षा की जाती थी कि वे पवित्र भावना से शिक्षा प्राप्त करेंगे। चिकित्सक को सर्वदा यह स्मरण कराया जाता था कि उसे

अपने जीवन की चिन्ता किये बिना सदैव रोगी की सेवा करनी चाहिए। नि सन्देह यह प्राचीन शिक्षा के आदर्श, व्यवसाय की पवित्रता, उसके प्रति निष्ठा एव उसकी इंमानदारी को रेखाकित करता है।

पजाब के नौका निर्माताओं द्वारा लगभग तीन महीने की अल्पावधि मे ही यूनानी आक्रमणकारी सिकन्दर को एक विशाल बेडा बनाकर दिया जाना, तत्कालीन शिल्पकारों की उच्च योग्यता एव दक्षता को प्रमाणित करता है। दिल्ली स्थित चन्द्र लौह स्तंभ को देखकर वर्तमान इंजीनियर स्तब्ध रह जाते हैं, जो विगत पन्द्रह सौ वर्षों तक खुली धूप और बरसात सहने के उपरान्त भी बिना किसी परिवर्तन के स्थिर है। मथुरा एव गाधार कला मे निर्मित बुद्ध की प्रतिमा, अजन्ता एव बाघ की चित्रकारी, अशोक कालीन पाषाण स्तंभ, सांची एवं भरहुत के स्तूप, नागर, बेसर एवं द्रविड शैली में निर्मित विभिन्न मंदिर आलोच्य कालीन शिक्षार्थियों के उच्च दक्षता को प्रदर्शित करता है। कौटिल्य रचित अर्थशास्त्र से विभिन्न धातुओं के स्वरूप एवं रंग तथा उसे गलाने एवं शुद्ध करने की जानकारी प्राप्त होती है।[170] यद्यपि धर्म एवं दर्शन की तुलना में विज्ञान और शिल्प की शिक्षा उपेक्षित रही तथापि उन परिवारों की भूमिका महत्वपूर्ण रही, जो परम्परागत रूप मे विभिन्न व्यवसायों से जुडे हुए थे। उन परिवारों में पिता–पुत्र का सम्बन्ध, गुरू–शिष्य की भॉति बना रहा तथा विभिन्न व्यवसायों की व्यवहारिक शिक्षा उन्हें प्राप्त होती रही।

मनु[171] ने वैश्यों के लिये जिस शिक्षा का विधान और कौटिल्य[172] ने व्यापाराध्यक्ष के लिये जिस योग्यता की अपेक्षा की है उससे प्राचीन वाणिज्यिक शिक्षा का अनुमान लगाया जा सकता है। कौन–सी वस्तु कहाँ पैदा होती है और वहॉ जाने के लिये कौन सा मार्ग सुगम होगा, इसकी सामान्य जानकारी उन्हें दी जाती थी। कराधान के नियम अत्यन्त जटिल होने एवं कर की मात्रा अधिक होने के कारण ऐसे मार्ग चुने जाते थे, जिससे चुंगी की बचत हो। तीर्थ यात्राओं के समय विभिन्न स्थानों का सूक्ष्म परिचय कराया जाता था। विभिन्न जनपदों के विनिमय मूल्य एवं वहाँ प्रचलित सिक्कों की व्यवहारिक शिक्षा उन्हें दी जाती थी।

इससे उनमें विश्लेषणात्मक बुद्धि का विकास होता था। जो शिक्षार्थी अन्तर्प्रान्तीय या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का ज्ञान प्राप्त करना चाहते थे, उन्हे विभिन्न जनपदों की भाषाएँ सीखनी पडती थी। उच्च श्रेष्ठी परिवारो मे बैंकिंग की शिक्षा दी जाती थी। स्पष्ट है कि विभिन्न शिल्पों एवं व्यवसायो की शिक्षा सैद्धान्तिक कम व्यवहारिक अधिक होती थी।

जहाँ तक सैन्य शिक्षा का प्रश्न है, धनुर्वेदीय उपनयन एवं छुरिका बन्ध संस्कार से इसकी महत्ता प्रतिपादित होती है। इसके लिये किसी शुभ दिन को उसे व्रत रखना रखना पडता था और वैदिक मंत्रों की ध्वनि के मध्य उसे शस्त्र प्रदान किया जाता था।[173] वशिष्ठ के अनुसार, ब्राह्मण को धनुष, क्षत्रिय को असि, वैश्य को भाला एवं शूद्र को गदा प्रदान किया जाना चाहिए। प्रारंभ मे सभी वर्ण के शिक्षार्थी सैन्य शिक्षा प्राप्त करते थे, किन्तु आगे चलकर वर्णगत कर्म का स्पष्ट विभाजन हो जाने के कारण इस पर क्षत्रियों का एकाधिकार स्थापित हो गया। नारद ने छुरिका बन्ध संस्कार का उल्लेख किया है।[174] जो सैन्य शिक्षा की समाप्ति का द्योतक था। यह संस्कार विवाह से पूर्व सम्पन्न होता था और इसका प्रचलन संभवतः अभिजात्य एवं कुलीन परिवारो में था। प्रारम्भ में प्रत्येक गाव ही सैन्य विषयक् व्यवहारिक शिक्षा प्रदान करते थे। किन्तु, उत्तरकाल में तक्षशिला जैसे महत्वपूर्ण शिक्षण केन्द्र भी सैन्य शिक्षा प्रदान करने लगे। ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी से राजकुमारों की सैन्य शिक्षा प्रदान करने हेतु जगह–जगह विद्यालय खुलने लगी।[175] इस प्रकार के विद्यालय राजधानियों के समीप ही होते थे, जहाँ अभिलाषित छात्रों को व्यायाम, तैराकी एवं अन्य सैन्य अभ्यास कराया जाता था। प्रातःकाल का समय व्यायाम और सैन्य अभ्यास आदि के लिये नियत था, जबकि अपरान्ह में व्याख्यान आदि दिये जाते थे। तलवार, भाले, धनुषबाण और अश्वारोहण आदि में उन्हें दक्ष बनाया जाता था। लक्ष्य बेधने का अभ्यास मिट्टी और घास–फूस के पुतलों पर कराया जाता था। अभ्यास में दक्षता प्राप्त होना ही शिक्षा की परिसमाप्ति एवं ज्ञान की पूर्णता मानी जाती थी। जातक साहित्य से ज्ञात होता है कि तक्षशिला में 103 शिक्षार्थी हस्त–परिचालन, अश्वारोहण तथा

विभिन्न आयुधों के परिचालन की व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त करते थे।[176] स्पष्ट है कि शिक्षा का स्वरूप सैद्धान्तिक कम व्यावहारिक ज्यादा था। योग्यता एव कौशल की जॉच हेतु विभिन्न प्रतियोगिताऍ आयोजित की जाती थी।

आयुर्वेदीय उपनयन से चिकित्सकीय शिक्षा की महत्ता प्रतिपादित होती है। किसी शुभ दिन को दर्भ, समिध, पुष्प आदि एकत्र कर एक वेदिका बनायी जाती थी। विभिन्न देवताओं एवं ऋषियो का स्मरण करते हुए शिक्षक एव शिक्षार्थी दोनो समवेत घी और मधु नैवेद्य आदि उसमे अर्पित करते थे। तदुपरान्त दोनो समवेत अग्नि की परिक्रमा करते थे। अग्नि को साक्षी मानकर आचार्य उसे ब्रह्मचर्य का पालन करने तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, आलस्य, असत्य और क्रूरता आदि के परित्याग की शपथ दिलाता था।[177] इस प्रकार चिकित्सकीय शिक्षा प्रारम्भ होती थी। आयुर्वेद की अधिकांश पुस्तकें संस्कृत भाषा में होने के कारण इसका भी ज्ञान होना, उनके लिये आवश्यक था।

शल्य चिकित्सा एवं औषधीय निर्माण विधि की शिक्षा प्राप्त करने वाले शिक्षार्थी सर्वथा अपने आचार्यो के सान्निध्य मे रहकर उनसे व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त करते थे। विद्यालयों के साथ चिकित्सालयो की संबद्धता का भी प्रमाण मिलता है। तक्षशिला एवं पाटलिपुत्र नगर इस दृष्टि से महत्वपूर्ण थे। प्रारभ मे तरबूज, खीरे, लौकी, आलू आदि पर विभिन्न औजारों को पकड़ना एवं चलाना सीखाया जाता था। तदुपरान्त मृत पशुओं के शवों पर धमनियों को छेदने की कला सीखायी जाती थी। घाव का प्रात्यक्षिक तने हुए केशावृत्त चमड़े पर किया जाता था। जख्म की सिलाई की जानकारी पतले चमड़ों के माध्यम से दी जाती थी तथा उसपर पट्टी लगाने का अभ्यास पुआल युक्त मानव पुतलों के सहारे किया जाता था।[178] प्रत्येक शिक्षार्थियों को क्रमशः बाण को शरीर से निकालना, फोड़े धोना, सडे हुए भाग को चाकू से काटकर बाहर निकालना, धुलाई के लिये विभिन्न वनस्पतियों से युक्त जल का इस्तेमाल आदि का प्रात्यक्षिक अभ्यास कराया जाता था। घावों की सूखाने की कला, वमण, बस्ती, कुंजर, नेती,

शखप्रक्षालन, श्वासन इत्यादि का अभ्यास प्रत्येक शिक्षार्थियों को दैनिक जीवन मे कराया जाता था। सुश्रुत के अनुसार केवल पुस्तकीय ज्ञान से कोई भी शिक्षार्थी शरीर रचना का पूर्ण ज्ञाता नहीं हो सकता। अतः शव को पानी में सडाकर उन्हे शवच्छेदन करना पडता था, तब कहीं जाकर वे मास पेशियो, धमनियो, हड्डियो तथा भीतरी अंगों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते थे।[179] इस प्रकार तत्कालीन शिक्षार्थियो के व्यावहारिक ज्ञान के अनन्तर शल्य एव औषधि निर्माण की शिक्षा दी जाती थी। इसके लिए उन्हे हर समय गुरू का सान्निध्य प्राप्त होना आवश्यक था, क्योकि गुरू ही उन्हें प्रात्यक्षिक ज्ञान प्रदान कर उनकी शकाओ का समाधान करता था। दुरूह विषयों पर परिचर्या होने से विषय की गहरायी तक पहुँचने मे उन्हें सहयोग मिलता था।[180] विभिन्न विषयो के दक्ष विद्वान अपने–अपने विषय की शिक्षा प्रदान करते थे।[181] इससे विशिष्टीकरण को प्रोत्साहन मिलता था।

परीक्षा एवं उपाधि

वर्तमान परीक्षा प्रणाली की भॉति, जिसे हम वार्षिक या अर्ध परीक्षा कहते है, प्राचीन शिक्षा पद्धति के अन्तर्गत ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी, बल्कि आचार्य की संतुष्टि ही शिक्षा की पूर्णता मानी जाती थी। आचार्य अपने छात्रों को अगला पाठ तभी पढ़ाते थे, जब वे इस बात से पूर्णतया संतुष्ट हो जाते थे कि वह छात्र पिछला पाठ कंठस्थ कर लिया है। अतः शिक्षा की समाप्ति किसी विस्तृत परीक्षा प्रणाली से न होकर अंतिम पाठ की आवृत्ति और व्याख्या से होती थी।[182] जिन छात्रों से आचार्य संतुष्ट नहीं होते थे, उन्हें पुनः उसी कक्षा में रखा जाता था तथा उनसे दुबारा पिछले पाठ की आवृत्ति के लिये कहा जाता था। अध्ययन की पूर्णता के उपरान्त जब वे उनकी उपलब्धि से संतुष्ट हो जाते थे, तब उन्हे पडितों की सभा में उपस्थित किया जाता था, जहाँ उनसे कुछ प्रश्न पूछे जाते थे,[183] सतोषजनक उत्तर मिलने के उपरान्त उन्हें गृहस्थ जीवन में प्रवेश की

अनुमति दे दी जाती थी। समावर्तन सरकार के समय प्रत्येक ब्रह्मचारी पंडितो की सभा मे उपस्थित होता था,[184] लेकिन इसका अधिकारी वही ब्रह्मचारी होता था, जिसे पंडित सभा स्वीकृति प्रदान करती थी। इस प्रकार पंडित सभा की स्वीकृति से ही किसी ब्रह्मचारी को स्नातक उपाधि प्राप्त होती थी।

बौद्ध शिक्षा की पूर्णता उपसम्पदा सस्कार के उपरान्त मानी जाती थी। इसका अधिकारी वही भिक्षु होता था, जिसका अवस्था न्यूनतम 20 वर्ष होती थी और जो आध्यात्मिक अनुभव रखता था। 15 वर्ष की अवस्था में प्रव्रज्या की दीक्षा दी जाती थी। इस प्रकार भिक्षु जीवन का प्रारभ प्रव्रज्या की दीक्षा से और उसका समापन उपसम्पदा की दीक्षा से होता था। वह संघ के सम्मुख खड़ा होकर श्रद्धापूर्वक अपने दोनो हाथ को जोडकर उपर उठाते हुए उपसम्पदा समाप्त करने की तीन बार याचना करता था और सघ उसे मौन रूप में स्वीकार कर लेता था।

चरक ने पंडितों की सभा मे वैद्यो की योग्यता सम्बन्धी परीक्षा का उल्लेख किया है।[185] राजशेखर ने भी राजसभा में आयोजित होने वाली परीक्षाओं का उल्लेख किया है।[186] किन्तु ये परीक्षाएँ वर्तमान उपाधि परीक्षाओं से सर्वथा भिन्न थी, क्योंकि उस समय समावर्तन संस्कार के समय शास्त्रार्थों के माध्यम से छात्रों की उच्चतम योग्यता का आकलन किया जाता था। राजसभा या पंडितो की सभा में सम्पन्न होने वाले विद्वत् शास्त्रार्थों का उद्देश्य अपने को एक कवि, साहित्यकार, शिल्पकार या वैद्य के रूप में स्थापित करना था। इससे नयी–नयी प्रतिभाएँ उभरती थीं। चूँकि, प्राचीन शिक्षा का मूल उद्देश्य व्यक्ति को चरित्रवान एवं ज्ञानवान बनाकर उसका सर्वांगीण विकास करना था, अतः सैद्धान्तिक शिक्षा की अपेक्षा व्यावहारिक शिक्षा पर विशेष बल दिया जाता था। पांचवीं शताब्दी तक किसी भी शिक्षार्थी को प्रमाण–पत्र या उपाधि पत्र वितरित किये जाने का उल्लेख नही मिलता। किन्तु, समकालीन विद्वानों के मध्य प्रायः शास्त्रार्थ एवं विद्वतगोष्ठियाँ आयोजित होने का प्रमाण मिलता है जो प्राचीन शिक्षा पद्धति की

एक स्वाभाविक विशेषता थी। इसका उद्देश्य प्रतिभाशाली विद्वानो को प्रकाश मे लाने,[187] उन्हे प्रोत्साहित करने एवं उनकी योग्यता को महत्व देने से था। याज्ञवल्क्य का शाक्ल्य से शास्त्रार्थ इसी प्रकार का था।[188] जनक की राजसभा में आयोजित शास्त्रार्थ का नेतृत्व याज्ञवल्क्य ने किया था। इस शास्त्रार्थ में जितने भी प्रश्न पूछे गए, उन सभी प्रश्नों का समाधान उन्होने किया था। उद्दालक आरूणि, अश्वल, आर्तभाग, भुज्जु, उशस्त, कहोड़, शाक्ल्य और गार्गी जैसी विभूतियां उस विद्वत सभा में सम्मिलित थीं। गार्गी के अनेक गूढ़ प्रश्नो से याज्ञवल्क्य स्तब्ध थे। किन्तु, याज्ञवल्क्य को ही शास्त्रार्थ का विजेता घोषित किया गया था और उन्हे एक सहस्त्र गाये, जिनकी सींगों में पांच–पांच स्वर्ण पाद बंधे हुए थे, भेंट की गयी थी।[189] शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि उद्दालक आरूणि और सौचेय में ब्रह्म विषयक शास्त्रार्थ हुआ था।[190] उद्दालक आरूणि ने उदीयमान विद्वानों को शास्त्रार्थ के लिये आवाहित कर शौनक ऋषि से परास्त हुआ था और उनका शिष्यत्व स्वीकार किया था।[191] पांचाल परिषद् का संरक्षक प्रवाहण जैबलि था, जिसके निर्देशन में बारम्बार ज्ञान चर्चाएं होती रहती थी। प्रारंभिक विद्वत् गोष्ठियो में स्त्रियॉ भी ऋक् गान किया करती थी।[192] इन विद्वत् गोष्ठियों का विषय साधारणतया ब्रह्म विषयक होता था। किन्तु, उत्तरकालीन गोष्ठियों में विभिन्न विषयो पर ज्ञान चर्चाएं होने लगी। वात्स्यायन ने ऐसी विद्वत् गोष्ठियों का उल्लेख किया है, जहॉ लोगों को मधुर वार्ता का अवकाश मिलता था, एकत्रीकरण से समाजिकता को बल मिलता था, साहित्यिक एवं धार्मिक परिचर्चाएँ होती थी तथा अनेक प्रतिभाशाली विद्वान प्रकाश में आते थे।[193] हर्षचरित से भी दिदित होता है कि उन दिनों विद्वत् गोष्ठियॉ आयोजित होती थी, जहॉ विभिन्न विषयों पर परिचर्चाएँ चलती थीं।[194] महाकवि बाण ने ऐसी गोष्ठियों को "विद्या–गोष्ठी" कहा है।[195] स्पष्ट है कि उत्तरकाल में विभिन्न विषयों के लिये अलग–अलग विद्वत् गोष्ठियो का आयोजन होने लगा। 'काव्य–गोष्ठी' में 'प्रबंध–शास्त्र' के विषय और रचना पर विचार किया जाता था।[196] प्रमाण–गोष्ठी में विषयों की प्रमाणिकता पर विचार किया जाता था।[197] वीर गोष्ठी में वीरता

और शौर्य से संबंधित परिचर्चाऍ होती थी।[198] काशी में आयोजित विद्वत् गोष्ठी जगत प्रसिद्ध है, जहॉ शंकर और मडन मिश्र के मध्य शास्त्रार्थ हुआ था। स्पष्ट है कि शैक्षिक पाठ्यक्रमो का क्षेत्र विस्तृत होने से विद्वत् गोष्ठियो का विषय वस्तु भी परिवर्तित हुआ। लेकिन, ये गोष्ठियॉ परीक्षा या उपाधि वितरण से संबंधित न होकर ज्ञान–चर्चा तक ही सीमित रही। निःसदेह इन गोष्ठियो के माध्यम से विषय की गभीरता, उपयोगिता एवं प्रमाणिकता सिद्ध कर विभिन्न शंकाओ का समाधान किया जाता था। यह वर्तमान राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय सेमिनारों, गोष्ठियो की भॉति था, जहॉ विद्वत् जन एक दूसरे के ज्ञान एवं अनुसधान से लाभान्वित होते थे।

उत्तरकालीन बौद्ध शिक्षा केन्द्रो पर प्रमाण–पत्र वितरण का उल्लेख मिलता है। तिब्बती विद्वान तारानाथ के लेख से ज्ञात होता है कि उत्तरकालीन बौद्ध शिक्षा केन्द्रों पर उपाधि पत्र वितरित किया जाने लगा था। पाल शासक धर्मपाल, जो विक्रमशीला विश्वविद्यालय के संस्थापक एवं संरक्षक थे, वहॉ के स्नातकों को अध्ययन की समाप्ति के उपरान्त उपाधि और प्रमाण–पत्र वितरित करते थे।[199] लेकिन, इसके लिये वर्तमान लिखित परीक्षा की भॉति किसी परीक्षा का दृष्टान्त नहीं मिलता। बंगाल की पंडित सभाओं द्वारा गदाधर और जगदीश जैसे प्रकाड विद्वानो को 'तर्क चक्रवर्ती' और 'तर्कालंकार' जैसी उपाधियॉ दी गई थीं। यह व्यवस्था संभवतः इसलिए बनायी गयी थी, जिससे संबंधित संस्था के स्नातकों की पहचान बनी रहे। इस बात की पुष्टि ह्वेनसांग के विवरण से भी होती है, जिसके अनुसार 7वीं शताब्दी के कुछ धूर्त पंडित यश–प्राप्ति हेतु नालन्दा का नाम चुराते थे।[200] यह उत्तरकालीन शैक्षिक ह्रास एव स्नातकों में हो रहे नैतिक पतन का रेखांकित करता है।

छठी शताब्दी से पूर्व न तो कोई लिखित परीक्षा होती थी और न कोई उपाधियॉ प्रमाण–पत्र ही वितरित की जाती थी। गुरू की संतुष्टि शिक्षा की पूर्णता और समावर्तन संस्कार तथा उपसम्पदा की दीक्षा शिक्षा की समाप्ति मानी जाती थी। पंडित सभा की स्वीकृति ही उनकी उपाधि होती थी। नये–नये

अनुसधानो से उन्हें अपने ज्ञान को पूर्ण रखना पड़ता था, क्योकि किसी भी समय कोई भी पडित उसे शास्त्रार्थ के लिये चुनौती दे सकता था। उसमें सफल होना ही उसकी योग्यता और ज्ञान की पूर्णता मानी जाती थी। सम्पूर्ण ज्ञान को मुखस्थ रखना उसके लिए आवश्यक था, क्योकि शास्त्रार्थ के समय विद्वत्–मंडल को अपने ज्ञान एवं तर्क से सतुष्ट करना पड़ता था, न कि वर्तमान की भॉति उपाधि एव प्रमाण–पत्र प्रस्तुत कर। इस प्रकार प्राचीन स्नातकों का ज्ञान उनके व्यक्तित्व मे परिलक्षित होता था। अपनी विद्वता के कारण ही वे तत्कालीन समाज में पूज्य थे। एक सामान्य शिष्टाचार था कि यदि राजा और ब्रह्मचारी दोनो आमने–सामने चले आ रहे हों, तो राजा हटकर उन्हे मार्ग देता था।[201] यह उनके महत्व को रेखांकित करता है।

संदर्भ

1. यह संस्कार फरवरी/मार्च माह में सम्पन्न होता था। इस अवसर पर एक बार पुनः वैदिक देवो, देवियो एव भूतकालीन विद्वत्जनो का गुणगान किया जाता था।
2. मनु., 4.98
3 अर्थशास्त्र, 2.4 के अनुसार, अध्ययन के उद्देश्य से बाहर गये ब्रह्मचारी की पत्नियों को पुनर्विवाह एवं नियोग के लिये 10–12 साल तक प्रतीक्षा करनी चाहिए।
4. जातक, 252
5. तै. ब्रा., 3.10.11, भरद्वाजो हवै त्रिभिरायुभिर्ब्रह्मचर्यमुवास। तंह इन्द्र उपव्रजयोवाचयत्ते चतुर्थमायुर्दद्यां कुर्या इति ब्रह्मचर्यमेवैतेन चरेयमिति होवाच।
6. आ. गृ. सू., 2.6
7. छा. उप , 8.7.4., 4.10–15
8. वही, 6.1.1
9. एजूकेशन कमीशन रिपोर्ट, मद्रांस प्रान्त कमेटी, 1882, पृ. 6, कृष्ण यजुर्वेद के पूर्ण ज्ञान के लिये 20 वर्ष का समय आवश्यक माना गया था।

10. तै. ब्रा., 3.10.11

11. उद्धरण (फ्रैगमेन्ट) स., 41

12 नदिया गजेटियर, पृ. 182

13. बौ. ध. सू., 1.2.31, कृष्णकेशो ह्मग्नीदधीतेति श्रुते. । शबर की कल्पना है कि 48 वर्ष की अवस्था तक नपुसक ही विवाह रोक सकते है– अपुंस्त्व प्रच्छादय प्रच्छादयन्तश्चाष्टाच त्वारिंश, दार्षाणि ब्रह्मचर्य चरितवन्त पूर्व मीमासा की टीका, 1.3

14 अपरार्क, पृ. 72

मदन, पृ. 111

माधव, पृ. 5, 1.2

15 हवेनसांग, 1.160.1

15A. हर्षचरित्र में वर्णित

16. हारीत स्मृति, 3.13–14

17. पाणिनि, 5.1.94

18. बौ. ध. सू., 1.11; गौ. ध. सू., 2.7, मनु., 4.100

19. मनु., 2.102–117

20. याज्ञ. की टीका में अपरार्क का उद्धरण, 1 142.151

छिद्राणय हुर्द्विजातीनामनध्यायान्मनीषिणः ।

छिद्रेभ्या स्रावति ब्रह्म ब्राह्मेन यदर्जितम् ।।

आयु प्रजां पशुन्मेधां कुन्तामि सुकृतंचयत् ।

अनध्यायेष्वभ्यसत ब्रह्म व्याहरतस्तथा ।।

21. बौ. ध. सू., 1.11.40, मनसा चानध्याये

अ. ध. सू., 1.3.11.24

22. विष्णु पु., 3.12.36, अकालगर्जितादौ च पर्वस्वाशौचकादिषु । अन्ध्यायं बुधः कुर्यादुपरागादिके तथा ।।

23. याज्ञ., स्नातधर्म प्रकरण, 45–46

24. मनु., 2.105, वेदोपकरमे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके ।

नानुरोधेडस्त्यन ध्याये होममन्त्रेषुचैवहि ।।

25. कूर्म पुराण, नानाध्यायोडस्मि चागेषु नेतिहास पुराण थोः।
न धर्म शास्त्रेष्वन्येषु पर्वण्येयानि वर्जयेत्।।

26. वी. मि. स., पृ. 536, तत्र सर्वत्र प्राज्ञाध्ये तृविषयेण गुरू लघुकालाना व्यवस्था ज्ञेया।

27. तै आ., 2.15
मनु, 4.127

28. जातक निकाय, 2.4

29 वैटर्स, जिल्द—2, पृ. 165
बील, पृ. 170—71

30 बसु कृत इंडियन टीचर्स ऑफ बुद्धिस्ट यूनिवर्सिटीज, पृ. 47.60, 'द्वारपाल' पडितों की उपाधि थी।

31 जीवनी, पृ. 112

32. सा. इ. ए. रि., 1918, पृ. 145

33. बर्नियर, पृ. 145

34. तैत्तिरीय प्रतिशाख्य 24वॉ अध्याय;
गुरुत्वं लघुता साम्यं ह्रस्वदीर्घप्लुतानि च।
लोपागमविकारश्च प्रकृतिर्विकृतिः क्रमः।।4।।
स्वरितोदात्तनीचत्वं श्वासो नादोडगमेव च।
एतत्वर्स तु विज्ञेयं छदोभाषामधीयता।।5।।
पदक्रमविशेषज्ञौ वर्णक्रमविचज्ञणः।
स्वरमात्राविभागज्ञो गच्छेदाचार्य ससदम्।।6।।

34A. कटा—हक, जातक सं. 125

34B. लज्जा राम तोमर, भारतीय शिक्षा के मूलतत्व, पृ. 148

35. ललित. दसवाँ सर्ग, रघुवंश तृतीय सर्ग, उत्तर रामचरित्र द्वितीय अंक।

35A. छान्दो. उप., 3.11, 1—3

36. ईसा पूर्व 250 से 250 ईस्वीं तक के अधिकांश लेख पालि या प्राकृत मे मिलते हैं। ऐसी अनुश्रुति है कि सातवाहन राजाओं ने आज्ञा दे रखी थी कि उनके सभी राजकीय कार्य प्राकृत में ही हो (काव्यमीमांसा, पृ. 50)।

इस वंश के अनुलेखों से इस अनुश्रुति की पुष्टि होती है। गुप्त शासक संस्कृत प्रेमी थे। अतः उन्होने राजाज्ञा निकाल रखी थी कि उनके महलों मे भी सस्कृत ही बोली जाय (वही पृ. 50)। गुप्तो के सभी लेख संस्कृत मे है।

37 इत्सिंग, चौतीसवॉ अध्याय।

38 फ्लीट, गुप्त इंस्क्रिप्शन्स, पृ. 80—87

39 अथर्व., 15—1

40 छान्दोग्य उपनिषद, 7.1

41 मुण्डकोपनिषद्, 2.23

प्र उप, 30, 6 1

42 छा. 30, 7.1, श. ब्रा., 4.6.9.20, 11.5.6.8

43 जातक, 1, पृ. 212, 285, 2, पृ. 2, 80, 85, 87, 4, पृ. 4; 5, पृ. 127, 263 आदि।

44 अर्थशास्त्र, 1.1 आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः। त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति मानवाः। त्रयीविशेषो ह्यान्वीक्षिकीति।

45. जातक सं., 80.537

महावग्ग, 7.1—6

जातक सं., 185, 256, 416

छां., 7—1.2

46 मिलिन्द पन्ह, भाग—1, पृ. 6; जिल्द—1, पृ. 247

46A. म. नि., भाग—1, पृ. 85, अंगुत्तर नि., भाग—4, पृ. 281—82

47. रघुवंश, 5.11

48. कामसूत्र, 1.3, 1.15

49. प्रयाग—प्रशस्ति, निशितविदग्धमतिगान्धर्वललितैर्व्रीडितत्रिदश पतिगुरूतुम्बरूनारदादेः।

50. भीतरी—स्तंभ—लेख

51. रघुवंश, 4.13

52. दशकुमार चरित, पृ. 21—22

53 बील, पृ. 122

54 क. स. सा, 25.175, एतद्धिदिव्य शिल्प न मानुषम्।

55. श. श्रा. 29.5, त्रिवृद्धै शिल्पं नृत्य गीत वादित्रम्।

56. वेदानां लेखकाश्चैव सर्वे निरयगामिनः।

57. मंत्रोहीनः स्वरतो वर्णतो वामिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाक्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।

58 पद–पाठ में विद्यार्थी को प्रत्येक वैदिक मंत्र का प्रत्येक शब्द मूल रूप में अलग–अलग स्मरण करना पडता था। 'अग्निमीले पुरोहितम्' का पद–पाठ अग्निम्, ईले पुरोहितम् ऐसा होता था। क्रम पाठ में यह ऋचा पाद अग्निं ईले, ईले पुरोहितम इत्यादि क्रम से याद किया जाता था। जटापाठ मे इसका स्वरूप अग्निं ईले, ईले अग्निं, अग्नि ईले ऐसा होता था और धन पाठ में अग्नि ईले, ईले अग्नि, अग्नि ईले पुरोहितम्, पुरोहितम् ईले, अग्नि अग्नि ईले पुरोहितम् इत्यादि होता था। सम्पूर्ण वेदमंत्रों का पदपाठ, क्रमपाठ, व जटापाठ कंठस्थ करना एक कठिन कार्य होता था।

59. छां. 7–1.2
मिलिन्द पन्ह, जिल्द–1, पृ. 247

60. मिलिन्द पन्ह, भाग 1, पृ. 6
जातक सं. 80.537
महावग्ग, 7.1–6
जातक स., 185.256.416
म. नि. भाग–1, पृ. 85 अ. नि., भाग–4, पृ. 281–82

61. एपि. इं., 16, पृ. 10, 7, पृ. 87, ठाकुर श्री यशः प्रपौत्राय द्विवेदी श्री वील्हे।

62. भोज प्रबंध, पद्य 86, राजा भोज के द्वारपाल वैदिक ब्राह्मणों पर फबतियाँ कसते हुए कहते हैं– राजामाषनिभैर्दन्तैः कटिविन्यस्तपाणयः। द्वारितिष्ठन्ति राजेन्द्र छान्दसाः श्लोकशन्नवः।। इसकी शिकायत उन्होंने कालीदास से की– अस्माकं समग्रवेदविदामपि भोजः किमपि नार्पयति। भवादृशांहि यथेष्टं दत्ते। ततोऽस्माभिः कवित्वविधानधियात्रागतम्। कालीदास ने उनकी सहायता की थी।

63 हर्षचरित, अध्याय, 8

63A. लज्जाराम तोमर, भारतीय शिक्षा के मूल तत्व, पृ. 29

63B. वही, पृ. 117

64 जातक, 3, पृ. 158

65 क्रम सं. 59 एव 60 देखे

66. क्रम सं. 43 देखे

67. क्रम सं. 44 देखें

68. क्रम सं., 48 देखें

69. क्रम सं., 53 देखे

70. क्रम स., 52 देखें

71. अर्थशास्त्र, 2—34

72. इन्व्हेजन ऑफ अलेक्जेन्डर, पृ. 140

73. अथर्व वेद, 9—1

74 जातक, सं. 522

75 महाभारत, आदिपर्व, 133.2—3

76. जातक, 5, पृ. 457, सुतसोम जातक सं. 222

77 मिलिन्द पन्ह, भाग—3, पृ. 133—34

78 ए. इ. जिल्द 13, पृ. 187

79 कादम्बरी, पृ. 149

अर्थशास्त्र 1

79A. रघुवंश, 5.11

दशकुमारचरित, पृ. 21—22

80. ऋग्वेद, 8.91.5—6

81. जातक, 3, पृ. 115; क्रम सं. 43 देखें।

82. क्रम सं. 44 देखें।

83. क्रम सं. 81 देखें।

84. क्रम सं. 44 देखें।

85. जातक, 3, पृ. 115

86. कामसूत्र, 1.3, 1.15

87 क्रम सं. 53 देखें।

88. क्रम स. 52 देखें।

89. जातक सं. 498

90. रामायण, 5.28.6 सीता को भय था कि रावण मुझे मारकर मेरे शव का भेदन उसी प्रकार करेगा जैसे एक शल्यकृन्त गर्भस्थ जन्तु करता है.–
तस्मिन्नागच्छति लोकनाथे गर्भस्थ जन्तोरिव शल्यकृन्त।
नून ममागान्यचिरादनार्यः शस्त्रैः सितैश्छेत्स्वति मान्वेन्द्रः।।
चेतना शून्य करने तथा कीटाणुओं को मारने की विधि के ज्ञान न रहने के कारण शल्यतंत्र की प्रगति अवरूद्ध हो गयी थी। चेतना शून्य करने के लिये शराब दी जाती थी।
भोज प्रबध, पॉचवाँ अध्याय श्लोक 318 के बाद मे चेतना–शून्य करने की एक औषधि का वर्णन आया है, जिसे 'मोहचूर्ण' कहा गया है, किन्तु यह अश्विनों की आश्चर्यजनक क्रियाओ के प्रसग मे वर्णित हुआ है।

90A. लज्जा राम तोमर, भारतीय शिक्षा के मूल तत्व, पृ. 56–57

91 मनु., 3–152

92 बौधा. ध सू. 1.8.9

93 याज्ञ. पर मिता. की टीका, 2–184, मिताक्षरा के उद्धरण से पता चलता है कि 12वीं शताब्दी में आयुर्वेद की शिक्षा 8 वर्ष की नहीं बल्कि 4 वर्ष की होती थी।

94 सूत्र स्थान, 2–5

95 वही

96. सूत्र स्थान, 29–8

97. सूत्र स्थान, 3–52, 10–3

98. सूत्र स्थान, 1–304

99. चरक संहिता, विमान स्थान, 8, 6–8

100. नकवीकृत अरब और भारत संबंध, पृ. 103–23; अलबरूनी भूमिका, पृ. 31सलेहविन बहल तथा दहन (धन्वन्तरि) मनका के दो साथी थे, जो उनके साथ बगदाद गये थे।

101 अथर्व., 2—30—2

101A. प्राचीन भारतीय शिक्षा, आर.के. मुखर्जी, पृ. 196

101B. वही,

101C. मनु., 2.208

102. छां 7.1.2

103 वही, 6.7.2

104 वही, 6.7.4

105 तै. 1 3 2—3

106. वही, 1.2.1

107 वृह. 4.2.2

108. वही, 2.1.20

109. छा 5.24.2

110. प्रश्न 1.1

111 तै 2.6.1

112. प्रश्न 3.2

113. वृह 3.6.1

114. ऋग्वेद, 10.71.11

115 शत. ब्रा., 11.6.31

116. वही, 11.5.3—11

117. वही

118. कामसूत्र, सोशल लाइफ इन एंशिएंट इंडिया, 163—65

119. हर्षचरित, सर्ग—1

120. वही

121. कादम्बरी, पृ. 4

122. हर्षचरित, सर्ग—3

123. हर्षचरित, सर्ग—1, वीर गोष्ठीयु ——।

124. छां. 6.12.1

125. वृह. 2.1.15—16

126 पाणिनीय शिक्षा, 31,

गीती शीघ्री शिरः कपी तथा लिखित पाठक ।

अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः ।।

127 स्मृ. स. में. नारद का वचन, पृ. 52,

द्यूत पुस्तकशुश्रूषा नाटकासक्तिरेव च।

स्त्रियस्तन्द्री च निद्राचविद्याविघ्नकराणिषट्।।

128. सुभा. र. भा., पृ. 168, श्लोक 413

पुस्तकस्था तु या विद्या परहस्तगतं धनम्।

कार्यकाले समुत्पन्ने न साविद्या न तद्धनम्।।

129. इत्सिंग, पृ. 183

130. मिलिन्द पन्ह, प्रथम सर्ग, पृ. 46

131. हर्षचरित 8वॉ सर्ग

132. वी. मि. सं., पृ. 72 पर उद्धृत विष्णुधर्म (जीवनानंद प्रकाशित)

संस्कृतैः प्रकृतैर्वाक्यैर्यः शिष्यमनुरूपतः।

देशभाषाद्युपायैश्च बोधयेत्स गुरू. स्मृतः।।

133 बील कृत जीवनी, पृ. 76, 154, 160

134 इत्सिंग, पृ. 185

135. ऋग्वेद, 10.71

136. अनेक टीकाएँ आचार्य और ब्रह्मचारी के कथोपकथन के रूप मे ही मिलती है। प्रारभ में छात्र अपना मत रखता है, तदुपरान्त आवश्यकतानुसार आचार्य उसका खंडन करता है।

137. जातक, सं. 124

138. मिलिन्द पन्ह, 1, पृ. 18

139. बौधायन ध. सू., 3.77, अप्रतिभायां यावन्त कालं वेद तावन्तं कालं तदध ीयीत्।

140. बैटर्स, 1, पृ. 160

141. आप. ध. सू., 2.7.38, तथा समादिष्टेऽप्यधयापयति। वृद्धत्तरे सब्रह्मचारिणि आचार्यवदवृत्तिः।

142 इत्सिंग, पृ. 177

143. सुतसोम जातक, सं. 537

144. सुख बिहारी जातक, सं 10

145 तैत्तिरीय प्रतिशाख्य 24वॉ अध्याय

146. आ. स. रि, 1903—4, पृ. 246—47, फलक, 66.1

147. ललित, अध्याय, 10

148 स्टार्क, वर्नाक्यूलर एजूकेशन, पृ. 28 48

149 राजतरंगिणी, प्रथम भाग, पृ. 134—199 (अंग्रेजी अनुवाद)

150. ऐ. ब्रा., 2.15; तै. सं., 6.4.3.1

151. विष्णु पु., 3.15.1, 4.4.99

152. महाभाष्य, 2.4.3

153. वही, 1.1.1

154. तै. उप., 1.1.2, 1.4

ऐ. ब्रा., 7.2.7

श. ब्रा., 3.21

154A निरूक्त, 1.18—19

155. ऋग्वेद, 10.71.5, निरूक्त, 1.18

156. हर्षचरित, पृ. 66

157 कृत्यकल्पतरू, ब्रह्मचारी काड, पृ. 257—59

158. वही, गृहस्थकाण्ड, पृ. 252

159. आ., 1, पृ. 4

160. शुक्र, 3.261

160.A मज्झिम निकाय, 2.2.6

161. मज्झिम निकाय, 2, पृ. 103

162. महावग्ग, 1.50

163. मिलिन्द पन्हो, 1.28

164. जातक 1, पृ. 106

165. चुल्लवग्ग, 6.6.4

166 विवाद रत्नाकर मे वृहस्पति का वचन, पृ. 141
विज्ञानमुच्चते शिल्पं हेमकुप्यादिसरिथति। नृत्यादिक च तच्छिक्षन्कुर्यात्कर्म गुरोर्गृहे।। इस श्लोक की टीका करते हुए देवण भट्ट ने लिखा है कि 'ककणाकट, कादिनिर्माण विषयं नृत्यं गीतादिकरण विषयं चकारात्स्तभकुभादिरचनाविषय च विज्ञान शिल्पमुच्यते।

167 नारद स्मृति, शुश्रूषाभ्युपगमप्रकरणम्।
श्लोक सं.— 17, 18, 19, 20, 21, 22

168. याज्ञ. की टीका अपरार्क में कात्यायन का वचन, पृ. 84, यस्तु न ग्राहयेच्छिल्पं कर्माण्यन्यानि कारयेत्। प्राप्नुयात्साहसं पूर्व तत्माच्छिष्यो निवर्त्तते।

169. कुमार स्वामी कृत भारतीय शिल्पी, पृ. 83—90

170. अर्थशास्त्र, 2.11.—13

171. मनु., 9.331—32

172. कौटिल्य, 2.16

173 वशिष्ट की धनुर्वेद सहिता में वर्णित।

174 वीर. मि. सं., पृ. 580 में नारद का वचन।

175. अर्थशास्त्र, 1; कादम्बरी, पृ. 149

176. सुतसोम जातक सं., 222

177. सुश्रुत, सूत्र—स्थान, द्वितीय अध्याय

178. सुश्रुत, सूत्र—स्थान, अध्याय 9

179. सुश्रुत, शरीर स्थान, 5—49

180. चरक, विमानस्थान, 8—4

181. सुश्रुत, सूत्र—स्थान, 4.4.4—8

182. मिलि. पन्ह, 1, पृ. 18

183. बृह. उप., 6.2.1.2

184. द्रा. गृ. सू., 3.1.26
आ. अ. सू., 1, 11.5

185. विमान स्थान, 8

186. काव्य मीमांसा, पृ. 55 श्रूयते च उज्जयिन्या — — — परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः।

187. कामसूत्र, सोशल लाइफ इन एंशिएन्ट इडिया, 163–65

188 शत. ब्रा., 11.6.31

189 वृ. उप , 3.5.1–12

190 श. ब्रा., 11.5.3–11

191 वही

192. ऋग्वेद, 10.71.11

193 क्रम स. 187

194. हर्षचरित सर्ग, 1 समान विद्याविलशील – – – गोष्ठी।

195. वही

196 कादम्बरी, पृ. 4

197 हर्षचरित, सर्ग 3

198. हर्षचरित, सर्ग1, वीर गोष्ठीयु – – – ।

199. वसुकृत बौद्ध विद्यालयों के भारतीय आचार्य

200. वैटर्स, 2, पृ. 165

201. लज्जा राम तोमर, भारतीय शिक्षा के मूल तत्व, पृ. 27

● ● ● ● ●

चतुर्थ अध्याय

शिक्षण केन्द्र एवं संस्थाएँ

'शिक्षा' व्यक्ति को प्रकृति से संस्कृति की ओर ले जाने वाली प्रक्रिया है। आरंभिक शिक्षा औपचारिक न होकर संस्कृति की एक अंतनिर्हित अंग थी। तब शिक्षा आदिम जनों के बीच लोगो के समूह मे रहने, बसने और जीवन जीने की पारस्परिक पद्धति एवं उससे उपलब्ध अनुभवों का सास्कृतिक नाम था। जैसे– जैसे सभ्यता का विकास होता गया, जीवन जटिल से जटिलतर होता गया और जीवन तथा जगत से सम्बन्धित ज्ञान की आवश्यकता और विविधता भी बढती गयी। परिणामतः शिक्षा के अन्तर्गत शिक्षक–शिक्षार्थी, पाठ्यक्रम–प्रविधि, संस्था आदि का सन्निवेश हुआ। डॉ. अल्टेकर के अनुसार, शिक्षा की औपचारिक एवं अनौपचारिक प्रविधि प्रचलित थी। औपचारिक शिक्षा के अन्तर्गत मन्दिरों, आश्रमो एवं गुरूकुलो मे उच्च शिक्षा की व्यवस्था थी, जबकि पिता, पुरोहित, कथावाचक, सन्यासियों के प्रवास, तीर्थयात्रायें, पर्व, त्योहार, मेला आदि अनौपचारिक शिक्षा के सशक्त माध्यम थे।[1]

आरम्भ में पिता ही शिक्षक की भूमिका का निर्वहन करते थे और परिवार पाठशाला होती थी। अनेक भाष्यकारों ने पिता को शिक्षक के रूप में स्वीकार किया है।[2] धर्म सूत्रों मे माता को श्रेष्ठ गुरू कहा गया है,[3] किन्तु, विकास के क्रम में शिक्षा का स्वरूप एवं क्षेत्र विस्तृत होता गया। सामान्य अध्ययन की जगह विशेषाध्ययन की प्रवृत्ति विकसित हुई। विषय विशेषज्ञ अवतरित हुए तथा सम्बन्धित ज्ञान को वितरित करने के उद्देश्य से निजी पाठशालाएँ स्थापित होने लगी। कालान्तर में ऐसी ही पाठशालाएं गुरुकुलों के रूप में अपनी पहचान बनाईं। कतिपय शिक्षणशालायें बडे शिक्षण–संस्थान के रूप में स्थापित एवं विकसित हुए। तक्षशिला और काशी जैसी संस्थाएँ इसी प्रकार की थी। बौद्ध धर्म के विकासोपरान्त संघाराम, मठ एवं विहार बौद्ध शिक्षा के महत्वपूर्ण केन्द्र बने। कालान्तर में कई मठ एवं विहार बड़े संस्थान के रूप

मे स्थापित हुए। बौद्धों से प्रभावित होकर दक्षिण भारतीय ब्राह्मणों ने भी अपने मन्दिरो मे शिक्षण कार्य प्रारम्भ किया। इस प्रकार दक्षिण भारतीय मंदिर भी शिक्षा के प्रमुख केन्द्र बने। यद्यपि बडे शिक्षण–सस्थान कतिपय प्रसिद्ध क्षेत्रों तक ही सीमित थे, जहॉ धर्म, दर्शन एव आध्यात्म के अतिरिक्त अन्य विषयों की उच्च शिक्षा दी जाती थी, जबकि शेष क्षेत्रो में शिक्षा वितरित करने का कार्य वे ही शिक्षक करते रहे, जो स्वेच्छा से अध्यापन कार्य करते आ रहे थे। इस कार्य मे तत्कालीन पुरोहित वर्ग वर्ग भी सम्मिलित था। इस प्रकार व्यक्तिगत पाठशाला चलाकर शिक्षा को प्रोत्साहित करने वाले शिक्षक सदैव उसके प्रहरी बने रहे। ये शिक्षक प्रारम्भिक शिक्षा के साथ–साथ विभिन्न शिल्पों, ललितकलाओं एव अन्य उपयोगी विषयो की शिक्षा प्रदान करते थे।

वेदों के अनुयायियों ने प्रारम्भ में परिषद्, शाखा और चरण जैसे कई संघ बना लिये थे, लेकिन उन्होंने कोई ऐसी संस्था नहीं स्थापित की थी, जो अपनी भावी संतति को समस्त विषयो की सम्यक् शिक्षा प्रदान कर सके। चूँकि, प्राचीन शिक्षा का तात्पर्य वैदिक ज्ञान से था, अतः तत्कालीन शिक्षा वैदिक धर्म, दर्शन एवं अध्यात्म पर ज्यादा केन्द्रित रही। वेदों का अध्ययन–अध्यापन, आध्यात्मिक चिंतन एवं मनन ब्राह्मणों का धर्म माना गया था। अतः प्रारम्भ में प्रत्येक ब्राह्मण स्वय में एक संस्था था, उसका व्यक्तिगत प्रयास ही शिक्षा के उत्थान में सहायक बनता था। यद्यपि, तक्षशिला और काशी जैसे प्रमुख नगर प्रसिद्ध शिक्षण केन्द्र के रूप में स्थापित होने लगे थे, जहॉ विद्वान ब्राह्मण स्वेच्छा से शिक्षण कार्य करते थे तथा शिक्षार्थियों की संख्या अधिक होने पर वे ज्येष्ठ शिष्यों की मदद से अपने शैक्षिक दायित्वों का निवर्हन करते थे।[3A] किन्तु, वर्तमान की भाँति किसी स्वतंत्र संस्था का उल्लेख नहीं मिलता। प्राचीन एथेन्स मे भी शिक्षा वितरण का कार्य विद्वत जन स्वेच्छा से ही करते थे। दृष्टव्य है कि यूरोप में सार्वजनिक शिक्षण–संस्थाओं के जन्मदाता चार्लमेन था।[4]

भारत में सार्वजनिक शिक्षण–संस्थाओं को स्थापित एवं विकसित करने का श्रेय बौद्धों को जाता है। बुद्ध ने सभी उपासको के लिये शिक्षा को

अनिवार्य बताया था। जिज्ञासु भिक्षुओं को व्यवहारिक ज्ञान के साथ–साथ आध्यात्मिक चिंतन एवं मनन कराया जाता था। इस प्रकार प्रारभिक बौद्ध शिक्षण केन्द्र महज आध्यात्मिक चिंतन–मनन के लिए प्रसिद्ध थे। किन्तु, कालान्तर में वे बडे शिक्षण संस्थान के रूप मे स्थापित हुए। प्रारम्भ मे ये गुरूकुलो के प्रतिरूप थे, जहॉ आचार्य एक कुल की जगह पूरे विहार का प्रधान होता था। प्रारंभिक बौद्ध मठ एव विहार जिज्ञासु भिक्षुओं को धर्म, दर्शन एव आध्यात्म की शिक्षा वितरित करते थे, किन्तु आगे चलकर जनसाधारण वर्ग भी बौद्ध शिक्षा की ओर उन्मुख हुआ और शैक्षिक पाठ्यक्रमों का फलक विस्तृत होता गया। बौद्धों से प्रेरणा प्राप्त कर ब्राह्मणो ने भी देवालयीय शिक्षा की परम्परा प्रारम्भ की। इस प्रकार परिवार, गुरूकुल, देवालय, संघाराम, मठ एवं विहार आदि आलोच्यकालीन शिक्षा के प्रमुख केन्द्र रहे, जो विकास के क्रम में बडे शिक्षण–संस्थाओ के रूप में स्थापित हुए। लज्जाराम तोमर के अनुसार, देशभर में विभिन्न शिक्षण–संस्थाओं एव विद्यापीठों का विकास हुआ, जो गुरूकुलीय आश्रम, ऋषिकुल, आचार्य–कुल, तक्षशिला, नालन्दा, वलभी आदि रूप में वर्णित है।[4A] इन संस्थाओं को दो वर्गो में विभक्त करना समीचीन होगा– 'ब्राह्मण शिक्षण केन्द्र एवं सस्थाएँ' तथा 'बौद्ध शिक्षण केन्द्र एवं संस्थाएँ'।

ब्राह्मण शिक्षण संस्थाएँ

प्रारंभ में प्रत्येक अध्यापक स्वयं में एक संस्था था और उनका व्यक्तिगत प्रयास शिक्षा के उत्थान में सहायक बनता था। अतः प्रारंभ में किसी बड़े शिक्षण–संस्थान का उल्लेख नही मिलता। व्यक्तिगत प्रयास से चलने वाले विद्यालय सम्पूर्ण भारत में फैले हुए थे, जो प्रसिद्ध तीर्थ स्थल या धार्मिक केन्द्र होते थे। किन्तु, कालान्तर में शिक्षा का क्षेत्र एवं उसका फलक विस्तृत होने के कारण शासकं एवं कुलीन वर्ग के सहयोग से प्रमुख नगर और

कतिपय गांव शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र के रूप मे विकसित हुए। तक्षशिला, कन्नौज, मिथिला, धारा, काशी, अनहिलपाटन, काची, मालखेड, कल्याणी, नासिक, तंजौर और कर्नाटक जैसे स्थल प्रसिद्ध शिक्षण केन्द्र के रूप में स्थापित हुए। कभी–कभी शासक या कुलीन वर्ग के सम्भ्रांत व्यक्ति प्रसिद्ध विद्वानों को आमंत्रित कर और उनकी जीविका का समुचित प्रबंध कर किसी गांव मे बसा देते थे, जिनका प्रमुख कर्त्तव्य लोगों को शिक्षा प्रदान करना होता था। इस प्रकार के ग्राम "अग्रहार ग्राम" कहलाये।

व्यवस्थित–शिक्षण संस्थाओ के अन्तर्गत सर्वप्रथम "गुरुकुलीय शिक्षा प्रणाली" का उल्लेख मिलता है। वैदिक काल में आचार्य–कुल ही व्यवस्थित शिक्षा के प्रधान केन्द्र होते थे, जहां जिज्ञाषु शिक्षार्थी गुरु सेवा में दत्तचित् होकर अभीष्ट विषयो की शिक्षा प्राप्त करते थे। महाकाव्य साहित्य से ज्ञात होता है कि जिज्ञासु शिक्षार्थी महान ऋषियों के सन्निध्य मे रहकर विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करते थे। उपनयन सस्कार के उपरान्त वे आचार्य कुल में निवास कर विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करते थे।[5] छान्दोग्य उपनिषद से विदित होता है उद्दालक आरूणि के पुत्र श्वेत केतु ने 12 वर्ष की अवस्था मे गुरूकुल मे निवास कर सदाचरण और सद्वृत्ति के साथ कई अभीष्ट विषयों की शिक्षा प्राप्त की थी।[6] पारस्कर और आश्वलायन गृह्यसूत्र से भी आचार्य कुल मे निवास कर शिक्षा प्राप्त करने की पुष्टि होती है।[6A]

उपनिषद् साहित्य मे "गुरुकुल" के स्थान पर "आचार्य कुल" का प्रयोग मिलता है। "कुल" एक सार्थक और सारगर्भित शब्द है, जिससे एक परम्परा का बोध होता है। कालांतर में गुरुकुल के दो प्रकार विकसित हुए, एक गृहस्थ गुरु आश्रम एवं दूसरा वानप्रस्थ प्रव्रजित–आश्रम। 'छान्दोग्यपनिषद' में इसके लिए "आचार्य–कुलवासी" "अन्तेवासी" जैसे शब्दों के साथ–साथ 'ब्रह्मचर्यवास' का भी उल्लेख हुआ है।[7]

महाकाव्य साहित्य में भी गुरुकुलों का दृष्टान्त मिलता है, जो शिक्षा के विख्यात अधिष्ठान थे। कृष्ण और बलराम ने सन्दीपनि मुनि के आश्रम में

शिक्षा प्राप्त की थी।[8] कच ने शुक्राचार्य के कुल में विद्या ग्रहण किया था।[9] भारद्वाज और वाल्मीकि के आश्रम उच्चकोटि के गुरुकुल थे।[10] प्रयाग के संगम तट पर महर्षि भारद्वाज का आश्रम था, जहॉ छात्रों द्वारा वेदपाठ होता था। वहॉ अध्ययन–अध्यापन और आवास हेतु विभिन्न वर्णशालाओं का निर्माण किया गया था। वेद पाठ के साथ–साथ हवन–पूजन भी सम्पादित होता था। चित्रकूट के मंदाकिनी नदी क़े तटपर महर्षि वाल्मीकि का आश्रम था, जहॉ अध्ययन के लिए इच्छुक छात्र सुदूरवर्ती क्षेत्रों से आकर निवास करते थे, तथा विभिन्न विषयो की शिक्षा प्राप्त करते थे। ऐसा उल्लेख मिलता है कि महर्षि वशिष्ठ के आश्रम मे नवागंतुक छात्रों को विभिन्न विषयों की शिक्षा प्रदान की जाती थी। महर्षि आगस्त्स्य का आश्रम दंडकारण्य में स्थित था, जहॉ उनके छात्र यज्ञीय कार्य सम्पन्न करने के साथ विभिन्न विषयों के अध्ययन में संलग्न रहते थे। महाभारत में वर्णित है कि मार्कण्डेय और कण्व ऋषि के आश्रम शिक्षा के प्रधान केन्द्र थे,[11] जहाँ विभिन्न विषयों की शिक्षा दी जाती थी। इन आचार्यो के शिक्षामंडलों में बहुसंख्यक छात्र शिक्षा प्राप्त करते थे। मालिनी नदी के तट पर स्थित महर्षि कण्व के आश्रम में विभिन्न विषयों और दार्शनिक विचारों पर छात्रों को आख्यान दिये जाते थे। महार्षि व्यास का आश्रम हिमालय पर्वत पर स्थित था, जिनके निर्देशन में सुमन्तु वैश्म्पायन और जैमिनि जैसे विद्वान वैदिक साहित्य में पारंगत हुए थे। महर्षि शौनक का आश्रम नैमिषारण्य में अवस्थित था, जहॉ ब्रह्मचारियों का अध्ययन 12 वर्षो तक चलता था। उन्हें विभिन्न विषयो और दर्शन शास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। हरिद्वार में महर्षि भारद्वाज का आश्रम था, जहा आगन्तुक ब्रह्मचारियो को वेद–वेदांगों और अस्त्र–शस्त्रो की शिक्षा दी जाती थी। इसी आश्रम में महाराज द्रुपद और गुरू द्रोणाचार्य ने साथ–साथ शिक्षा प्राप्त की थी। महेन्द्र पर्वत पर महर्षि परशुराम ऋषि का आश्रम था, जहाँ आगन्तुक ब्रह्मचारियों को अन्य विषयों के अतिरिक्त युद्ध कौशल का भी ज्ञान कराया जाता था। ऐसा उल्लेख मिलता है कि दुर्वासा ऋषि जब कुरू नरेश से मिलने गये थे, तब उनके साथ 10 हजार शिष्य थे। नि:सन्देह यह ऋषि की विद्वता और लोकप्रियता का परिचायक था। महान

विद्वान सत्यकाम जाबाल के आश्रम मे उपकोसल कामलायन ने शिक्षार्थी के रूप मे 12 वर्ष तक ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए निरन्तर अपने आचार्य की अग्नि परिचर्या की थी।[12] तत्कालीन समय मे आचार्य कुल की अग्नि परिचर्या धार्मिक कृत्य के रूप मे स्वीकृत था, जिसे शिष्यगण को सम्पन्न करना पडता था। सत्यकाम जाबाल स्वय आचार्य हरिद्रुमत गौतम के कुल में अन्तेवासी बनकर ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से गया था[13] और विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करते हुए आचार्य की आज्ञा का नतमस्तक होकर अक्षरश. पालन किया था।[14] इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में शैक्षिक दृष्टि से गुरुकुलो की महत्ता थी, जहॉ द्विज वर्ण के जिज्ञासु छात्र शिक्षा प्राप्ति के उद्देश्य से जाते थे। स्मृतियों में भी गुरुकुलो में निवासकर विद्या–प्राप्ति का उल्लेख मिलता है।[15] विद्यार्थी का गुरुकुलो में प्रवेश करना उसके द्वितीय जन्म के समान था,[16] जो उसके जीवन की गौरवमयी घटना माना जाता था।

चन्द्रगुप्त मौर्य ने तक्षशिला मे चाणक्य के सान्निध्य में रहकर शिक्षा ग्रहण की थी। बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि उस समय भी जिज्ञासु छात्र गुरुकुलों में निवासकर शिक्षा प्राप्त करते थे।[17] चम्पा निवासी दिशाप्रमुख के आश्रम में 500 विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे। कोशल के सुनेत्त ओर सेल उस समय के विख्यात आचार्य थे।[18] मिथिला का ब्रह्मायु ब्राह्मण अनेकानेक शिष्यों का आचार्य था, जिसके अन्तेवासी उच्च कोटि के विद्वान थे।[19]

गुप्त काल में भी गुरुकुलीय शिक्षा निर्बाध रूप से चलती रही। ब्राह्मण आचार्यो के निवास विद्यार्जन के प्रधान केन्द्र थे। गुप्त अभिलेखों से विदित होता है कि आचार्यो को ग्राम दान में दिये जाते थे। आचार्य देव शर्मा को ब्रह्मपूरक ग्राम दान में दिया गया था।[20] कालिदास के ग्रंथों में अनेक ऐसे आश्रमों का उल्लेख मिलता है, जहाँ बौद्धिक उत्कर्ष के निमित्त जिज्ञासु छात्र जाते थे और वे विभिन्न विषयों में पारंगत होते थे। बाण ने हर्ष चरित में लिखा है कि वह विद्या प्राप्ति के निमित्त अनेक वर्षो तक गुरु के आश्रम में रहा था। ग्यारहवीं शताब्दी का लेखक अलबरूनी ने भी गुरुकुलीय शिक्षा का उल्लेख

किया है, जहाँ जिज्ञासु छात्र दिन–रात गुरू सेवा मे तल्लीन रहकर विद्या–प्राप्त करते थे।[21] इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में गुरुकुलीय शिक्षा की परम्परा सर्वथा बनी रही। जहाँ जिज्ञासु छात्रों को अपेक्षित विषयों की समुचित शिक्षा दी जाती थी।

विकास के क्रम में गुरूकुलो के अतिरिक्त कतिपय नगर भी प्रमुख शिक्षण केन्द्र के रूप में विकसित होते जा रहे थे, जिनका आलोचनात्मक विवेचन आवश्यक है–

तक्षशिला

रावलपिंडी से पश्चिम में लगभग 20 मील की दूरी पर स्थित, गांधार प्रांत की राजधानी, तक्षशिला शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र था। भरत ने इसकी स्थापना की थी और उसका पुत्र तक्ष यहाँ का शासक था।[22] भरतवंशी तक्ष के नाम पर ही इसका नाम तक्षशिला पडा था। महाभारत से विदित होता है कि जनमेजय ने अपना नागयज्ञ यहीं सम्पन्न किया था।[23] ईसा पूर्व 7वी शताब्दी तक यह नगर शिक्षा का एक महत्वपूर्ण केन्द्र बन चुका था। सिकन्दर के समय में यह अपने दार्शनिक विद्वानों के लिये विख्यात था। काशी, कोशल, मिथिला, राजगृह, पाटलिपुत्र, वाराणसी, और उज्जयिनी जैसे सुदूरवर्ती क्षेत्रों के ब्रह्मचारी यहाँ की शैक्षिक महत्ता से आकर्षित होकर विद्या ग्रहण करने के उद्देश्य से आते थे।[24] जातक साहित्य से विदित होता है कि देश के विभिन्न क्षेत्रों से ज्ञानाभिलाषी छात्र यहां आकर आचार्यो के सान्निध्य में रहकर विभिन्न वेद, वेदांग, दर्शन एवं 18 शिल्पों की शिक्षा प्राप्त करते थे।[25] पाटलिपुत्र निवासी 'जीवक' जो तक्षशिला का शिक्षार्थी था, कालान्तर में आयुर्वेद का एक महान विद्वान बना था। वह बुद्ध का समकालिक था। कोशल नरेश प्रसेनजित, मौर्य नरेश चन्द्रगुप्त, महान अर्थशास्त्री कौटिल्य, वैयाकरणाचार्य पाणिनि और पतंजलि जैसे विद्वान यहां से शिक्षा प्राप्त कर अपने अपने क्षेत्र में ख्यातिलब्ध हुए थे।

महाभारत से विदित होता है उपमन्यु आरूणि और वेद व्यास ने भी यहीं से ही शिक्षा प्राप्त की थी। कोशल से बहुतेरे शिक्षार्थी यहा आकर अनेकानेक विषयों में पारगत होते थे।[26]

यद्यपि वर्तमान की भाति वहॉ कोई कालेज या विश्वविद्यालय नहीं था, तथापि अनेक ऐसे लब्धप्रतिष्ठित आचार्य थे, जिनके चरणों मे बैठकर अध्ययन के उद्देश्य से देश के कोने–कोने से सैकड़ों शिक्षार्थी आते थे। आचार्य उच्च कक्षाओं के अपने विद्वान शिष्यों की सहायता से संस्था का कार्य सम्पादित करते थे। जातक काल में यहां नैष्ठिक ब्रह्मचारियों की सख्या अधिक थी, जो वेदों और शिल्पों मे पारंगत होकर एकांत जीवन व्यतीत करते थे तथा उनके साथ उनके शिष्य भी निवास करते थे। जातक साहित्य से विदित होता है कि यहां एक आचार्य के निर्देशन में पांच पांच सौ छात्र शिक्षा प्राप्त करते थे।[27] लेकिन साधारणतया एक आचार्य के निर्देशन में 20 से अधिक ब्रह्मचारी नहीं होते थे। पाठ्यक्रमों का स्वरूप निर्धारित था। छात्र अपनी इच्छानुसार विषयों का चयन कर सकते थे। आचार्य अपनी सुविधानुसार शिष्यो की संख्या स्वीकार करता था तथा उन्हीं विषयों का वह अध्यापन करता था, जिनकी कामना शिष्य करते थे। शिक्षा की प्राप्ति स्वान्तः सुखाय के लिये की जाती थी जिसका प्रधान उद्देश्य ज्ञान की प्राप्ति होता था। सुत्तसोम जातक से ज्ञात होता है एक आचार्य से 103 ब्रह्मचारी धनुर्वेद की शिक्षा ग्रहण करते थे।[28] इससे स्पष्ट होता है कि ऐसे भी आचार्य थे, जो सैकडों शिक्षार्थियों को शिक्षा प्रदान करते थे।

उच्च शिक्षा के उद्देश्य से ही सुदूरवर्ती छात्र तक्षशिला आते थे, अतः संस्थाओं मे प्रविष्टि के समय प्राय. वे 16 वर्ष के होते थे। चूंकि, आलोच्य काल में गुरु के निर्देशन में ही शिक्षा प्राप्त करने की परम्परा थी। अतः वे साधारणतया आचार्य कुल में ही निवास करते थे तथा आचार्य उनके लिये भोजन और आवास की व्यवस्था सुनिश्चित करते थे।[29] साधारणतया एक अध्यापक के पास 15–20 से अधिक छात्र नहीं होते थे, अतः उनके भोजन

और आवास की व्यवस्था करना आसान होता था। लेकिन, जब सार्वजनिक पाठशालाओं का जन्म हुआ, तब उन पाठशालाओ के साथ उनमें छात्रावास भी बनने लगे। प्रायः सम्पन्न घरों के ब्रह्मचारी अपने भोजन और आवास का व्यय चुका देते थे। जातक साहित्य से विदित होता है कि राजकुमार जुन्ह ने अपने निवास हेतु स्वतंत्र आवास की व्यवस्था किया था।[30] निर्धन ब्रह्मचारी, जो शुल्क देने में असमर्थ होते थे, दिन मे आचार्य के गृहस्थी में सहयोग प्रदान कर रात्रि में अपना अध्ययन कार्य सम्पन्न करते थे। कुलीन और निर्धन छात्र दोनो समान रूप मे शिक्षा प्राप्त करते थे[31] तथा धनी छात्र शुल्क द्वारा, जबकि निर्धन छात्र श्रम द्वारा गुरु दक्षिणा चुकाते थे।[32] ऐसा उल्लेख मिलता है कि धनी छात्रो द्वारा एक सहस्र कर्षापण गुरु दक्षिणा मे अर्पित किया जाता था।[33] द्विज वर्ण के सभी जिज्ञासु शिक्षार्थी बिना किसी भेद के समान रूप में शिक्षा प्राप्त करते थे। विषयो के चयन मे वर्ण सम्बन्धी बाध्यता नही थी। जातक साहित्य से ज्ञात होता है कि एक ब्राह्मण राजपुरोहित ने अपने पुत्र को धनुर्विद्या की शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से तक्षशिला भेजा था।[34] दर्जी और मछुआरे जैसी निम्न जाति के ब्रह्मचारी भी विद्या ग्रहण करने के उद्देश्य से तक्षशिला जाते थे।[35] निश्चय ही यह तत्कालीन जाति व्यवस्था के लचीलेपन को रेखांकित करता है। योग्य और मेधावी छात्रो को राजकीय सहायता पर शिक्षा के निमित्त भेजने का विधान मिलता है। वाराणसी और राजगृह के राजकुमारों और राजपुरोहित पुत्रों के साथ निर्धन, किन्तु योग्य और मेधावी छात्रों के जाने का उल्लेख मिलता है।[36]

काशी

विद्या और ज्ञान के क्षेत्र में काशी का महत्व वैदिक काल से है जो उपनिषद् काल मे एक प्रतिष्ठित शिक्षण संस्था के रूप में स्थापित हुआ। काशी नरेश अजातशत्रु अपनी ज्ञान–गरिमा, प्रतिभा और विद्वता के लिए देश–विदेश

में ख्यात था। उससे शिक्षा प्राप्त करने के लिए देश विदेश के शिक्षार्थी काशी आते थे। लेकिन सुदीर्घ काल तक तक्षशिला की ही महत्ता व प्रतिष्ठा बनी रही। स्वयं वाराणसी के शासक अपने पुत्रों को उच्च शिक्षा के लिए तक्षशिला भेजते थे। काशी के अनेक आचार्य भी तक्षशिला के ही स्नातक थे।[37] किन्तु कालान्तर में ज्ञान गरिमा की दृष्टि से काशी की भी प्रतिष्ठा स्थापित हुई और देश–देशान्तर के ज्ञानाभिलाषी छात्र वहॉ आकर शिक्षा प्राप्त करने लगे। कोसिय और तित्तरि जातक से ज्ञात होता है कि काशी के यशस्वी आचार्य तीनो वेद, वेदांगो, दर्शन और 18 शिल्पो का अध्यापन कार्य करते थे। अंकित्त जातक से ज्ञात होता है कि अध्ययनरत शिक्षार्थियो की आयु 16 वर्ष होती थी। इससे स्पष्ट होता है कि काशी उच्च शिक्षा के केन्द्र के रूप में विकसित था। एक शिक्षण केन्द्र के रूप में काशी का निरंतर विकास तक्षशिला के ह्रास को रेखाकित करता है। संभवतः इसके पीछे तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियॉ जिम्मेदार रही।

23वें जैन तीर्थकर पार्श्वनाथ, जो काशी नरेश अश्वसेन के पुत्र थे, काशी में ही सर्वप्रथम जैन–धर्म की आचार संहिता निर्मित की थी। अतएव, यह जैन शिक्षा का भी एक प्रधान केन्द्र था।

काशी की महत्ता के कारण बुद्ध ने भी अपना सर्वप्रथम उपदेश, जिसे हम ''धर्म चक्र परिवर्तन'' के नाम से जानते हैं, काशी में ही दिया था और यहीं से उन्होंने अपने सिद्धांतों का प्रचार प्रारभ किया था। ऐसा संभवतः इसलिए हुआ, जिससे उनके सिद्धान्तों का प्रभाव काशी के विद्वानों पर पड़ सके। मौर्य शासक अशोक ने यहां पर अनेक बौद्ध मठों और विहारों का निर्माण करवाया था। 7वी शताब्दी में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने, यहां के विहारों, स्तूपों चैत्यों और भवनों को देखा था। उसके अनुसार, यहां अनेक बहुमंजिलें इमारतें थीं, जो अत्यन्त आकर्षक एवं ह्रदय को मोहित करनेवाले थे।[38] भविष्य पुराण में भविष्यवाणी की गई है कि काशी पाण्डित्य का एक प्रसिद्ध केन्द्र होगा।[39] इस

प्रकार हम देखते है कि काशी ब्राह्मण शिक्षा, बौद्ध शिक्षा, एव जैन शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र था। कश्मीरी कवि 'श्री हर्ष' ने "नैषध चरित" की रचना काशी स्थित एक आवास में ही की थी।

काश्मीर

यह भी प्राचीन भारत में शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र था।[40] धार्मिक दृष्टि से यह शैव एवं बौद्ध मत का एक महत्वपूर्ण केंद्र था। सम्राट कनिष्क ने प्रथम शताब्दी ईस्वी में चौथी बौद्ध संगीति का आयोजन यहाँ करवाया था। साक्ष्यों से विदित होता है कि साहित्य दर्शन, न्याय, ज्योतिष और इतिहास आदि के प्रतिभा–सम्पन्न विद्वान यहाँ हुए थे, जिन्होंने साहित्य और संस्कृत के अनेक महत्वूपर्ण ग्रन्थो की रचना भी की थी। रत्नाकर रचित हरिविजय, शिवस्वामी रचित शिवांक, क्षेमेन्द्र रचित वृहत् कथामंजरी, रामायण मंजरी, भारत मजरी, बोधिसत्वावदान, क्षेमेन्द्र पुत्र रचित चारूचर्या, नीतिकल्पतरू, मंखक रचित श्री कंठचरित, कल्हण रचित राजतरंगिणी इत्यादि उल्लेखनीय है। यह निश्चित रूप से कश्मीर के शैक्षिक महत्व को प्रमाणित करता है।

कांची

दक्षिण भारत मे पल्लव शासकों के सहयोग से कांची एक महान शिक्षा केन्द्र के रूप में विकसित हुआ था। समुद्रगुप्त के शासन काल में इसकी प्रतिष्ठा थी। कालान्तर में यह दक्षिण भारत के एक शक्तिशाली नगर के रूप में स्थापित हुआ, जहाँ अनेक आचार्य वैदिक साहित्य का अध्यापन कार्य करते थे। विभिन्न क्षेत्रों के शिक्षार्थी, यहाँ शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से आते थे। दण्डिन, शूद्रक, भारवि, मयूरवर्मन, वात्स्यायन और दिंगनाथ आदि ऐसे विद्वान थे, जो यहाँ रहकर शिक्षा प्राप्त किये थे। इन विद्वानों को देखते हुए स्पष्ट है

कि यह दक्षिण भारत का एक महत्वपूर्ण शिक्षा केन्द्र था, जहाँ संस्कृत भाषा और वैदिक साहित्य की शिक्षा दी जाती थी।

अन्य शिक्षण केन्द्रों में धारा, कन्नौज, उज्जयिनी, अनहिलपाटन आदि उल्लेखनीय है, जहाँ प्राचीन शिक्षा पद्धति के अनन्तर शिक्षा वितरित की जाती थी। ये संस्थाएं सम्भवतः 5वी– छठी शताब्दी के उपरान्त अस्तित्व में आयी थी।

शिक्षा केन्द्र के रूप में देवालय

बौद्ध विहारों की भांति मंदिरों में भी शिक्षण–कार्य की जानकारी प्राप्त होती है। प्रारम्भ मे शिक्षा देने का कार्य पुरोहित अपने घरो पर करते थे, किन्तु देवालयों की स्थापना के उपरान्त यह कार्य देवालयो में भी होने लगा, लेकिन साक्ष्यों के अभाव मे इसकी विस्तृत जानकारी नही हो पाती।

दक्षिण–भारतीय प्रालेखों से ज्ञात होता है कि वहां के देवालयों में बहुत–सी पाठशालाएँ चलती थीं, जिनका प्रबंध ग्राम–सभा की देवालय उप–समिति करती थी। दान में मिली सम्पत्ति का प्रबंध तथा पाठशालाओं में अध्यापकों की नियुक्ति सम्बन्धी कार्य उप–समिति ही करती थी। कौन सा विषय पढ़ाया जाय, किस विषय में कितने विद्यार्थी रखे जायें आदि प्रश्नों का निर्णय प्रधान आचार्य के परामर्श से उप–समिति करती थी। जबकि, पाठशाला का आन्तरिक प्रबंधन का उत्तरदायित्व प्रधान आचार्य पर होता था। छात्रावासों का निरीक्षण, उनमें शिक्षार्थियों का प्रवेश, भोजनालयों में भृत्यों की नियुक्ति तथा उनके लिये रसद आदि का प्रबंध आचार्य ही करता था। कतिपय पाठशालाओं मे चिकित्सालय भी होते थे। अध्यापकों में पाठ्य–विषयों का विभाजन, ग्रंथकारों का निरीक्षण, संस्था में अनुशासन आदि के लिये प्रधान आचार्य ही उत्तरदायी होते थे। मंदिरों के अन्तर्गत चलने वाले शिक्षण कार्य से संबंधित भवन उसके आस–पास ही होते थे। खुले मौसम में वृक्षों के नीचे भी अध्ययन अध्यापन चलने का उल्लेख मिलता है।

बीजापुर स्थित सालोत्गी देवालय विद्यापीठ

इसका निर्माण राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय के मंत्री नारायण ने करवाया था। सस्कृत का यह विद्यापीठ शिक्षार्थियो के भोजन और आवास की नि शुल्क व्यवस्था करता था। इस कार्य के लिए 500 निवर्त्तन भूमि दान में प्राप्त था। प्राचार्य के वेतन के लिये भी 50 निवर्त्तन भूमि दानस्वरूप मिला था। इस सस्था के लाभ से प्रभावित होकर लगभग प्रत्येक ग्रामवासियों ने विवाह के अवसर पर 5 रु., उपनयन के समय 2 रु एव मुडन के समय 1 रु. देने का निश्चय किया था। इसके अतिरिक्त अन्य विभिन्न समारोहो पर अधिकाधिक छात्रो और अध्यापकों को भोजन कराये जाने का उल्लेख मिलता हैं। कुछ धनी व्यक्तियो द्वारा ऐसी विधियॉ स्थापित कर दी गई थी, जिनके ब्याज से विद्यार्थियों के लिये दीप की व्यवस्था सुनिश्चित की जाती थी। इस प्रकार यह संस्था सुचारू रूप से चलती थी।

दक्षिणी अरकाट जिले में स्थिति एन्नारियम् देवालय विद्यापीठ में लगभग 16 अध्यापक निर्धारित पाठ्यक्रम के अनन्तर अध्यापन कार्य करते थे। इस विद्यापीठ को सुचारू रूप से चलाने के लिए स्थानीय ग्राम सभा ने 300 एकड भूमि दान मे दी थी। इस प्रकार यह संस्था लगभग 340 विद्यार्थियों को नि.शुल्क शिक्षा, भोजन और आवास की व्यवस्था सुनिश्चित करती थी। विभिन्न विषयों के लिये शिक्षार्थियों की संख्या निर्धारित थी। ऋग्वेद और कृष्ण यजुर्वेद में प्रत्येक के 75, सामवेद के 40, शुक्ल यजुर्वेद के 20, अथर्ववेद, बौधायन धर्मसूत्र और वेदान्त में प्रत्येक के 10, व्याकरण के 25, मीमांसा के 35 तथा रूपावतार के 40 विद्यार्थी यहॉ अध्ययन करते थे।

चिंगलपट जिले में स्थित तिरिमुक्कुदल देवालय विद्यापीठ,[41] जिसके तत्वावधान में एक विद्यापीठ, एक शिक्षार्थी शाला और एक चिकित्सालय चलते थे। यहॉ 60 विद्यार्थिंयों के लिये शिक्षा, भोजन और आवास की व्यवस्था सुनिश्चित थी।

चिंगलपट जिले मे ही स्थित तिरूवोर्रियूर देवालय विद्यापीठ[42], 13वी शताब्दी मे व्याकरणिक शिक्षा के लिये प्रसिद्ध था, जो एक स्थानीय शिवालय के बगल में स्थित, विशाल भवन मे चलता था। यहाँ अध्ययनरत लगभग 340 शिक्षार्थियो के भोजन–अच्छादन के लिये 400 एकड भूमि दान में प्राप्त थीं, अध्यापकों की संख्या लगभग 15–20 के आस–पास रही होगी।

मुल्कापुरम के एक लेख से देवालय विद्यापीठ, विद्यार्थी शाला और चिकित्सालय की जानकारी प्राप्त होती है।[43] यहाँ के 8 अध्यापको में से 3 वैदिक साहित्य की तथा शेष 5 व्याकरण, साहित्य, न्याय और आगम साहित्य का अध्यापन कार्य करते थे। चिकित्सालय[44] का प्रधान एक चिकित्सक होता था। चूंकि, अन्य विद्यापीठों मे औसतन एक अध्यापक से लगभग 20 शिक्षार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे, अत: यहाँ भी लगभग 150 शिक्षार्थी अध्ययन कार्य करते रहे होंगे। अन्य विद्यापीठों की भाँति यहाँ भी शिक्षा के अतिरिक्त भोजन, आवास और चिकित्सकीय व्यवस्था निःशुल्क उपलब्ध करायी जाती थी।

इस प्रकार दक्षिण भारत में देवालय विद्यापीठ महत्वपूर्ण शिक्षण केन्द्र के रूप में स्थापित थे। अन्य विद्यापीठो में धारवाड जिले में स्थित भुजबेश्वर मंदिर, जो एक मठ था, जिसे दो सौ एकड़ भूमि दान मे मिली थी। यहाँ लगभग 200 विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे।[45] उन्हे शिक्षा के साथ–साथ निःशुल्क भोजन और आवास भी उपलब्ध करायी जाती थी। हैदराबाद स्थित नगई नामक स्थान पर एक संस्कृत विद्यापीठ का उल्लेख मिलता है, जहां 550 विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे। 200 विद्यार्थियों को वैदिक साहित्य, 200 को स्मृति साहित्य, 100 को महाकाव्य एवं 50 को दर्शन की शिक्षा दी जाती थी। "पुस्तकालयाध्यक्ष का उल्लेख मिलना, यहाँ स्थापित पुस्तकालय की विशालता एवं उसके शैक्षिक माहौल को रेखांकित करता है।[46] बीजापुर स्थित एक देवालय को शिक्षा–दीक्षा एवं भोजन अच्छादन के प्रबंध हेतु 1,200 एकड़ भूमि दान में प्राप्त होने का उल्लेख मिलता है।[47] इसी जिले में भनगोली नामक

स्थान के एक मंदिर के पंडित द्वारा व्याकरण के अध्यापन का उल्लेख मिलता है, जिसे 20 एकड भूमि दान मे मिली थी।[48] कर्नाटक स्थित बेलंगवे के दक्षिणेश्वर मंदिर की ओर से एक निःशुल्क विद्यालय चलाये जाने का उल्लेख मिलता है।[49] शिमोगा स्थित तालगुण्ड के पाणेश्वर देवालय की ओर से भी एक पाठशाला चलाये जाने का उल्लेख मिलता है, जहॉ 8 विद्यार्थियों के लिये निःशुल्क भोजन और आवास का प्रबंध था। ये शिक्षार्थी ऋग्वेद, सामवेद, प्रभाकर, मीमांसाशास्त्र वेदान्त, भाषा शास्त्र तथा कन्नड़ साहित्य का अध्ययन करते थे। तजौर स्थित पुन्नवयिल नामक स्थान पर भी स्थानीय देवालय से सम्बद्ध एक व्याकरण विद्यालय चलाये जाने का उल्लेख मिलता है, जिसे 400 एकड भूमि दान में मिली थी, जहाँ न्यूनतम 500 विद्यार्थी अध्ययन कार्य करते थे।[50] साउथ इडियन एविग्राफी रिपोर्ट संख्या 604, 667, 671 तथा 695 में तमिल देश के विभिन्न देवालयों में चलने वाले विद्यालयो के लिये दान का उल्लेख मिलता है। स्पष्ट है कि मंदिरों मे विद्यालय चलाना दक्षिण भारतीय शिक्षा पद्धति की विशेषता थी, जिसे विकसित करने मे बौद्ध विहारों की भूमिका महत्वपूर्ण रही।

चूंकि, आलोच्यकाल में शिक्षा का धर्म से गहरा सम्बन्ध था और ब्राह्मण समुदाय के लोग पुरोहिती के अतिरिक्त शिक्षण कार्य भी करते थे। अतः शिक्षणकार्य के लिये उनका निवास स्थान भी महत्वपूर्ण रहा। किन्तु कालान्तर मे यह कार्य मंदिरों में भी होने लगा। निःसन्देह इस परम्परा को स्थापित करने में बौद्ध मठों की भूमिका एवं राज्य का सहयोग मुख्य रहा। महायान बौद्धों की भॉति ब्राह्मणों ने भी अपने देवालयों में न केवल विभिन्न प्रतिमाएँ स्थापित की बल्कि वहॉ शिक्षण कार्य भी प्रारंभ किया। इस प्रकार समय—समय पर शिक्षा के प्रतिमान बदलते रहे। वर्तमान सूचना क्रांति के दौर में तकनीकी शिक्षा के अन्तर्गत कम्प्यूटर एवं इंटरनेट शिक्षा का महत्व बढ़ने के कारण परम्परागत शिक्षा हेय एवं अनुपयोगी समझी जाने लगी है। पूरे विश्व में शिक्षक और शिक्षार्थियों का एक ऐसा वर्ग उभरकर आया है, जो तकनीकी शिक्षा के महत्व

को स्थापित करने हेतु तत्पर है। आलोच्यकाल मे बौद्ध मठों एव विहारो की भूमिका को इसी के समानान्तर देखा जा सकता है। उस समय प्रत्येक शिक्षार्थियो को भोजन, वस्त्र, आवास एवं चिकित्सकीय व्यवस्था उपलब्ध कराना अध्यापक का कर्तव्य होता था, इसके लिये राज्य एवं वहाँ की समृद्ध जनता सहयोग प्रदान करती थी, लेकिन जो अध्यापक अपने छात्रों को भोजन और आवास की व्यवस्था सुलभ नही करा पाते थे, उनके कुलीन छात्र अपनी व्यवस्था स्वयं कर लेते थे, जबकि निर्धन छात्र मंदिर आदि में अपनी आवास की व्यवस्था कर दोपहर का भोजन भिक्षाटन से जुटाते थे।[50A] संभवत. शिक्षा के प्रचार–प्रसार के परिणामस्वरूप छात्रो की सख्या बढ़ने के कारण यह स्थिति उत्पन्न हुई होगी और यही से अमीरी–गरीबी के मध्य भेद की स्थिति उत्पन्न हुई।

जहाँ तक देवालय शिक्षा की प्राचीनता एव उसके क्रमिक विकास का प्रश्न है, हिन्दू देवालय विद्यापीठ को व्यवस्थित रूप में स्थापित करने का श्रेय बौद्ध विहारो को जाता है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि बौद्धों के पूर्व इसका अस्तित्व नही था। प्राचीन शिक्षा का धर्म से गहरा सबंध होने के कारण विद्वान ब्राह्मण धार्मिक कार्यो के साथ ही साथ शिक्षण कार्य भी करते थे और इसके लिये वे अपने आवास का उपयोग करते थे। लेकिन वे विद्वान ब्राह्मण जिनका आवास मंदिरों में होता था, वे शिक्षण कार्य के लिए मंदिर का प्रयोग करते थे और खुले मौसम मे वृक्षों के नीचे अध्यापन कार्य करते थे। यह प्रथा कमोवेश हर समय स्थापित रही। लेकिन, इसे सर्वमान्य एवं व्यवस्थित रूप देने मे बौद्धों की भूमिका महत्वपूर्ण रही। कालान्तर में भारत के लगभग सभी बडे देवालय संस्कृत विद्यापीठ के रूप में स्थापित हुए। उत्तर भारत के अनेक देवालय एवं बौद्धिक पांडुलिपियाँ मुस्लिम आक्रमणों से नष्ट होने के कारण आज उपलब्ध नही है। ऐसा उल्लेख मिलता है कि औरंगजेब ने हिन्दू मंदिरों को, जो ज्यादातर ईंट निर्मित थे, इसलिए भी नष्ट करवाया था, क्योंकि उसे सूचना मिली थी कि सिंध, मुल्तान और काशी, जैसे स्थलों के बहुसंख्यक

मदिरो में विद्वान ब्राह्मण पाठशालाएँ चलाते हैं। जबकि दक्षिण भारत के देवालय, पाषाण निर्मित होने के कारण उन्हे नष्ट होने से बचाया जा सका था।

अग्रहर गांव

प्राचीन भारत मे विभिन्न मांगलिक अवसरों पर राजा विद्वान ब्राह्मणों को अपनी सभाओं में आमन्त्रित करते थे तथा उन्हें किसी गांव में बसाकर उनके जीवन निर्वाह हेतु उस गांव की सम्पूर्ण आय उन्हें दानस्वरूप दे देते थे। ऐसे गाव 'अग्रहार' कहे जाते थे। ऐसे गॉवों में विभिन्न विषयों का निःशुल्क अध्यापन कार्य होता था। 'कादियूर' और 'सर्वज्ञपुर' नामक ऐसे दो ग्रामों का उल्लेख किया जा सकता है।

राष्ट्रकूटो के शासन काल में वेद, पुराण, न्याय, दंडनीति, निबंध तथा टीका आदि में पारंगत लगभग 200 ब्राह्मणों को धारवाड जिले में स्थित कादियूर नामक ग्राम, उन्हें अग्रहार मे मिला था।[51] यह गांव शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र था, जहॉ वेद, वेदांग, काव्य, न्याय ओर दडनीति आदि विषयो की शिक्षा दी जाती थी। इस गाव मे एक अन्न सत्र भी चलता था, जहॉ निःशुल्क भोजन वितरित की जाती थी। यह अन्न सत्र संभवतः गांव मे रहने वाले निर्धन शिक्षार्थियों के लिये चलाया जाता था।

मैसूर के हसन जिले मे स्थित सर्वज्ञपुर नामक गॉव ब्राह्मणों को दानस्वरूप मिला था, जहॉ वेद, वेदांग एवं षड्दर्शनों का अध्यापन कार्य होता था। प्राप्य एक लेख से विदित होता है कि एक निखिल नामक ब्राह्मण अध्ययन, धर्म और नीति के वाक्यभूतों के श्रवण में तल्लीन थे।[52]

साधारणतया प्रत्येक "अग्रहार ग्राम" में विद्वान ब्राह्मण संस्कृत के विभिन्न शास्त्रों का निःशुल्क अध्यापन कार्य करते थे।[53] पांडिचेरी से 15 किलोमीटर दक्षिण स्थित 'बाहुर', ऐसा ही एक ग्राम था।[54] इस प्रकार स्पष्ट है

कि प्राचीन भारत मे 'अग्रहार गांव' भी शिक्षा के प्रचार–प्रसार मे महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करते थे। दान में प्राप्त 'अग्रहार ग्राम' तत्कालीन समाज मे शिक्षा के महत्व और उसके सम्मान को रेखांकित करता है।

टोल

लज्जाराम तोमर के अनुसार प्राचीन भारत में प्रत्येक गॉव में एक शिक्षकीय विद्यालय होता था, जो उत्तरभारत मे 'टोल' एव दक्षिण भारत मे 'अग्रहार ग्राम' के नाम से जाना जाता था।[54A] 'अग्रहार ग्राम' की भॉति 'टोल' भी शिक्षा का महत्वपूर्ण केन्द्र होता था, जहॉ झोपड़ियों में अध्ययन–अध्यापन का कार्य चलता था। यद्यपि अध्यापक और छात्र के जीवन निर्वाह हेतु दान प्राप्त होता था, किन्तु जिस टोल को दान प्राप्त नही होता था, उसके पंडित विभिन्न त्योहार, धार्मिक कार्य (रक्षाबंधन, दशहरा, छठ इत्यादि) मांगलिक उत्सव आदि से धन इकट्ठा कर शिक्षार्थियो के भोजन आच्छादन की व्यवस्था सुनिश्चित करते थे।

प्रत्येक टोल मे साधारणतया 25 शिक्षार्थी होते थे, जो निकट के ही किसी आवास में रहते थे तथा 6 से 8 वर्ष तक उनका शिक्षण कार्य चलता था। प्रवेशिका परीक्षा में सम्मिलित होने योग्य हो जाने पर उन्हें मुक्त कर दिया जाता था। ऐसे शिक्षण केन्द्रों पर संभवतः विभिन्न विषयों की प्रारंभिक शिक्षा ही दी जाती थी। टोलीय शिक्षा प्रणाली की यह परम्परा आज भी बिहार, बंगाल, असम एवं उत्तर प्रदेश के गाँवों में देखने को मिल जाएगी। काशी, नासिक, वाई[55] और नदिया जैसे स्थानो पर संस्कृत साहित्य की शिक्षा निःशुल्क प्रदान करने की परम्परा आज भी जीवित है। छात्र द्वारा आचार्य की सेवा एवं शारीरिक श्रम करने की तत्परता के कारण शिक्षा प्राप्ति में निर्धनता बाधक नहीं बनती थी। ब्रह्मचारी के लिये चाहे वह अमीर हो या गरीब भिक्षाटन जीविका का एक आदर्श माध्यम था।

बौद्ध शिक्षण संस्थाएँ

बौद्ध धर्म के संस्थापक गौतम बुद्ध का जन्म एक राजपरिवार में हुआ था। वहाँ की शासन व्यवस्था गणतंत्रात्मक थी, जिसका प्रभाव उनके व्यक्तित्व मे समाहित था। उनका विचार था कि जनतंत्रात्मक व्यवस्था की भाँति सभी भिक्षुओ को बिना किसी भेद–भाव के धर्म को स्वीकार करने एव अपने भावनाओ को अभिव्यक्त करने का समान अवसर मिलना चाहिए। इसके लिए उन्होंने लोकतांत्रिक पद्धति पर गठित एक संगठन की आवश्यकता महसूस की, जिसका नाम उन्होंने 'संघ' रखा। अपने जीवनकाल में उन्होंने किसी को भी अपनी उत्तराधिकारी निर्वाचित नहीं किया तथा यह कार्य संघ के सदस्यों पर छोड़ दिया। संघ के संचालन हेतु भिक्षुओं के मध्य से ही निर्वाचन पद्धति के आधार पर उत्तराधिकारियो का चयन होता था। विभिन्न पदाधिकारियों का चयन भिक्षु संघ करता था। संध की सभा में सदस्यो को बैठने की व्यवस्था 'आसन–प्रज्ञापक' नामक अधिकारी करता था। सभा में कोई प्रस्ताव लाने से पूर्व उसकी सूचना सम्बन्धित अधिकारी को देनी पडती थी। संघ के सभी सदस्य जो दीक्षा प्राप्त भिक्षु होते थे, स्वतत्रतापूर्वक मतदान करते थे। मताधिकार का प्रयोग प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष पद्धति से होता था। किसी भी प्रस्ताव पर विवाद का निर्णय बहुमत से होता था। संघ की साधारण सभा के लिये न्यूनतम 20 सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक थी, अन्यथा वह सभा अनाधिकृत समझी जाती थी। इस प्रकार बुद्ध ने अपने जीवनकाल में लोकतांत्रिक सघीय व्यवस्था की नींव डाली।

संघ का सदस्य बनने के लिये प्रत्येक को प्रव्रज्या की दीक्षा लेना पडता था। प्रव्रज्या के समय प्रत्येक भिक्षुओं को वृक्षमूल को अपना आवास बनाने के लिये निर्देशित किया जाता था। इससे भिक्षुगण राग–द्वेष से रहित कठोर, सहनशील, त्यागी, अनुशासित, सच्चरित्र, अध्यवसायी, परिश्रमी और निर्मल हृदय के बनते थे। वे आचार–विचार और नियम के पक्के होते थे तथा

वर्षा–काल को छोडकर सदैव भ्रमणशील रहते थे। पालि साहित्य से ज्ञात होता है कि बुद्ध ने जब संघ का सदस्य बनने के लिये 'प्रव्रज्या' की दीक्षा अनिवार्य कर दिया, तब उस समय तक आरण्यों में पर्णशालाओं का निर्माण आरभ हो चुका था। इस प्रकार आरंभ मे वे आरण्य, वृक्षमूल, पर्वत, कंदरा, श्मशान–स्थल और पुआल के ढेर पर निवास करते थे। जंगलों में नदी तट के किनारे कुटिया बनाकर वे प्रवास करते थे, क्योंकि ऐसे स्थल ध्यान एवं साधना के लिये उपयुक्त वातावरण सुलभ कराते थे। विकास के क्रम में जब भिक्षुओ की संख्या क्रमशः बढ़ने लगी, तब संघीय जीवन सम्यक् व्यवस्थित हुआ। बौद्धानुयायियों ने भिक्षुओं के लिये आराम स्थलों का निर्माण करवाना प्रारम्भ किया। इन स्थलों का उपयोग वे वर्षाकाल में करते थे। किन्तु, धीरे–धीरे ये स्थल भिक्षुओं के स्थायी निवास बनते गये। अनुयायियो द्वारा दान में प्राप्त ये आरामगाह गांव एवं नगर से दूर एकांत स्थल पर होते थे। कालांतर में इनका नामकरण "संघाराम" के रूप में हुआ। इस क्रम मे कतिपय श्रद्धालु अनुयायियो ने संघाराम के साथ–साथ विभिन्न मठो एवं विहारों का भी निर्माण करवाया, जहॉ भिक्षुओं को धर्म एवं दर्शन की शिक्षा दी जाती थी।

बुद्ध के उपरान्त उनके विचारो एवं सिद्धान्तों का पर्याप्त प्रचार–प्रसार हुआ। भिक्षुओं की संख्या बढी, लेकिन सर्वसाधारण वर्ग अब भी बौद्ध शिक्षा से वचित रहा। अतः इस बात की आवश्यकता महसूस की गयी कि सर्वसाधारण को भी बौद्ध भिक्षा दी जानी चाहिए। परिणामतः इसका प्रचार–प्रसार सर्वसाधारण वर्ग में होने के कारण पाठ्यक्रम एवं शिक्षा का फलक विस्तृत हुआ। लोगों का आकर्षण बढा। संघाराम, मठ एवं विहार, जो प्रारम्भ में विशुद्ध धार्मिक केन्द्र थे, शिक्षा के महत्वपूर्ण केन्द्र बनते गये और बडे शिक्षण संस्थाओं के रूप मे स्थापित हुए। प्रारम्भ में इन स्थानों पर मुख्यत धर्म, दर्शन एवं आध्यात्म की शिक्षा दी जाती थी,[56] किन्तु कालान्तर में जनोपयोगी विषयों की भी शिक्षा दी जाने लगी। प्रारम्भ में इनके नियम और अनुशासन गुरुकुलीय शिक्षा पद्धति की भाँति था, किन्तु उत्तरकाल में सांगठनिक एवं प्रशासनिक

व्यवस्था के अन्तर्गत इनका विकास हुआ। राजगृह, वैशाली, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, लुम्बिनी आदि कई नगरों में मठों एव विहारो का उदय हुआ जो कालान्तर में बौद्ध शिक्षा के प्रधान केन्द्र के रूप मे विकसित हुए।[57] इन विहारों में श्रावस्ती का जेतवन, कपिलवस्तु का निग्रोधाम, वैशाली का कुटागार शाला तथा आम्रवन, राजगृह का वेणुवन, यष्टिवन और सीतावन आदि उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त कई संघाराम का भी विकास हुआ, जहाँ शिक्षण कार्य के साथ–साथ आध्यात्मिक चिंतन–मनन होता था।[58]

बौद्ध शिक्षण संस्थाओं की सम्पूर्ण व्यवस्था भिक्षु संघ के हाथ में रहती थी।[59] वह सघ चाहे छोटा हो या बडा। नालन्दा, वलभी और विक्रमशिला जैसे प्रसिद्ध शिक्षण केन्द्र, जो प्रांरभ में बौद्ध विहार थे, उसकी व्यवस्था संघ के सदस्य देखते थे। कालान्तर में वह प्रसिद्ध शिक्षण–संस्था के रूप में स्थापित हुआ।[60] इन विश्वविद्यालयो का अध्यक्ष कोई ख्यातिलब्ध भिक्षु होता था, जो प्रबंधक की भूमिका का निर्वहन करता था। प्रायः संघ के सदस्य उसका निर्वाचन करते थे। निर्वाचन में चरित्र, पाण्डित्य और वय का पूरा ध्यान रखा जाता था।[61] 9वीं शताब्दी में जलालाबाद का एक विद्वान नालन्दा का प्राचार्य चुना गया था[62] जो यहाँ यात्रा पर आया हुआ था। स्पष्ट है कि महत्वपूर्ण पदों के चुनाव मे स्थानीयता या प्रांतीयता जैसी संकीर्ण मनोवृत्ति के लिये कोई स्थान नही था। प्राचार्य के सहायतार्थ दो समितियों का उल्लेख मिलता है – शिक्षा समिति एवं प्रबंध समिति। पाठ्यक्रम निर्धारण तथा अध्यापकों को विषय वितरण सम्बन्धी कार्य शिक्षा समिति करती थी। पुस्तकालयों का प्रबंध, उनका रख–रखाव, पुस्तकों के पुनर्लेखन, प्रतिलिपि की व्यवस्था आदि बहुतेरे कार्य शिक्षा समिति ही करती थी। प्राय. अध्यापक और उनके शिष्य ही प्रतिलिपि निर्माण का कार्य करते थे, किन्तु आवश्यकता पडने पर इस कार्य के लिये लेखको की नियुक्ति भी की जाती थी। संस्थाओं की प्रशासनिक और आर्थिक व्यवस्था, कर्मचारियों की नियुक्ति, नये भवनों का निर्माण और पुराने भवनों की मरम्मत, छात्रो के लिए भोजन, वस्त्र, आवास एवं चिकित्सकीय आदि कार्य

प्रबध समिति के हाथों निष्पादित होती थी।[63] सस्थाओ का आर्थिक प्रबंधन, राजाओ, श्रेष्ठियो और कुलीन व्यक्तियो के दान पर निर्भर था, जिनमे कर मुक्त गाव और बडे भूखण्ड भी सम्मिलित थे।

बौद्ध मठ एवं विहार, जो प्रारभ मे धार्मिक केन्द्र थे। वृहद् शिक्षण सस्था के रूप में स्थापित हुए, जहॉ धर्म एवं दर्शन के अतिरिक्त विभिन्न शिल्पो, तथा ललित कलाओ एवं अन्य उपयोगी विषयों की शिक्षा दी जाती थी। ऋणी और अपंग व्यक्ति को छोड़कर सभी वर्ण एव जाति के लोग किसी भी विषय की शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। कालान्तर में बौद्ध विहारों की प्रेरणा से ही हिन्दू मंदिर भी शिक्षण केन्द्र के रूप में स्थापित हुए और यही कारण है कि उत्तरकाल में ब्राह्मण–शिक्षण पद्धति और बौद्ध शिक्षण पद्धति में कोई विशेष अतर नही रह गया। जिस समय बौद्ध धर्म उन्नति के शिखर पर था, देश के कोने–कोने में मठों एवं विहारो का जाल बिछा हुआ था, देश–विदेश के लगभग 10 प्रतिशत छात्र विभिन्न विषयों मे उच्च शिक्षा प्राप्त करते थे। भारतीय राजाओं के सहयोग एवं प्रोत्साहन के कारण मठ एवं विहार उच्च शिक्षा के प्रमुख केन्द्र बने। ऐसा उल्लेख मिलता है कि सुदूरवर्ती देश जावा के शासक ने भी बौद्ध विश्वविद्यालय नालन्दा के विकास में अपना यथोचित सहयोग प्रदान किया था। ऐसे शिक्षण संस्थाओं को दान देने के लिए भारतीय राजाओं, सामतों तथा सेठो में होड़ लगी रहती थी। बदले में इन संस्थाओं द्वारा निःशुल्क शिक्षा वितरित की जाती थी। भिक्षुओं के साथ–साथ अन्य छात्रों को भी निःशुल्क भोजन, वस्त्र और आवास की व्यवस्था सुलभ करायी जाती थी। विहार या तो स्वतंत्र नगर थे या नगरो और गांवों के उपान्त में बसे हुए थे।

प्रारंभ में बौद्ध शिक्षा मूलतः उन्ही के लिये था, जो बौद्ध धर्म में दीक्षित होना चाहते थे। किन्तु कालान्तर में जब यह अनुभव किया जाने लगा कि बौद्ध धर्म के प्रचार–प्रसार हेतु जन साधारण की सहानुभूति प्राप्त करना आवश्यक है। अतः शिक्षा का झुकाव सर्वसाधारण के प्रति होना स्वाभाविक था। परिणामतः

नवयुवको के मस्तिष्क को अपरिपक्वता मे ही अपने अनुकूल बनाना संघ का उद्देश्य बना। उपासकों के अतिरिक्त जन साधारण वर्ग भी बौद्ध शिक्षण केन्द्रों पर जाकर शिक्षा प्राप्त करने लगा। इस प्रकार संघ ने न केवल योग्य भिक्षुओ को जन्म दिया, बल्कि बौद्ध शिक्षा का प्रचार–प्रसार होने से बौद्ध समर्थकों की संख्या भी बढ़ी।

चीनी यात्रियों के विवरण से ज्ञात होता हे कि बौद्ध विहारो मे मुख्यतया उच्च शिक्षा दी जाती थी। किन्तु, प्रारिम्भक शिक्षा के बिना उच्च शिक्षा की परिकल्पना नहीं की जा सकती। अतः स्पष्ट है कि उच्च शिक्षा प्रदान करने वाले आचार्यो ने इसकी उपेक्षा नहीं की होगी। इत्सिंग ने जल और भोजन आदि से भृत्यो की भांति आचार्यो की सेवा करने वाले धर्मेत्तर विषय के शिक्षार्थियों का उल्लेख किया है। संभवतः ये प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने वाले साधारण शिक्षार्थी थे।[64] वैसे विहारो मे, जहॉ उच्च शिक्षा की व्यवस्था नही थी, जिज्ञासु शिक्षार्थियो को प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती थी।

इस प्रकार बौद्ध शिक्षण संस्थाओ मे नालन्दा, वलभी एवं विक्रमशिला जैसे प्रसिद्ध विश्वविद्यालय तथा कतिपय अन्य विद्यापीठ प्रमुख थे, जिन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में स्मरणीय भूमिका का निर्वहन करते हुए ज्ञान वितरण की उच्च परम्परा को बनाए रखा। इन् सस्थाओं का शैक्षिक स्तर काफी ऊँचा होने के कारण, इनकी श्रेष्ठता, सफलता एवं प्रसिद्धि से आकृष्ट होकर तिब्बत, चीन, वर्मा, कोरिया, श्रीलंका, जावा आदि सुदूर देशों के शिक्षार्थी यहाँ अध्ययन के निमित्त आते थे। यह प्राचीन भारत के लिये अत्यन्त गौरव की बात थी। आज एशिया के बहुतेरे देश जो बौद्ध धर्म को मानने वाले हैं। भारत के प्रति जो सास्कृतिक सहानुभूति रखते हैं, उसका एकमात्र श्रेय प्राचीन बौद्ध विश्वविद्यालयों को जाता है।

श्रावस्ती

बुद्ध के जीवन काल् में श्रावस्ती बौद्ध शिक्षा का एक महत्वपूर्ण केन्द्र

बन चुका था। प्रमुख श्रेष्ठि अनाथपिडक ने बुद्ध के समय मे श्रावस्ती के निकट जेतवन नामक विहार का निर्माण करवाया था, जहॉ बौद्ध धर्म, दर्शन, आचार एव विचार की शिक्षा दी जाती थी। 130 एकड में फैला यह जेतवन विहार काफी प्रशस्त एवं विस्तृत था, जिसमे लगभग 120 भवन और छोटे–छोटे अनेक कक्ष निर्मित थे। भिक्षुओं और उपासको के लिये यहॉ अनेक भवन बने हुए थे। जलीय आवश्यकता की पूर्ति हेतु जलाशय, छाया के लिए वृक्ष तथा बैठने के लिए उपवन भी बने हुए थे। ह्वेनसांग के अनुसार, बुद्ध ने स्वयं यहॉ बाड लगाकर पशुओं के प्रवेश को अवरूद्ध किया था तथा जल प्रबंध हेतु विशाल नहर का निर्माण करवाया था। अशोक एवं हर्षवर्धन के समय में भी यह बौद्ध शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र था, जहॉ दूर–दूर से शिक्षार्थी आकर विभिन्न विषयो की शिक्षा प्राप्त करते थे। इस प्रकार बौद्ध शिक्षा की दृष्टि से श्रावस्ती एक महत्वपूर्ण शिक्षा केन्द्र था।

नालन्दा

वर्तमान बिहार प्रांत की राजधानी पटना से लगभग 50 मील की दूरी पर स्थित यह अन्य बौद्ध विहारों की भांति एक महत्वपूर्ण विहार था, जहाँ बौद्ध धर्म एवं दर्शन की शिक्षा दी जाती थी। उपलब्ध साक्ष्यो से विदित होता है कि वैसे तो इसकी ख्याति बुद्ध के समय में भी थी, क्योंकि बुद्ध के प्रिय शिष्य सारिपुत्र का जन्म यहीं हुआ था। तथागत ने यहॉ के आम्रवन में कई दिन व्यतीत कर अपने शिष्यों को धर्म की शिक्षा दी थी। 500 श्रेष्ठियों ने मिलकर 10 करोड मुद्राओं से इस क्षेत्र का क्रय करके महात्मा बुद्ध को अर्पित किया था। कालान्तर में अशोक ने यहॉ पर एक विशाल विहार का निर्माण करवाया था। किन्तु, एक महत्वपूर्ण शिक्षण केन्द्र के रूप में इसका इतिहास 450 ईस्वीं से प्रारंभ होता है, क्योंकि 410 ईस्वीं में चीनी यात्री फाहियान, जो यहॉ की यात्रा पर आया हुआ था, उसने इस रूप में इसका वर्णन नहीं किया है।[65] ऐसा

प्रतीत होता है कि यह स्थान अपने प्रारम्भिक काल में ब्राह्मण शिक्षा का केन्द्र होते हुए भी बौद्ध धर्म और शिक्षा का प्रचार स्थल था। इसकी प्रमुखता 5वी शताब्दी के मध्य मे तब बढी, जब बौद्ध विद्वान दिगनाथ ने यहाँ की यात्रा कर प्रख्यात ब्राह्मण विद्वान दुर्गम को शास्त्रार्थ मे पराजित किया था। अनेक गुप्त राजाओ के प्रश्रय एव प्रोत्साहन से अल्पकाल मे ही इसकी ख्याति और प्रतिष्ठा में पर्याप्त वृद्धि हुई। यहाँ के सबसे बडे विद्यापीठ के विकास और साधन सामग्री संकलन आदि के लिये गुप्त शासको द्वारा प्रदत्त प्रभूत दान तत्कालीन धार्मिक सहिष्णुता को रेखांकित करता है, क्योंकि गुप्त शासक ब्राह्मण धर्म के अनुयायी होते हुए भी नालन्दा को प्रभूत दान देकर इसके शैक्षिक महत्व को बढाया, जो बौद्ध शिक्षा का एक महत्वपूर्ण केन्द्र था। कुमार गुप्त प्रथम (शक्रादित्य 414—455 ई.) ने यहाँ पर एक विशाल विहार का निर्माण करवा कर बौद्ध शिक्षा का श्री गणेश किया था। तत्पश्चात् बुद्ध गुप्त, तथा गुप्त, नरसिह गुप्त, बलादित्य आदि गुप्त शासकों ने अपना संरक्षण प्रदान कर इसके विकास में योग दिया था। सुदीर्घ काल तक यहाँ का विशाल मंदिर ही नालन्दा संघ का मुख्य उपासना गृह बना रहा।

ह्वेनसांग के विवरण से ज्ञात होता है कि यहाँ पर निर्मित अनेक बौद्ध विहारों[66] में कुछ काफी बड़े एवं भव्य थे, जिनके गगनचुम्बी शिखर अत्यन्त आकर्षक थे।[67] सबसे बड़ा विहार 203 फीट लम्बा और 164 फीट चौडा था। कक्ष 9 से 12 फीट लम्बे होते थे। यशोवर्मन के एक लेख से विदित होता है कि यहां के विहारों की शिखर श्रेणियाँ गगनस्थ मेघों का चुम्बन करती थीं। अनेक जलाशय थे, जिनमें कमल तैरते थे। कई विशाल भवन थे, जिनमें अनेक छोटे—बड़े कक्ष होते थे। उत्खनन में प्राप्त भग्नावशेषों से विदित होता है कि 7 विश्वविद्यालय कक्ष और 300 छोटे—बड़े कक्ष बने हुए थे। शिक्षार्थी छात्रावासो में रहते थे, जिसके प्रत्येक कोण पर कूप बने हुए थे।[68] ज्यादातर विहार दो मजिले होते थे। कुछ कमरे ऐसे थे, जिसमें एक या दो विद्यार्थी ही रह सकते थे। प्रत्येक विद्यार्थी के शयन कार्य हेतु पत्थर की एक चौकी, दीपक

रखने के लिये ताखे एवं पुस्तक रखने के लिये आला बने होते थे। उत्खनन मे प्रत्येक विहार के प्रांगण से एक एक कुऑ मिला है। इससे प्रकट होता है कि वहा जल की व्यवस्था अच्छी थी। प्रवेश क्रम के अनुसार प्रत्येक विद्यार्थियो को कमरे आवटित किये जाते थे। कमरो का पुनर्वितरण प्रतिवर्ष होता था।

विश्वविद्यालय को 200 ग्राम दान में मिला था,[69] जिसकी आय से वहॉ के अध्येताओं, कार्यकताओं और शिक्षकों का भरण—पोषण होता था। ग्रामवासियो द्वारा प्रत्येक दिन कई मन चावल और दूध दान में प्राप्त होता था। शिक्षार्थियो से किसी प्रकार का शुल्क लेने का उल्लेख नहीं मिलता, बल्कि उनके भोजन, वस्त्र, आवास और औषधियों की निःशुल्क व्यवस्था उपलब्ध थी। अस्वस्थ्य छात्रो के उपचार हेतु चिकित्सालयों का भी उल्लेख मिलता है।[70] इत्सिंग के अनुसार, विहारों में यह नियम था कि सामान्य विद्यार्थियों को निःशुल्क भोजन, वस्त्र, आवास और चिकित्सकीय सुविधा तभी उपलब्ध करायी जाय, जब वे विहार को अपना कुछ श्रमदान करे।[71]

सस्था में प्रवेश पाने के लिए इच्छुक शिक्षार्थियों के लिए कड़े नियम बनाये गये थे। सर्वप्रथम प्रवेशार्थियों को द्वार पडित से वाद—विवाद करना पडता था तथा उनकी शंकाओं का समाधान करना पड़ता था। प्रवेश के प्रथम दिवस ही ज्यादातर प्रवेशार्थी असफल हो जाते थे, जबकि 1 या 2 छात्र ही सफल हो पाते थे।[72] विभिन्न विषयों के अनेक विद्वान वहॉ उपस्थित रहते थे।[73]

इत्सिंग के समय में अध्ययनरत शिक्षार्थियो की संख्या 3000 थी, जो ह्वेनसांग के समय में बढ़कर 10000 हो गयी।[74] शिक्षकों की संख्या 1510 थी, जिनमें से 1010 सूत्रनिकायों में और शेष 500 अन्य विषयों में दक्ष थे। इसकी जानकारी उपलब्ध साक्ष्यों से होती है। यद्यपि ये विद्वान महज अपने अध्ययन—अध्यापन से ही संतुष्ट नही थे, बल्कि इन्होंने अपनी रचनात्मक परिलब्धियों के अनन्तर अनेक बहुमूल्य एवं उपयोगी ग्रथों की रचना भी की थी, जिसकी गणना तत्कालीन समय के महत्वपूर्ण ग्रंथों में की जाती थी। ह्वेनसांग

के समय मे यहाँ का पांडित्य स्तर बहुत ऊंचा था। 10000 भिक्षुओ में से 1000 भिक्षु ऐसे थे, जो 30 सूत्र–निकायों की व्याख्या कर सकते थे तथा 10 ऐसे भी थे जो 50 सूत्र निकायों की व्याख्या कर सकते थे।[75] ह्वेनसाग के समय मे यहाँ का प्रधान और विश्वविद्यालय का कुलपति शीलभद्र था, जो अनेक विषयों मे पारंगत था।[76] पूर्व में यहां का कुलपति धर्मपाल था। ह्वेनसांग भी यहाँ के प्रधान शिक्षको में से एक था, जिसे अनेकानेक विषयो पर पांडित्य प्राप्त था।[77]

देश–विदेश से जिज्ञासु शिक्षार्थी विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करने के लिये यहाँ आते थे। नालन्दा के यश से आकृष्ट होकर आने वाले विदेशी शिक्षार्थियों में फाह्यान, ह्वेनसाग, इत्सिग, थानमि, हुवैन–च्यू, ताऊ–हि, ह्वि–निह, आर्यवर्मन, बुद्ध धर्म ताऊसिग तथा हुई–लू आदि उल्लेखनीय है, जो चीन कोरिया, तिब्बत और तोखारा से सम्बन्ध रखते थे। ये सभी शिक्षार्थी नालन्दा मे रहकर न केवल शिक्षा प्राप्त की, बल्कि विभिन्न पांडुलिपियो की प्रतिलिपियां भी तैयार की थी।[78]

उपलब्ध साक्ष्यों से विदित होता है कि यहाँ के शिक्षार्थियों की योग्यता का स्तर काफी ऊंचा था। विदेशों से आये अधिकाश शिक्षार्थी विषय की कठिनता के कारण शास्त्रार्थो में भाग नहीं लेते थे। किन्तु, जो लेते भी थे, उसमें से 25 फीसदी ही सफंल हो पाते थे।[79] ज्येष्ठ और कनिष्ठ भिक्षुओं के मध्य परस्पर एक–दूसरे की सहायता करने का उल्लेख मिलता है। यहाँ की शैक्षिक महत्ता इस बात से भी प्रमाणित होती है कि जो शिक्षार्थी यहाँ के नहीं होते थे वे भी अपना महत्व सिद्ध करने के लिये यहँा का शिक्षार्थी होने का मिथ्या दावा करते थे और तत्कालीन समाज उन्हें भी आदर व सम्मान की दृष्टि से देखता था।[80] ऐसा उल्लेख मिलता है कि यहँा के विद्वानों के नाम परिवेण के उत्तुंग मुखद्वार पर श्वेताक्षरों में लिखा होता था। इस व्यवस्था के कारण प्रत्येक आगन्तुक और दर्शनार्थी भी उनसे भली–भाँति परिचित होते थे।[81]

सैकड़ों अध्यापकों एवं हजारों शिक्षार्थियों के लाभार्थ एक विशाल पुस्तकालय का भी उल्लेख मिलता है। चीनी विद्वानों का यहँा महीनों प्रवास

करने का एक कारण यह भी था कि वे बौद्ध आगमों तथा अन्य पुस्तकों की शुद्ध प्रतिलिपि तैयार कर सकें। चीनी विद्वान इत्सिंग यहाँ लंबे समय तक प्रवास कर 400 संस्कृत पुस्तको की प्रतिलिपि तैयार की थी, जिनमें लगभग 5 लाख श्लोक रहे होंगे।[82] तीन भवनों से मिलकर इस भव्य पुस्तकालय का निर्माण हुआ था, जिन्हे क्रमश· 'रत्नसागर', 'रत्नोदधि' एवं 'रत्नरंजक' की सज्ञा से सबोधित किया जाता था।[83]

अध्ययनरत शिक्षार्थियो की संख्या पर्याप्त थी।[84] 100 अध्यापक ऐसे थे, जो 4000 भिक्षुओं को पढाते थे। इस प्रकार साधारणतया एक अध्यापक को 9 या 10 छात्रों को पढ़ाना पड़ता था। शिक्षार्थियों की संख्या सीमित होने के कारण प्रत्येक शिक्षार्थी की प्रगति पर नजर रख पाना संभव था। विद्यापीठ में 8 विशाल व्याख्यान भवन एवं 300 छोटे–छोटे व्याख्यान कक्ष निर्मित थे। प्रतिदिन लगभग 100 व्याख्यानों का प्रबंध किया जाता था। विद्वान अध्यापकों को जिन्हें पालकी में बैठाकर सम्मान दिया जाता था, बडा आदर प्राप्त था। इत्सिग ने लिखा है कि "मुझे इस बात से अत्यधिक प्रसन्नता है कि जो ज्ञान हमे यहॉ प्राप्त करने का अवसर मिला, वह अन्यत्र संभव नहीं था।"

यद्यपि नालन्दा में हीनयान एवं महायान दोनों शाखा से सम्बन्धित पाठ्यक्रमो का अध्ययन–अध्यापन होता था, लेकिन महायान शाखा की प्रधानता थी। अनेक विहार महायान शाखा से ही सम्बन्धित थे। पालि साहित्य का अध्ययन इस बात को प्रमाणित करता है कि यहॉ हीनयान शाखा का भी अध्ययन–अध्यापन होता था, क्योकि अधिकांश हीनयानी ग्रंथ पालि भाषा में ही है। नागार्जुन, वसुबंधु, असंग, धर्मकीर्ति आदि ऐसे महायानी विचारक थे, जिन्होंने यहाँ से शिक्षा प्राप्त कर अपने को उन्नत बनाया था। ह्वेनसांग ने अनेक ऐसे आचार्यो का उल्लेख किया है, जिनकी विद्वता से प्रभावित होकर देश विदेश के शिक्षार्थी यहाँ अध्ययन के निमित्त आते थे। धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिन मित्र, आर्यदेव, दिंगनाग ज्ञानचन्द्र आदि ऐसे विद्वान थे, जो देश के विभिन्न भागों से यहाँ आकर शिक्षा प्राप्त किये थे

तथा अपने को विद्वान बनाकर आचार्य की भूमिका का निर्वहन करने लगे थे। आर्यदेव एवं दिगनाग दक्षिण भारत के निवासी थे। धर्मपाल कांची का रहने वाला था। शीलभद्र समतट (बंगाल) का निवासी था। स्थिरमति एवं गुणमति वलभी के रहने वाले थे। इस प्रकार विभिन्न क्षेत्रों के विद्वान अपनी विद्वता से नालन्दा की शोभा बढ़ा रहे थे और उनके बौद्धिक आकर्षण से आकर्षित होकर देश विदेश के जिज्ञासु शिक्षार्थी ज्ञानार्जन के निमित यहाँ आते थे।

बौद्ध धर्म एवं दर्शन के अतिरिक्त व्याकरण न्याय वैदिक एवं लौकिक साहित्य का भी यहाँ अध्ययन–अध्यापन होता था, क्योकि उत्तर काल में ब्राह्मण और बौद्ध धर्म मे कोई विशेष अंतर नही रह गया था। स्वयं बौद्धों ने लिखा है कि नालन्दा में विभिन्न विषयों के अतिरिक्त तीनों वेदों, वेदांगों, वेदांत तथा सांख्य दर्शन का भी शिक्षण कार्य होता था।[85] विभिन्न विषयों का तात्पर्य चिकित्साशास्त्र, धर्मशास्त्र, पुराण, इतिहास, ज्योतिष आदि विषयों से था। चिकित्साशास्त्र का उल्लेख बौद्ध आगमों में भी हुआ है।

नालन्दा से संबंधित सम्पूर्ण व्यवस्था का प्रधान नियामक भिक्षु महास्थावर होता था जो कोई ख्यातिलब्ध भिक्षु होता था। संघ के सदस्य ही प्रायः उसका निर्वाचन करते थे। निर्वाचन मे स्थानीयता, प्रांतीयता या अन्य संकीर्ण विचारों की जगह चरित्र, प्रतिभा, विद्वता एवं वय जैसी योग्यता का विशेष ध्यान रखा जाता था।[86] उसके सहायतार्थ दो परिषदें होती थीं, जिसे शिक्षा समिति एवं प्रबंध समिति के नाम से जाना जाता था। शिक्षा समिति समस्त शिक्षा सम्बन्धी कार्यो का निष्पादन करती थी, जबकि प्रबंध समिति का संबंध संस्था के अन्य सभी विषयों से था। यद्यपि नालंदा की प्रतिष्ठा 12वीं शताब्दी तक बनी रही, लेकिन छठी–सातवीं शताब्दी तक का काल खण्ड शैक्षिक ख्याति की दृष्टि से चरमोत्कर्ष काल था। 9वी शताब्दी में जावा–सुमात्रा के शासक बाल पुत्रदेव ने इसकी ख्याति से आकृष्ट होकर यहाँ एक विहार का निर्माण करवाया था तथा उसके वार्षिक खर्च हेतु बंगाल नरेश देवपाल को, जो कि उसका परम मित्र था, 5 गांव दान में देने के लिए प्रेरित किया था, जिसके एक

भाग से विभिन्न पाडुलिपियो की प्रतिलिपि तैयार करायी जाती थी (धर्मरत्नत्य लेखनार्थम्) तिब्बती विद्वान तारानाथ ने लिखा है कि विक्रमशिला के आचार्य को पाल शासकों द्वारा यहॉ का निरीक्षक नियुक्त किया जाता था।[87] निश्चित रूप से तारानाथ का लेख इसके पराभव को एवं विक्रमशिला के महत्व को प्रमाणित करता है, जिसे पालों का संरक्षण प्राप्त था। तिब्बती सूत्रों से ज्ञात होता है कि बौद्धों में तंत्र–विद्या का प्रचार अधिक बढ जाने के कारण यहॉ गभीर अध्ययन बाधित हुआ, जो कालान्तर में उसकी अवनति का कारण बना। 12वीं शताब्दी के अन्त में मुस्लिम आक्रमणकारी बख्तियार खिलजी के नेतृत्व में इसका अन्त हो गया। बहुसख्यक भिक्षुओं को न केवल मौत के घाट उतारा गया, बल्कि बहुमूल्य पांडुलिपियों को भी जला कर नष्ट कर दिया गया, और इसी के साथ नालन्दा का इतिहास पुरातत्व विदों का विषय बनकर रह गया।

वलभी

गुजरात राज्य में काठियावाड के समुद्र तट पर स्थित, यह एक ध्वस्त प्राचीन अंतर्राष्ट्रीय बंदरगाह व्यापार के साथ–साथ शिक्षा का भी प्रधान केन्द्र था। 7वीं शताब्दी तक इसकी ख्याति देश–विदेश तक फैल चुकी थी। यहॉ विहार निर्माण की परम्परा राजकुमारी टड्डा द्वारा सम्पन्न हुआ। तदन्तर राजा धरसेन ने 580 ई. में दूसरे विहार का निर्माण करवाया, जिसे श्रीबप्पपाद के नाम से जाना जाता था। विहार का निर्देशन एवं प्रशासन आचार्य स्थिरमति करते थे। इत्सिंग के अनुसार, शैक्षिक दृष्टि से इसका भी महत्व नालन्दा की भाति ही था।[88] यहां अनेक बौद्ध विहार एवं मठ थे। 100 विहारों और 6000 भिक्षुओं का विवरण ह्वेनसांग ने दिया है,[89] जहॉ बौद्ध शिक्षण कार्य सम्पन्न होता था।

शिक्षा का प्रधान केन्द्र होने के कारण भारत के सुदूरवर्ती क्षेत्रों एवं अन्य देशों के बहुसंख्यक विद्यार्थी यहॉ शिक्षा प्राप्त करने के लिये आते थे।

गगा की तलहटी से अनेक ब्राह्मण भी अपने पुत्रों को विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करने के लिये यहाँ भेजते थे।[90] स्थिरमति और गुणमति जैसे विद्वान इस विश्वविद्यालय के शोभा थे।[91] तर्क, व्याकरण, व्यवहार, साहित्य आदि विषयों की शिक्षा यहाँ दी जाती थी। यहाँ के स्नातको को शासन के उच्च पदों पर नियुक्त किया जाता था। इसकी पुष्टि इत्सिग के विवरण से होती है।[92] नालन्दा की भाँति यहाँ के भी प्रकाण्ड विद्वानों का नामोल्लेख उत्तंग द्वारो पर होता था।[93] निःसंदेह यह अपने समय का एक प्रमुख बौद्धिक केन्द्र था, जहाँ विभिन्न विषयो के दक्ष विद्वान अपने पाडित्य का लाभ जिज्ञासु शिक्षार्थियो को प्रदान करते थे।

इस विश्वविद्यालय की आर्थिक स्थिति काफी सुदृढ थी। यहां के 100 करोडपतियों मे से ज्यादातर का आर्थिक सहयोग इसे प्राप्त था। समय समय पर अनेक शासको का भी सहयोग दानस्वरूप प्राप्त होता रहता था। मैत्रक वंश के शासकों ने 480 ईस्वी. से 775 ईस्वी तक वलभी एवं उसके आस–पास के क्षेत्रों पर शासन किया था, जिनका सहयोग इसे सदैव मिलता रहा, जो साधारण व्ययों के अतिरिक्त पुस्तको के प्रकाशन एवं रख–रखाव दानस्वरूप होते थे।[94] यहाँ से शिक्षा प्राप्त स्नातकों को राज्यसेवा का अवसर प्रदान किया जाता था। ऐसा संभव न होने पर उन्हें जीविकोपार्जन हेतु आर्थिक अनुदान दिया जाता था।[95]

मैत्रक वंश के पतनोपरान्त, राजनैतिक उथल–पुथल के प्रभाव से वलभी भी प्रभावित हुआ, लेकिन जल्द ही एक प्रमुख शिक्षण संस्था के रूप में इसकी ख्याति पुनः स्थापित हो गयी तथा बंगाल जैसे सुदूर प्रदेशों से ज्ञान–पिपासु छात्र 12वीं शताब्दी तक यहां अध्ययन के लिए आते रहे।[96] लेकिन 12वीं शताब्दी के उपरान्त मुस्लिम आक्रमणों के प्रभाव से यह संस्थान भी प्रभावित हुआ और क्रमशः यह अपना शैक्षिक महत्व खोता चला गया।

विक्रमशिला

8वीं शताब्दी में पाल शासक धर्मपाल ने भागलपुर से 25 किलोमीटर दूर इस विहार की आधारशिला रखी थी, जो लगभग चार शताब्दी तक प्रमुख शिक्षण–संस्था के रूप में भारत एवं विदेशों में ख्याति अर्जित की थी। पाल शासक धर्मपाल (775 ईस्वी से 800 ईस्वी तक) ने यहाँ अनेक बौद्ध मठ और विहारों का निर्माण करवाया था तथा उसके अर्थ प्रबंधन हेतु मुक्तहस्त दान दिया था। व्याख्यान के लिये उसने अनेक विशाल भवनो का निर्माण करवाया था। साक्ष्यो से विदित होता है कि तिब्बत और विक्रमशिला में चार शताब्दियों तक ज्ञान विनिमय होता रहा। तिब्बत के ज्ञानपिपासु छात्र विक्रमशिला के विद्वानों के पास अध्ययन के निमित्त आते थे।[97] तिब्बती सूत्रो से ज्ञात होता है कि विक्रमशिला के विद्वानों मे बुद्ध, ज्ञानपद, वैरोचन, रक्षित, जेतारि रत्नाकर, शांति, ज्ञानश्रीमित्र, रत्नव्रज, अभयंकर गुप्त, तथा–गतरक्षित तथा अन्य दर्जनों विद्वान न केवल संस्कृत ग्रंथों की रचना की थी, बल्कि उन्हें तिब्बती भाषा में अनुवाद भी किया था। दीपंकर श्री विक्रमशिला के विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ थे, जो तिब्बती शासक चान–चू के निमंत्रण पर तिब्बत गये थे। तिब्बती जनश्रुति उन्हें 200 मौलिक और अनुदित गंथों का रचनाकार बतलाती है।[98]

यहॉ के सामान्य प्रबंधन के नियामक महास्थविर होते थे। विभिन्न कार्यो का सम्पादन, जैसे प्रव्रज्या ओर उपसम्पदा संस्कार, भृत्यों की नियुक्ति और उनका निरीक्षण, भोजन और आच्छादन का समविभाग तथा विहार के अन्य कार्यो को निष्पादित करने के लिए परिषदों का गठन किया गया था। जिसके सदस्य सहयोग प्रदान करते थे। बौद्ध अध्यापक सादगी एवं पवित्रता का जीवन व्यतीत करते थे।

जिज्ञासु प्रवेशार्थियों को बौद्ध धर्म और दर्शन के अतिरिक्त न्याय, तत्वज्ञान, व्याकरण आदि विषयों की शिक्षा दी जाती थी तथा शिक्षार्थियों के

समस्त शकाओ और जिज्ञासाओ का समाधान आचार्यों द्वारा किया जाता था। विदेशी छात्रो मे तिब्बती छात्र सर्वाधिक होते थे, जो बौद्ध धर्म एवं दर्शन की शिक्षा प्राप्त करने के लिए यहाँ आते थे। एक छात्रावास प्रायः तिब्बती छात्रों से ही भरा रहता था। शिक्षा समाप्ति के उपरान्त प्रत्येक शिक्षार्थी को उपाधि वितरित की जाती थी, जो दक्षता सम्बन्धी प्रमाण–पत्र होती थी।[99] पाल शासक धर्मपाल ने 108 शिक्षको को शिक्षा प्रदान करने हेतु नियुक्त कर रखा था।

विश्वविद्यालय का अर्थ–प्रबन्धन राजाओ, सामन्तों, श्रेष्ठियों और सामान्यजनो के दान तथा भेट पर आधृत था। भोजन, वस्त्र एव आवास का प्रबध विश्वविद्यालय की ओर से किया जाता था। सस्थान के लगभग सभी शिक्षक प्रबंधन में सहयोग प्रदान करते थे। छ द्वार पंडितों की समिति द्वारा इसका सचालन होता था, जिसका प्रधान महास्थविर होता था। 10वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इसके प्रथम द्वार पर काश्मीरवासी रत्नव्रज, द्वितीय द्वार पर गौडवासी ज्ञान श्री मित्र, तृतीय द्वार पर रत्नाकर शांति, चतुर्थ द्वार पर वागीश्वर कीर्ति, पंचम द्वार पर नरोप तथा षष्ठ द्वार पर प्रज्ञाकरमति बैठते थे।

कालान्तर में नालन्दा की भॉति इन्हें भी बख्तियार खिलजी के हाथों नष्ट होना पडा।

बौद्ध विद्यापीठ

बौद्ध आचार्यों की जीवनी तथा चीनी और तिब्बती यात्रियों के विवरण से ज्ञात होता है कि छठी–सातवी शताब्दी मे विश्वविद्यातयीय शिक्षण संस्थाओं के अतिरिक्त देश के विभिन्न भागों में कई छोटे–छोटे अन्य शिक्षण केन्द्र भी थे, जहाँ बौद्ध धर्म एवं दर्शन के अतिरिक्त अन्य विषयों की शिक्षा दी जाती थी।

चीनी यात्री फाह्यान के अनुसार कश्यप बुद्ध संधाराम बौद्ध शिक्षा के लिये प्रसिद्ध था, जहाँ पांच मंजिली इमारत निर्मित थी, और वहाँ हजारों भिक्षु

निवास करते थे। प्रत्येक मंजिल किसी न किसी पशु–पक्षी की आकृति की थी। पहला तल हाथी के आकार का था, जिसमें 500 गुहागृह बने थे; दूसरा तल सिह के सदृश था, जिसमे 400 कक्ष बने थे; तीसरा तल घोड़े के सदृश था, जिसमे 300 प्रकोष्ठ थे, चौथा तल बैल की आकृति का था, जिसमे 200 कक्ष बने थे एवं पाचवां तल कबूतर की आकृति का था, जिसमें 100 कमरे बने थे। सबसे ऊपर एक जल प्रपात था। प्रकोष्ठो में प्रकाश के लिये गवाक्ष बनाये गये थे तथा नीचे से ऊपर जाने के लिये सीढियॉ बनी हुई थी। यहॉ बौद्ध भिक्षु धर्म एव दर्शन की शिक्षा प्राप्त करते थे।

चीनी यात्री ह्वेनसांग ने अपने भारत यात्रा के दौरान विभिन्न बौद्ध मठो एव विहारो में प्रवास कर न केवल बौद्ध धर्म एवं दर्शन की शिक्षा प्राप्त की थी, बल्कि महत्वपूर्ण ग्रंथो की पांडुलिपियां तैयार कर उसे अपने साथ चीन ले गया था। उसके विवरण से निम्न मठों एवं विहारो की जानकारी प्राप्त होती है।

काश्मीर स्थित बौद्ध विहार का एक वृद्ध भिक्षु उसे शास्त्रों के अतिरिक्त कोश, न्याय, हेतु इत्यादि विषयों की शिक्षा दी थी। उसकी विद्वता से प्रभावित होकर अन्य स्थानों के शिक्षार्थी भी उसका व्याख्यान सुनते थे।[100]

जालधर स्थित विहार भी बौद्ध शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था, जहाँ ह्वेनसांग ने 4 माह तक प्रवास कर सर्वास्तिवाद का अध्ययन किया था। उसने नागार्जुन के प्रमुख शिष्यों से भी शैक्षिक–वार्ता की थी।[101]

अपने शैक्षिक यात्रा के क्रम मे उसने श्रुधन के मठ में भी वसन्त एवं वर्षा ऋतु में कुछ समय व्यतीत कर बौद्ध विद्वान जयगुप्त से शिक्षा प्राप्त किया था।[102] मतिराम के संघाराम में कुछ समय प्रवास कर बौद्ध विद्वान मित्रसेन से अभिधर्मज्ञानप्रस्थान–शास्त्र की शिक्षा प्राप्त की थी।[103]

कान्यकुब्ज स्थित भद्र नामक बौद्ध विहार में तीन माह प्रवास कर आचार्य वीर्यसेन से त्रिपिटक का ज्ञान प्राप्त किया था।[104]

उसने अपने वर्णन मे वाराणसी के 30 ऐसे विहारों का उल्लेख किया है, जहॉ सर्वास्तिवाद की शिक्षा दी जाती थी।[105]

हिरण्य (मुगेर) के सघाराम में वसुबन्धु के मित्र संघभद्र द्वारा लिखित न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था।[106]

अन्य विहारों में आंध्र प्रदेश स्थित अमरावती का विहार भी वर्णित है।[107]

ललित विस्तर से ज्ञात होता है कि कपिलवस्तु भी विद्या और शिल्प का प्रमुख केन्द्र था, जहाँ स्वयं बुद्ध विभिन्न विषयो की शिक्षा एवं शिल्पों का ज्ञान प्राप्त किये थे।

जातक साहित्य से विदित होता है कि वैशाली भी बौद्ध शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र था, जहॉ बुद्ध ने कई भिक्षुओ को उपदेश दिया था।

इस प्रकार नालन्दा, वलभी एवं विक्रमशिला जैसे प्रसिद्ध शिक्षण सस्थाओं के अतिरिक्त बुद्ध के समय और उनके उपरान्त वैशाली, राजगृह, श्रावस्ती और कपिलवस्तु जैसे प्रसिद्ध नगर भी बौद्ध शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे। वैशाली के आम्रवन विहार, राजगृह के वेणुवन विहार और कपिलवस्तु के निग्रोधारामवपूर्वाराम विहार प्रसिद्ध शिक्षण केन्द्र थे। इन विहारों में बौद्ध विद्वानों के मध्य अनेक दार्शनिक प्रश्नो पर न केवल वाद विवाद होता था, बल्कि विभिन्न विषयो पर चर्चाएं भी होती थी, जिनमें बौद्ध भिक्षुओं के अतिरिक्त सामान्य जन भी सम्मिलित होते थे।

शिक्षण संस्थाओं का आर्थिक प्रबंधन

प्राचीन भारत में दान को विशेष महत्व प्राप्त था, चाहे वह विद्या दान हो या विद्या के लिये धन दान। यद्यपि धन दान से अधिक महत्व विद्यादान का था। स्मृतियों में वर्णित है कि भूमि दान से अधिक पुण्य विद्यादान से मिलता

है।[108] धन लेकर विद्या देना निन्दनीय समझा जाता था। जिस प्रकार गुरु का यह धर्म था कि वह प्रत्येक शिक्षार्थी को बिना किसी भेद–भाव के निःशुल्क शिक्षा प्रदान करे, उसी प्रकार राजा, सामन्त एवं प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य था कि वह प्रत्येक शिक्षक एव शिक्षार्थी की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति सुनिश्चित करे। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के दान एवं शासक वर्ग का सहयोग आय के मुख्य स्रोत थे।

शिक्षा के विकास में शासक वर्ग एव समाज के प्रत्येक नागरिक का योगदान सराहनीय रहा। किसी भी शिक्षार्थी को शिक्षा से वंचित रखना निन्दनीय समझा जाता था तथा शिक्षा के लिए दान न देना पाप समझा जाता था। शासक एवं कुलीन वर्ग के अतिरिक्त समाज के प्रत्येक व्यक्ति का यह धर्म था कि वह शिक्षा के उत्थान हेतु अपना यथोचित सहयोग प्रदान करे। प्रत्येक ब्रह्मचारी को भिक्षा देना, शिक्षा समाप्ति के उपरान्त अपने गुरु को गुरु दक्षिणा अर्पित करना, श्राद्ध के अवसर पर विद्वानों को दान देना, विभिन्न उत्सवो पर उन्हें भोजन कराना एवं दान देना, विभिन्न अवसरों पर उपहार वितरित कर उन्हें प्रोत्साहित करना, संस्थाओं को सुचारू रूप से चलाने के लिए कर मुक्त भूमि दान में देना आदि ऐसे कार्य थे, जिनसे शिक्षण कार्य बिना किसी अवरोध के सुचारू रूप से चलता था। साक्ष्यों से विदित होता है कि मध्यान्ह में कोई भी भूखा ब्रह्मचारी भिक्षा के निमित्त किसी के दरवाजे पर दस्तक दे, तो उसे खाद्य पदार्थ दान में अवश्य देना चाहिए। ऐसा न करना और ब्रह्मचारी को खाली हाथ वापस लौटाना अत्यन्त निन्दनीय समझा जाता था और उस कुटुम्ब को पाप का भागी माना जाता था।[109] प्रत्येक गृहस्थ का यह धर्म था कि वह आगन्तुक ब्रह्मचारी को भिक्षा प्रदान करे।[110] विष्णु स्मृति के अनसुार, ब्रह्मचारी, यति और भिक्षु का जीवन गृहस्थों पर निर्भर करता है।[111] प्राचीन भारत में श्राद्ध का विशेष धार्मिक महत्व था। यह संस्कार प्रत्येक माह सम्पन्न होता था। ऐसे अवसरों पर प्राप्त होने वाले दान का बड़ा महत्व था, जिसकी मात्रा भी अधिक होती थी।[112] इस प्रकार प्राचीन भारत में सामाजिक

एव धार्मिक अवसरो पर अधिकाधिक शिक्षक और शिक्षार्थियों को आमन्त्रित करने की परम्परा थी, जहॉ उन्हें भोजन के साथ–साथ उपहार स्वरूप दान भी दिया जाता था, तक्षशिला जैसे महत्वपूर्ण शिक्षण केन्द्रो पर यह प्रथा अत्यधिक प्रचलित मे थी।[113] जहॉ के शिक्षक और शिक्षार्थी विभिन्न आयोजनों पर आमन्त्रित किये जाते थे। उपनयन और विवाह जैसे महत्वपूर्ण सस्कारो पर भी विद्वानो को पर्याप्त धन दान देने की परम्परा थी।[114] शिक्षा समाप्ति के उपरान्त गुरुदक्षिणा मे प्राप्त धन भी आय के महत्वपूर्ण स्रोत होते थे। ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि समाज के धनी व्यक्ति अपने बच्चो को शिक्षित करने के उद्देश्य से अध्यापकों की नियुक्ति करते थे, जहॉ गांव के निर्धन बच्चे भी शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से जाते थे। स्थानीय पाठशालाओं में होने वाले व्यय का निवर्हन कभी–कभी सम्भ्रान्त व्यक्ति स्वय करते थे तथा ऐसे लोग शिक्षा के उत्थान एव विकास के लिये कर मुक्त भूमि भी दान में देते थे। अंग्रेजों द्वारा पजाब जीतने के समय डॉ. लैटनर वहॉ पर प्रथम शिक्षा कमिश्नर नियुक्त हुए थे, का कथन है कि[115] – ज्ञान का समादर करना प्राचीन काल से ही एशिया की विशेषता रही है। पंजाब इसका अपवाद नहीं है। वाह्य आक्रमण एवं गृह युद्ध से यद्यपि आज यह जर्जर हो चुका है, तथापि अपनी शिक्षण संस्थाओं को सुरक्षित रखा है तथा उसमें अभिवृद्धि ही हुई है। खूंखार से खूंखार सरदार, कौडियों को दातों से पकडने वाले महाजन भी शिक्षण संस्थाएं खोलने और विद्वानों को आदर प्रदान करने मे अत्यन्त आत्मिक शांति का अनुभव करते हैं। ऐसा कोई भी मंदिर, मस्जिद या धर्मशाला नही, जिससे सम्बद्ध कोई न कोई पाठशाला चलता न हो। शायद ही ऐसा कोई धनी बचा हो जिसने अपने बच्चों को पढाने के लिये मौलवी, पंडित या गुरु न रखा हो। ऐसे सैकड़ों धर्मोपदेशक मिल जाएंगे, जो धर्म एवं ईश्वर के नाम पर निःशुल्क शिक्षण कार्य करते हैं। प्रत्येक किसान अपनी उपज का एक अंश विद्वानों को दान देकर गर्व अनुभव करता है।'' इस उद्धरण से प्राचीन भारतीय शैक्षिक महत्व को समझा जा सकता है।

शायद ही कोई धर्मशास्त्र ऐसा हो जिसमे शिक्षा को प्रोत्साहन देना राजा का कर्तव्य न बतलाया गया हो।[116] साक्ष्यो से विदित होता है कि शासक वर्ग दो प्रकार से शिक्षण संस्थाओं को सहायता प्रदान करते थे – प्रत्यक्ष एव परोक्ष। शिक्षण संस्थाओ की स्थापना कर और उन्हे कर मुक्त भूमि दान मे देकर प्रत्यक्ष रूप से शिक्षा को प्रोत्साहित करते थे। गुप्त शासक कुमार गुप्त प्रथम ने न केवल नालन्दा विश्वविद्यालय की स्थापना करवायी थी, बल्कि उसके कुशल संचालन हेतु गुप्तो द्वारा 200 गाव भी दान में दिये गये थे। तक्षशिला जैसे शिक्षण संस्थाओ को न केवल शासक वर्ग, बल्कि समाज के सम्भ्रान्त एवं सर्वसाधारण वर्ग भी अपना सहयोग प्रदान कर शिक्षा को प्रोत्साहित करते थे तथा समय–समय पर विद्वानों को सम्मानित कर उनके प्रति स्वय को ऋणी महसूस करते थे। राज्याभिषेक जैसे आयोजनों पर विद्वान ब्राह्मणों को सम्मानित कर उन्हें कर मुक्त गाव देकर बसा दिया जाता था, जो कालान्तर में शिक्षण केन्द्र के रूप में विकसित होते थे। कनिष्क, चन्द्रगुप्त द्वितीय, हर्ष एवं धर्मपाल जैसे उदार शासक अपने दरबार में आने वाले अधिकांश विद्वानों को कर मुक्त भूमि–दान कर एवं अन्य सहयोग प्रदान कर न केवल उन्हे सम्मानित करते थे, बल्कि शिक्षा को भी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में प्रोत्साहित करते थे।[117] ताम्रपत्रो से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीय शासक निर्मल चरित्र वाले विद्वानों को दान देकर उन्हें सम्मानित एवं प्रोत्साहित करते थे। ये विद्वान निःशुल्क शिक्षा प्रदान कर शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करते थे। निश्चित रूप से यदि राज्य का पर्याप्त सहयोग नहीं मिला होता तो पतजलि कालिदास, बाण, भवभूति, अमरसिंह, आर्यभट्ट, वाराहमिहिर, चरक, शुश्रुत, अश्वघोष, वसुमित्र, दण्डी, वाक्पति, राजशेखर और विशारवदत्त जैसे विद्वान अवतरित होकर ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में अपना योगदान अर्पित नहीं कर पाते। विद्वानों को प्रोत्साहित करना और शिक्षण संस्थाओं के कुशल सचालन हेतु उन्हें हर प्रकार के सहयोग प्रदान करना भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है। 19वीं शताब्दी का अंतिम पेशवा बाजीराव द्वितीय भी प्रत्येक

श्रावण मास में विद्वानो को सम्मानित कर उन्हें दान स्वरूप में 5 लाख रु. देता था। स्पष्ट है कि भारतीय समाज विद्वान एवं विद्वता के महत्व को समझता था तथा शिक्षा के विकास में अपना यथोचित सहयोग प्रदान करता था जब भी इसकी उपेक्षा की गई समाज एवं राष्ट्र का विकास बाधित हुआ।

जहॉ तक परोक्ष सहयोग का प्रश्न है, योग्य एवं प्रतिभाशाली विद्यार्थियों को शिक्षा के निमित्त राज्य की तरफ से छात्रवृत्ति प्रदान की जाती थी।[118] राजदरबारो मे प्रायः शास्त्रार्थ हुआ करता था और उनमें विजयी विद्वान न केवल पुरस्कृत किये जाते थे,[119] बल्कि सरकारी सेवाओं में उन्हें वरीयता भी दी जाती थी। ऐसा उल्लेख मिलता है कि शासक वर्ग विभिन्न यज्ञावसरो पर विद्वत गोष्ठियॉ[120] आयोजित करते थे, जिसमें सम्मिलित होने हेतु विभिन्न क्षेत्रों के दक्ष विद्वान आते थे। इन विद्वत गोष्ठियों में ब्रह्मविषयक[121] शास्त्रार्थ भी होता था और विजयी विद्वान पुरस्कृत किए जाते थे। ऐसे कार्यो का प्रत्यक्ष प्रभाव नि.सन्देह जनमानस पर पडता था। उपनिषद कालीन शासकों के मध्य, जो विद्या प्रेमी होते थे, प्रतिस्पर्धा भी होती थी। जनक के दरबार मे बहुसंख्यक विद्वान न केवल उपस्थित होते थे, बल्कि अपनी विद्वता के कारण पुरस्कृत एव सम्मानित किये जाते थे। ऐसा उल्लेख मिलता है कि काशी नरेश अजातशत्रु इस बात को लेकर चिन्तित[122] रहता था, कि मेरे दरबार मे भी बहुसख्यक विद्वान उपस्थित हों। निश्चित रूप से राज्य के प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष सहयोग और प्रोत्साहन के कारण ही प्राचीन गुरुकुलीय शिक्षा प्रणाली और बौद्धशिक्षा पद्धति प्रतिष्ठा को प्राप्त हुई तथा बहुसंख्यक विद्वान अवतरित हुए, जो अपनी बहुमुखी प्रतिभा से भारतीय संस्कृति को लाभान्वित कर आदर्श समाज के निर्माण में विशिष्ट योग दिये। प्राचीन विद्वानों में भृगु, पाराशर, मनु, वशिष्ठ, विश्वामित्र, भारद्वाज, आगस्त्स्य, सुमन्तु, वैश्म्पायन, जैमिनी, शौनक, कात्यायन व्यास, सत्यकाम जाबाल, गौतम, बृहस्पति, नारद, दुर्वासा, परशुराम, वाल्मीकि, द्रोणाचार्य, पाणिनि, पतंजलि, जीवक, चाणक्य आदि का उल्लेख किया जा सकता है, जिन्होंने अपने ज्ञान एवं प्रतिभा से भारतीय शिक्षा को

समृद्ध किया। गुप्त शासकों के कर्मचारियों में अनेक कवि एवं नीतिशास्त्र के पडित थे,[123] जो विद्वान स्नातक राज्य सेवा से वंचित रह जाते थे, उन्हे राज्य द्वारा आर्थिक सहायता प्रदान कर उनकी जीविका का मार्ग प्रशस्त किया जाता था।[124] धर्मसूत्रो से ज्ञात होता है कि ब्रह्मचारियो तथा निर्धन विद्वानों को दान देना राज्य अपना परम कर्तव्य समझता था[125] और गुरुदक्षिणा के लिये सहायता मांगने वाले स्नातकों को दान करने वाले शासकों की प्रतिष्ठा को आघात पहुंचता था।[126] गडे निधियो के सबध में जो कानून स्थापित थे, उनसे भी विद्याप्रसार के लिये पर्याप्त आय होती थी।[127] गुरुकुलों मे निवास करने वाले विद्यार्थियों के लिए लिमिटेशन कानून मे पर्याप्त छूट थी।[128]

प्राचीन भारतीय शासक शिक्षा के लिए दान तो देते थे, लेकिन प्रबन्धन पर नियंत्रण रखने की कोशिश नहीं करते थे। यह कार्य विद्वत समाज स्वयं करता था। शिक्षण–संस्थाओं पर सरकारी नीति लादने तथा उनपर अपना नियंत्रण स्थापित करने के लिए शिक्षा निदेशक या निरीक्षक जैसे सरकारी पदों का उल्लेख नहीं मिलता। जैसा कि वर्तमान व्यवस्था में देखने को मिलता है। विद्वान आचार्यो को दान देने से पूर्व यह शर्त नहीं रखी जाती थी कि वे निःशुल्क शिक्षा वितरित करेगे। आचार्यो को दान देना सभी का परम कर्त्तव्य था तथा सभी को नि शुल्क शिक्षा वितरित करना शिक्षक का नैतिक धर्म था। दोनो पक्ष अपने नैतिक कर्त्तव्यो से युक्त थे तथा इसके लिये वे सर्वथा निष्ठावान बने रहे। गुप्त शासक नालन्दा को सैकडों गांव दान में दिये थे लेकिन उन्होंने कभी यह शर्त नही रखी कि बौद्ध धर्म राज्य के प्रति अमुक प्रकार से काम करे या अमुक विषयो की शिक्षा दे।[129] जबकि, वर्तमान अधिनायकवादी राज्यों की सरकारें शिक्षा को अपनी नीति और विचारों के प्रचार का एक साधन बना लिया है। आज निश्चित रूप से दोनों वर्ग अपने–अपने नैतिक कर्तव्यों एवं दायित्वों से विमुख और विचलित हो चुके हैं, जिसके कारण शिक्षा का न तो समग्र रूप से विकास हो पा रहा है और न ही वर्तमान शिक्षा व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करने में सफल हो पा रही है।

प्राचीन शिक्षा का तात्पर्य बोध से था, चितन से था, शाश्वत मूल्यो से था, जिसका अभाव वर्तमान शिक्षा मे है। आज शिक्षा का तात्पर्य, महज साक्षरता और रोजगार से है।

मध्यकालीन यूरोप मे शिक्षण संस्थाए चर्च द्वारा संचालित होती थी। शिक्षा के लिये धन जुटाना, अध्यापकों की नियुक्ति, अध्यापक एवं छात्रों की व्यवस्था तथा पाठ्यक्रमों का् निर्धारण भी वही करता था।[130] कैम्ब्रिज और ऑक्सफोर्ड जेसे विश्वविद्यालय ब्रिटिश सरकार के किसी प्रस्ताव या आदेश से नही बने थे, बल्कि कुछ विद्वानों ने वहा एकत्र होकर विद्या की ज्योति जगायी थी। उनकी निष्ठा और उदारता से प्रभावित होकर वाल्टर डी मेटर्न और वीकेनहम जेसे दाताओं ने दान देकर कॉलेज के लिये भवन ओर छात्रावास बनावाये थे।[131] इस तरह की परम्परा प्राचीन भारत में अत्यधिक थी। यद्यपि वर्तमान समय में कतिपय उक्त परम्पराओं का निर्वहन हो रहा है। आज भी ऐसी शिक्षण सस्थाए हैं, जिनकी निष्ठा और उदारता से प्रभावित होकर विभिन्न दानदाताओं, सामाजिक सगठनों और राज्य सरकारें उन्हें विभिन्न माध्यमों से प्रोत्साहित एव उपकृत करती हैं। लेकिन इसकी संख्या बहुत कम है। 19वी शताब्दी तक यूरोपीय शिक्षा चर्च, दान दाताओं और विभिन्न कारपोरेशनों पर आश्रित थी। सर्वप्रथम 1832 में वहां की सरकार ने प्रारंभिक शिक्षा के लिए 2000 पौंड अनुदान देकर प्रारंभिक शिक्षा के विकास का मार्ग प्रशस्त किया था। फ्रास में राज्य क्रांति के बाद ही राज्य ने शिक्षा के विकास पर ध्यान दिया था। मार्टिन लूथर का विचार था कि शिक्षा का उत्तरदायित्व राज्य को स्वयं अपने ऊपर ले लेना चाहिए, क्योंकि जर्मनी में इसका अच्छा प्रभाव देखने को मिला था, लेकिन भारत में अति प्राचीन काल से ही ऐसे दायित्वों का सम्यक् निवर्हन करना राज्य का परम कर्त्तव्य एवं धर्म था। यही कारण है कि प्राचीन शिक्षा न केवल अपने उद्देश्यों में सफल रही, बल्कि ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में अविस्मरणीय प्रतिमान स्थापित कर भारतीय संस्कृति को समृद्धि की। स्पष्ट है कि प्राचीन शिक्षा के विकास में समाज के प्रत्येक वर्ग का सम्यक् सहयोग मिला और उनका सहयोग ही आर्थिक प्रबन्धन का आधार बना।

जहाँ तक शुल्क का प्रश्न है, चाहे वह प्रवेश शुल्क हो, शिक्षण शुल्क हो या परीक्षा शुल्क, यह निर्विवाद है कि गुरुकुलो, देवालयों, विद्यापीठों, बौद्ध मठो एव विहारो के अन्तर्गत चलने वाली शिक्षणशालाओ में विद्यार्थियो को निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी। धन के अभाव मे किसी भी शिक्षार्थी को विद्यादान से इंकार नही किया जा सकता था, क्योकि ऐसे अध्यापकों को ऋत्विक् कार्य के अयोग्य समझा जाता था[132] तथा उसे विद्या का व्यवसायी कहकर निन्दा की जाती थी। शिक्षक और शिक्षार्थी का सम्बन्ध परस्पर श्रद्धा, विश्वास और निष्ठा पर आधारित होता था। समित्पाणि[133] होकर आये जिज्ञासु शिक्षार्थी ही ब्रह्मचारी बनते थे। अग्नि पूजक ऋषियो के लिये समिधाओ से उपयोगी कोई अन्य वस्तु नही होती थी। ज्ञान के लिए वैभवयुक्त गमन करने वालो को निन्दनीय समझा जाता था।[134] समित्पाणि होकर गमन करने वाले शिक्षार्थी को ही शिक्षा दी जाती थी। अतः दोनों के मध्य किसी व्यवसायिक भावना का अस्तित्व स्वीकार्य सभव नही था।[135] इसीलिए प्राय सभी स्मृतिकारों ने प्रवेश के पूर्व किसी प्रकार का शुल्क लेना निन्दनीय समझा था। किन्तु जो अभिभावक स्वेच्छा से धन देने हेतु तत्पर रहते थे, उसे ग्रहण करने में उन्हें कोई आपत्ति नही थी। अतः इन उपहारों को 'शुल्क' शब्द से समीकृत करना असंगत होगा। क्योंकि, शुल्क अनिवार्य होता है और यह अनिवार्य नहीं था। एक तरफ अध्यापको को यह स्मरण कराया जाता था कि वे अपने शिक्षक धर्म का सम्यक् निर्वहन करे, वहीं अभिभावकों से यह कहा जाता था कि इस संसार में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जिसे अर्पित कर गुरु ऋण से मुक्त हुआ जा सके।[136] यह व्यवस्था संभवतः इसलिए की गई थी, ताकि शिक्षण कार्य सुचारू रूप से चलता रहे और शिक्षक भी जीविका के संकट में न फंसे। वह राग–द्वेष से रहित होकर ज्ञान की मशाल जलाए रखे तथा उसका जीवन निर्वाह सम्यक तरीके से होता रहे। यद्यपि गुरु अपने शिष्यों से उपहार की अभिलाषा नहीं रखते थे, किन्तु शिक्षोपरान्त शिष्य उन्हें उपहार अवश्य देते थे। ऐसी मान्यता थी कि आचार्य शिष्य को उपदिष्ट किये बिना उपहार ग्रहण नहीं कर सकता।[137] गुरु दक्षिणा

का अधिकारी वह विद्या समाप्ति के उपरान्त ही होता था,[138] लेकिन कतिपय समृद्ध अभिभावक उपनयन के पूर्व ही अपनी क्षमतानुसार उपहार अर्पित कर देते थे।[139] राजा जनक[140] और जानश्रुति द्वारा उपहारों से सिद्ध होता है कि आचार्य कुलों को सम्पन्न बना देने का प्रयास राजन्यो द्वारा होता था। विद्या प्राप्ति के उपरान्त सामर्थ्य रखते हुए भी गुरु दक्षिणा अर्पित न करने वालो को समाज मे अत्यन्त हेय दृष्टि से देखा जाता था। 'मिलिन्द पन्ह' से ज्ञात होता है कि यवन नरेश मेनान्डर बौद्ध आचार्य नागसेन से शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त गुरुदक्षिणा स्वरूप बहुमूल्य वस्त्र एवं आभूषण भेंट की थी, लेकिन, आचार्य नागसेन ने उसे यह कहकर ठुकरा दिया था कि मै तो भिक्षु ठहरा, विलास के ये वस्तु मेरे किस काम के है। किन्तु, मिलिन्द ने विनयपूर्वक यह कहा कि आपसे जो अमूल्य ज्ञान हमने प्राप्त किया है, उसके बदले में मैं कुछ भी न दूं तो लोग मुझे क्या कहेंगे, समाज क्या कहेगा ?[141] जातक सहित्य से विदित होता है कि जिनके अभिभावक निर्धन थे, उनसे आशा की जाती थी कि वे आचार्य की गृहस्थी में कुछ सहयोग प्रदान करेंगे तथा शिक्षा समाप्ति के उपरान्त भिक्षा मांगकर गुरु दक्षिणा अर्पित कर देंगे।[142] ऐसे निर्धन विद्यार्थी जो शिक्षा समाप्ति के उपरान्त गुरु दक्षिणा अर्पित करने के उद्देश्य से भिक्षा मागते थे, उनकी सहायता न करना अत्यन्त निन्दनीय समझा जाता था।[143] समाज के समृद्ध व्यक्तियों, शासकों एवं सम्पन्न विद्यार्थियों से अधिकाधिक दान की आशा की जाती थी। पर्याप्त दान मिलने की स्थिति मे प्रत्येक शिक्षार्थियो को निःशुल्क भोजन, वस्त्र, आवास एवं चिकित्सीय व्यवस्था सुलभ करायी जाती थी, लेकिन पर्याप्त दान न मिलने की स्थिति में प्रत्येक शिक्षार्थियों को भिक्षाटन के द्वारा अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पड़ती थी। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में किसी प्रकार का शिक्षण-शुल्क लेना अत्यन्त निन्दनीय समझा जाता था तथा विभिन्न प्रकार के उपहार एवं दानादि से ही शिक्षण कार्य सुचारू रूप से चलता था।

सन्दर्भ

1 डॉ ए.एस. अल्टेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति।

2 विश्वरूप, याज्ञ., 1.15

3 गौ ध. सू., 2.50

3.A अनभिरति जातक (जिल्द–2, पृ. 185) पिट्टि अचरय से और महाधम्उरीदमपाल जातक (जिल्द–4, पृ. 447) मे जेठन्तेवसिक की नियुक्ति का वर्णन मिलता है।

4. स्टान्टन दी ग्रेट स्कूल ऑफ इगलैण्ड, पृ. 15

4 A लज्जाराम तोमर, भारतीय शिक्षा के मूल तत्व, पृ. 26–27

5. विष्णु पु., 3.10.12, ततोऽनन्तरसस्काररसस्कृतो गुरुवेश्मनि .... कुर्याद्द्विग्रहम्।

6. छान्दोग्य उपनि. 6.1.1–3

6A. पा. गृ. सू., 2.3, करथ एव ब्रह्मचार्यसि। भवत इत्युच्यमाने इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यसि अग्नि राचार्यस्तव अहमाचार्यस्त।

अश्व. गृ. सू., 1.20.4

7. छां. उपनि. 2.23.1, 4.9.1., 4.10.1

8. विष्णु पु., 3.10.12

9. मतस्य पु., 26 1

10. रामायण, 6.123.51, 2.55.9–11

11. महाभारत, 3.271.48, 1.70.18

12. छां. उपनि. 4.10–15

13. वही, 4.4–9

14. वही, 4.4.5

15. मनु., 2.69

16. महाभारत, 5.44.6

17. जातक, 6, पृ. 32

18. अंगुत्तर निकाय, पृ. 371

19. मज्झिम निकाय, 2, 133–34
20. फ्लीट, कार्पस इंस्क्रिप्शन्स इंडकेरम्, भाग–3, अभिलेख 56
21. ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ. 168
22. रामायण 7.101, 10–16
23. महाभारत, 1.3.20
24. जातक, 1, पृ. 272.285, 2, पृ. 85.87, 3 पृ. 238, 4 पृ. 50.309.312
25. वही, पृ. 158
26. वही, 3, पृ., 115
27. जातक, 5, पृ. 405
28. वही, 5, पृ. 457
29. जातक, पृ. 252
30. जातक पृ. 456
31. जातक, 3, पृ. 93
32. मिलिन्द पन्हो, 6.2
33. जातक, 1, पृ. 272.285, 4 पृ. 50.224
34. वही, 3 पृ. 522
35. जातक, 5, पृ. 498
36. जातक, 5, पृ. 263, 3, पृ. 238
37. जातक, सं. 150.80, तक्कसिल गत्वा सब्बसिप्पाणि उग्गहिणत्वा वाराणसिय दिसापामोक्खो आचारियो हुत्वा पचमाणवकसतानि सिप्पं वाचेति।।
38. वाटर्स 2, पृ. 48
39. भविष्यपुराण, ब्रह्मखड अध्याय, 51.2.3
40. ग्यारहवी सदी का भारत, पृ. 176
41. इ.ए. जिल्द, 21, स. 220
42. सा.इ.ए.रि. 1912. 1921 की 201
43. वही, 1917 पृ. 122–24
44. वही,
45. वही. जिल्द 4, पृ. 335

46. हैदरा. आके. सं., 8, पृ. 7
47. इ.ए., भाग–10, पृ. 129–31
48. इ.ए., जिल्द–5, पृ. 22
49. ए.क., 1, सं.–45
50. सा.इ.ए.रि., 1913, पृ. 109–10
50A. जातक सं., 456, विजयनगर में ऐसी प्रथा विद्यमान थी
51. इ.ए., जिल्द–13, पृ. 317
52. ए.क, भाग–5, पृ. 144
53. एतेषु किलाग्रहारेषु के चिज्जपन्ति। अपरे पाठयन्ति। केचित्पठन्ति अन्ये तत्वविद्यामुपदिशन्ति। इतरे अध्यापयन्ति। पश्च–पश्च केरलाभरणम्।
54. इ.ए., भाग–16, पृ. 14
54.A लज्जाराम तोमर, भारतीय शिक्षा के मूलतत्व, पृ. 130–1
55. वाई के जिस प्रसिद्ध प्राज्ञपाठशाला द्वारा धर्म कोश पर कार्य हो रहा है, वहाँ के न केवल विद्यार्थी बल्कि अध्यापक भी भिक्षा मांगकर जीविकोपार्जन करते थे। इसके संस्थापक 75 साल की अवस्था में भी मधुकरी मांगकर भोजन करते थे।
56. वैखानस धर्म–प्रश्न, 35.13.2.62
57. एंशिएन्ट इंडियन एजूकेशन, पृ. 443
58. चुल्लवग्ग, 6–5, 6–17
59. बील, पृ. 70–71
60. वाट्र्स, 2, पृ. 180
61. बील, पृ. 74–79
62. एपि. ई., 17, पृ. 307
63. वाट्र्स, 2, पृ. 165
64. तक बुसु पृ., 105–6
65. बसुकृत, इंडियन टीचर्स, पृ. 148–49
66. वाट्र्स, 2, पृ. 164
67. एपि. इं., 20.43

यस्यामम्बुधरावलेहि शिखर श्रेणी बिहारावली।
मालवोर्ध्वविराजिनी विरचिता धात्रा मनोज्ञाभुव.।
नालन्दा हसतीव सर्वनगरी : शुभ्राभ्रगौरस्फुटर्च्यत्याशु।
प्रकरोस्सदागमकलाविख्यात् विद्वज्जना।।

68. वाट्र्स, 2, पृ. 180
69. इत्सिग, जो 10 वर्ष नालन्दा मे व्यतीत किया था, दान में प्राप्त 200 गॉवो का उल्लेख किया है। जबकि ह्वेनसांग के जीवनी– लेखक ने 100 गाँवों का ही उल्लेख किया है। संभव है बीच की अवधि में 100 और नये गॉव मिले हो।
70. सा.इ.रि., 1917, पृ. 1922–24
71. इत्सिग पृ. 106
72. वाट्र्स, 2, पृ. 165
73. वही
74. वही
75. जीवनी, पृ. 112
76. वाट्र्स, 2, पृ. 165
77. वही
78. जीवनी भूमिका, पृ. 27–36
79. वाट्र्स, 2, पृ. 165
80. वही
81. इत्सिंग, पृ. 176
82. वही, पृ. 1
83. विद्याभूषण–हिस्ट्री ऑफ इडियन लॉजिक, पृ. 516
84. वाट्र्स, 1, पृ. 160
85. जीवनी, पृ. 112
86. इ. ए. जिल्द, 17, पृ. 307; बील पृ. 74–79
87. बसु कृत इंडियन् टीचर्स ऑफ बुद्धिस्ट यूनिवर्सिटीज पृ. 36
88. बील, पृ. 177

89. वाट्र्स, 2, पृ. 246

90. क.स.सा., 32.42–43, अन्तेर्वेद्यामभूत पूर्वम वसदत्त इति द्विज.।
विष्णुदत्ताभिधानश्च पुत्ररतस्योपपद्यत।
स विष्णुदत्तो वयसा पूर्णषोडशवत्सर.।
गतु प्रवृत्ते विद्या–प्राप्यते वलभी पुरीम्।

91. इं.ऐ, 6, पृ. 11

92. इत्सिग, पृ. 177

93. वही, पृ. 176–177,

94. इ.ऐ., जिल्द 7, पृ. 67, सद्धर्मस्य पुस्तको पचयार्थम्।

95 इत्सिग, पृ. 177

96. भवदेव (1060–1110 ई.) को बालवलभी–भुजग कहा गया है। टीकाकार ने इसकी व्याख्या मे लिखा है कि 'पुरा किल वलभी नाम अध्ययनशाला आसीत्।'
इ. हि. क्वा. 1946 पृ. 134।

97. दास कृत इंडियन टीचर्स इन द लैंड ऑफ स्नो, पृ. 58

98. बसुकृत भारतीय आचार्य, पृ. 32.105

99. इडियन टीचर्स ऑफ बुद्धिस्ट यूनिवर्सिटीज, पृ. 30.47

100. बील (जीवनी), पृ. 70–71

101. वही, पृ. 74–76

102 वही, पृ. 78–79

103. वही

104. वही, पृ. 84

105. वही, पृ. 98

106. वही, पृ. 127

107. जीवनी, पृ. 69.70, 77.81.84.127.137

108. स्मृ. च.सं. कांड में वृह. का वचन पृ. 145
सहस्रसम्मिता धेनुरंवान्दश धेनवः।
दशानुंडुत्समं यानं दशयानसमं हयः।

दशवाजिसमा कन्या भूमिदानं च तत्समम्।
भूमिदानात्परं नास्ति विद्यादान ततोधिकम्।
गो. ब्रा., 2–5–7

109. आ.ध.सू., 1.2.24–25, स्त्रीणां प्रत्याचज्ञाणां समाहितो ब्रह्मचारी इष्ट दत्त हुत प्रजा पशून्ब्रह्मवर्चसमन्नाद्य वृक्ते।
110. गो.ध.सू., 5.16 ; विष्णु पु. 3.95, भिक्षान्नमशनीयात्।
111. विष्णु स्मृति, 59.27

    ब्रह्मचारी यतिर्भिक्षुर्जीवन्त्येते गृहाश्रमात्।
    तत्स्मादभ्यागतानेतान्गृहस्थो नामवान्येत्।।

112. सालोत्गी में ऐसी ही प्रथा थी, ए.ई., भाग–4, पृ. 60
113. जातक सं. 498
114. पुराणो ने इसका समर्थन किया है।
    शास्त्रे यस्माज्जगत्सर्व संश्रित च शुभा शुभम्।
    तरस्माच्छ़ास्त्रं प्रयत्नेन दातव्यं शुभकर्मणा। याज्ञवल्क्य (1–212) की टीका में अपरार्क द्वारा उद्धृत। नालन्दा और विक्रमशीला दोनों विश्व विद्यालयों में पुस्तकों के लिये दान का उल्लेख मिलता है।
115. ए हिस्ट्री ऑफ इंडिजिनस एजूकेशन इन द पंजाब, पृ.1, इंडियन एजूकेशन कमीशन, 1892 ई. मे उद्धृत।
116. मनु, 7.82 ; याज्ञ., 1.131: शुक्र ; 1.369 ; अथर्व., 20–21 महा., 13, अध्याय 59.60। भीष्म ने धर्म का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है। राजा विद्वानों को आश्रय तो देते थे, पर उनके साथ आश्रितो जैसा व्यवहार नहीं करते थे। महाराज रघु द्वारा कौत्स के साथ बहुत आदर से मिलना, दुष्यन्त द्वारा ऋषि कण्व के आश्रम मे जाते समय अपनी सारी सेना पीछे छोड़ देना सम्मान व प्रोत्साहन का द्योतक है।
117. अश्वघोष, चरक एवं सुश्रुत जैसे विद्वानों को कनिष्क द्वारा राज्याश्रय प्रदान किया जाना, सातवाहनों द्वारा विद्वानों को आश्रय देना, चन्द्रगुप्त द्वितीय के दरबार को नवरत्नो द्वारा शोभा बढ़ाए जाना, अन्य गुप्त शासको में कुमारगुप्त प्रथम, तथा गत गुप्त, नरसिंह गुप्त एवं बुद्धगुप्त

द्वारा नालन्दा को करमुक्त गॉव दान मे देना, हर्ष द्वारा जो कि स्वय एक विद्वान था, विद्वानो को आश्रय प्रदान किया जाना, यशोवर्मन द्वारा भवभूति एवं वाक्पति को राज्याश्रय प्रदान करना, राजशेखर को महेन्द्र पाल एवं महीपाल का आश्रय मिलना, पालों द्वारा विक्रमशीला की स्थापना व उसे प्रश्रय दिया जाना, चालुक्यो द्वारा कश्मीरी कवि विल्हण को आमत्रित किया जाना एव विज्ञानेश्वर को राज्याश्रय प्रदान करना आदि साक्ष्य प्राचीन शासकों के विद्याप्रेम एवं उदारता को रेखांकित करता है।

118. तक्षशिला मे कई शिक्षार्थी राजकीय—छात्र थे, जातक 522, शुक्र., 1.368, सर्वाविधाक लाभ्यासे शिक्षयेद्भवु तिपोषितान्। समाप्तविद्या त दृष्ट्वा तत्कार्ये त नियोजायते।।

119. बृ. उप., 2.11, मिथिला नरेश जनक और काशी नरेश जातशत्रु ने विद्वत शास्त्रार्थो का आयोजन किया था। विक्रमादित्य और हर्ष भी साहित्यिक परिचर्चा हेतु विद्वानो को आमत्रित करते थे।

120. वृह. उप. 3.1.1

121. वही, 3.8.1., 6.2.1

122. वही, 2.1.1.

123. फ्लीट, गुप्त इनिस्क्रप्सन्स, सं., 1—5, प्रयाग प्रशस्ति का लेखक हरिषेण समुद्रगुप्त का मत्री था। विक्रमादित्य का मंत्री शाब जो एक कवि एवं नीतिशास्त्र का पंडित था।

124. इत्सिग, पृ. 177—8, 7वीं सदी में वलभी में यह प्रथा विद्यमान थी।

125. 5.2 गुरु—दक्षिणा प्राप्त करने के उद्देश्य से कौत्स ने राजा रघु के पास गया था। किन्तु, वापस जाते समय महाराज रघु ने उससे कहा— गुर्वर्थमथी श्रुतपारदृष्ट्वा रघोः सकाशादनवाप्यकामम्। गतो ददान्यान्तरपित्ययं मे मा भूत्परीवादनवावतारः।।

126. आ. ध. सू, 2.10.26.17—18 एवं व. ध. सू. 15.19

अकरः श्रोत्रियः .... ये च विद्यार्थिनः सन्ति।

127. मनु., 8.35–9, किसी शासक को गडा हुआ धन प्राप्त होने पर उसका आधा भाग विद्वानो को दान कर देने की परम्परा थी। किन्तु, स्वय विद्वानो को मिलने पर वह उसका पूरा हिस्सा रख लेता था। जबकि सामान्यजन को प्राप्त होने की स्थिति मे उसका षष्टांश भाग राज्य कोदेने की परम्परा थी। याज्ञ., 2.34–5

128. स्मृति. च. सं. नारद का वचन, सैत्रेऽ बुक्स ऑफ ईस्टसिरीज, 3. पृ. 324–3–4

ब्रह्मचारी चरेत्कशिचद् व्रत षट्त्रिंशदाब्दिकम् समावृत्तो व्रती कुर्याद्धन स्यान्वेषणां तत । पचाशदाब्दिको भोगस्त द्धनस्थापहारकः।

129. वैटर्स, भाग–2, पृ. 164–65

नरसिह गुप्त बालादित्य ने इस प्रकार की छूट की इच्छा व्यक्त किया था, जिसे अस्वीकृत कर दिया गया था, अतः उसे केवल उपासकों मे अग्र स्थान मिला।

130. रेमण्ड कृत प्रिसपुल्स् ऑफ एजूकेशन, पृ. 13

131. मेह्यू, पृ. 77

132. मालवि., 1.17, यस्यागमः केवलजीविकायै त ज्ञानपण्यं वर्णिजं वदन्ति। वि. स्मृ., 30–39, यश्च विद्यामासाद्या अस्मिल्लोके तथा सह जीवेन्न सा तस्य फलप्रदा भवेत्। सौ. पु., 10–49

133. छा. उप., 5.11.7, 8.7.2

134. वही, 4.2.1, 4.2.3

135. मनरो कृत 'ए टेक्स्टबुक', पृ. 112

136. पाराशर स्मृति की टीका में माधव द्वारा उदधृत लघुहारीत का वचन, 1.2, पृ. 53

एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत्।
पृथ्वियां नास्ति तद् द्रव्यं यद्दत्वाऽनृणी भवेत्।।
मनरो कृत 'ए टेक्सट बुक', पृ. 414

137. बृह. उपं., 4.1.6

138. वही, 4.1

139. जातक, 55.61.445.447.522 आदि। विदित है कि अपने बच्चो को शिक्षा के निमित्त तक्षशिला भेजते समय धनी श्रेष्ठी एव शासक वर्ग के लोग अपनी गुरु दक्षिणा अग्रिम भेज देते थे। भीष्म ने कौरवो की शिक्षा प्रारंभ होने से पूर्व ही गुरु द्रोणाचार्य को दक्षिणा अर्पित कर दी थी। मिलिन्द पन्ह, भाग–1.17

140. बृह. उप., 4.1.6, छां. उप., 4.2.1

141. मिलि. पन्ह, भाग–1, पृ. 134–35

142. जातक, सं. 478, पच्चाधम्मेण भिक्ख चरित्वा आचारियधनं आहरिस्सामि।

143. रघुव., 5.24, कौत्स द्वारा अध्ययन समाप्ति के उपरान्त गुरु दक्षिणा के उद्देश्य से महाराज रघु के पास आने पर वे बोले – गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्दा रधो सकाशादनवाप्य कामम्। गतो बदान्यान्तरमित्ययं में माभूत्परी वादनवावतार:।।

● ● ● ● ●

पंचम अध्याय

स्त्री शिक्षा के स्वरूप एवं उसके विविध आयाम

किसी भी राष्ट्र के सांस्कृतिक विकास, उसके सरंक्षण एवं संवर्द्धन मे स्त्री शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इस दृष्टि से प्राचीन भारतीय शिक्षा पर्याप्त समृद्ध थी। शिक्षा का तात्पर्य वैदिक ज्ञान से था जिसके लिए उपनयन सस्कार का होना अनिवार्य था। चूकि, प्राचीन भारत मे यज्ञ को विशेष महत्व प्राप्त था, और पत्नी के अभाव मे यज्ञ अधूरा समझा जाता था, तथा उपनयन से सस्कारित व्यक्ति ही यज्ञ सम्पादित कर सकते थे। अत स्पष्ट है कि बिना किसी लिग भेद के उपनयन के अनन्तर दोनो वैदिक शिक्षा प्राप्त करते थे। यह स्थिति ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी तक यथावत बनी रही।

ऋग्वैदिक काल में पुत्री के जन्म पर दु.ख प्रकट करने और न ही लिग भेद का कोई प्रमाण मिलता है, किन्तु सामरिक वातावरण में पुत्र की अभिलाषा रखना स्वाभाविक था। प्रत्येक स्त्री अपनी–अपनी अभिरूचि के अनुसार विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करती थी। ऋग्वेद से अनेक ऋषिकाओं के विषय मे जानकारी प्राप्त होती है, जिन्होने अनेकानेक मंत्रों और ऋचाओं की रचना की थी।[1] उनके द्वारा विद्वत गोष्ठियों मे ऋचाओं के गान का भी उल्लेख मिलता है।[2] ऋग्वैदिक की 20 ऋषिकाओं में रोमशा, अपाला, उर्वशी, विश्ववारा, लोपामुद्रा, घोषा, सिकता, निवावरी काक्षीवती, आदि उल्लेखनीय है।[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्र में वे किसी भी प्रकार से पुरुषों से पीछे नहीं थी तथा उपनयन के अनन्तर ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करती थी। वेदाध्ययन एवं यज्ञ सम्बन्धी समस्त अधिकार उन्हें प्राप्त थे। शिक्षा मौखिक दी जाती थी, जो प्रायः व्यक्तिगत ही हुआ करती थी।[4] उच्चारण के सात प्रकार और वाक् की चार अवस्थाओं का वर्णन मिलना उच्चारण की शुद्धता को रेखांकित करता है। ऋग्वेद के एक मंत्र में मानसिक चिंतन तथा ध्यान का उल्लेख मिलता है,

जिसके परिणाम स्वरूप ज्ञान की पूर्णता प्राप्त होती थी।[5] यह उल्लेख मिलना कि 'अपाला' नामक कन्या वैदिक साहित्य मे रूचि रखने के साथ ही साथ अपने पिता के कृषिकार्य मे भी सहयोग प्रदान करती थी,[6] कृषि कार्य में स्त्रियो की अभिरूचि को सिद्ध करता है। तत्कालीन समय की अधिकाश स्त्रियॉ गृह कार्य के अन्तर्गत गाय दुहने का कार्य भी करती थी। अतः उन्हें 'दुहिता' कहा जाता था। वे सूत कातना, बुनना, वस्त्र सिलना आदि भी जानती थी।[7] विभिन्न कलाओ मे दक्ष होने के साथ ही साथ साहस ओर वीरता के क्षेत्र में भी वे पुरुषो से पीछे नहीं थी। ऐसा उल्लेख मिलता है कि "विष्पला" नामक स्त्री युद्ध मे गयी थी और घायल होने की अवस्था मे अश्विनों ने उसकी चिकित्सा की थी।[8] स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य मे रुचि रखने वाली स्त्रियां साहित्यिक शिक्षा प्राप्त करती थीं, जबकि पूर्ण गृहस्थ स्त्रिया व्यवहारिक विषयों की; जैसे– गृहोपयोगी विषयों, विभिन्न शिल्पो, ललित कलाओं आदि की शिक्षा प्राप्त करती थी। शिक्षण केन्द्र संभवतः परिवार के अतिरिक्त गुरु का निवास स्थल होता था। इसी क्रम में यह भी उल्लेखनीय है कि वे ही कन्याएं तत्कालीन समय में शिक्षित मानी जाती थी, जो वैदिक शिक्षा ग्रहण करती थी, और इस दृष्टि से तत्कालीन स्त्रियां पर्याप्त आगे थी। लेकिन, उत्तर वैदिक काल से स्त्रियों के धार्मिक अधिकारो में क्रमशः ह्रास होना प्रारंभ हो गया। उन्हें पूर्वजों के सम्मान में आयोजित होने वाले यज्ञीय कार्यो से वंचित कर दिया गया। ऐसे धार्मिक कार्यो को केवल पुत्र ही कर सकते थे। यद्यपि उनके पालन–पोषण मे कोई कमी नही की जाती थी। उनका शैक्षिक अधिकार पूर्व की भांति बना रहा। बाल–विवाह अस्तित्व में न होने के कारण वे विवाह होने से पूर्व तक शिक्षा ग्रहण करती थीं तथा जो स्त्रियॉ विवाहोपरान्त गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए अपना अध्ययन क्रम जारी रखना चाहती थी, उन्हे पर्याप्त सुविधाएं प्राप्त थीं। याज्ञवलक्य की पत्नी मैत्रेयी इसी प्रकार की स्त्री थी। प्राप्त साक्ष्यों से विदितहोता है कि साधारणतया 16 वर्ष की अवस्था तक वे अविवाहित रहकर शिक्षा प्राप्त करती थीं तथा उपनयन के अनन्तर ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते

हुए स्वयं को विदुषी बनाती थी। क्योकि, तत्कालीन समय मे जो स्त्री-पुरुष शिक्षित होते थे, वे ही विवाह योग्य उत्तम समझे जाते थे।[9] अथर्ववेद मे वर्णित है कि वैदिक ज्ञान से वंचित कन्याएं सफल दाम्पत्य जीवन नहीं बिता सकती।[10] वृहदारण्यक उपनिषद् मे ऐसे धार्मिक कार्यो का उल्लेख मिलता है, जिसका उद्देश्य विदुषी स्त्री प्राप्त करना था।[11] अथर्ववेद मे स्त्रियो द्वारा शिक्षा के निमित्त ब्रह्मचर्य धर्म के पालन का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।[12] ऐतरेय तथा कौषितकी ब्राह्मण में अनेक विदुषी स्त्रियो का नामोल्लेख मिलता है।[13] नि.सदेह यह स्त्री शिक्षा के महत्व को प्रतिबिम्बित करता है। याज्ञवलक्य की पत्नी मैत्रेयी अपने पति के साथ विभिन्न विद्वत् गोष्ठियो मे भाग लेती थी,[14] जो एक अत्यन्त विदुषी एव ब्रह्म विद्या में रूचि रखने वाली महिला थी।[15] विदुषी गार्गी, जो न केवल वैदिक ज्ञान में उच्च योग्यता रखती थी,[16] बल्कि जनक की राजसभा मे आयोजित विद्वत् गोष्ठी मे अपने गूढ़ प्रश्नो से याज्ञवलक्य जैसे विद्वान व्यक्ति को मूक एवं स्तब्धकर दिया था।[17] अथर्ववेद से विदित होता है कि स्त्रियो का भी उपनयन संस्कार होता था तथा वे भी वैदिक ग्रंथों का पठन–पाठन करती थी।[18] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार स्त्रियों को वैदिक शिक्षा प्राप्त करने एव उन्हें यज्ञीय कार्यो में भाग लेने का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक धार्मिक क्रिया का उल्लेख मिलता हैं, जिसको करने के उपरान्त प्रत्येक स्त्री वैदिक ग्रथो का पाठ एवं यज्ञीय कार्य कर सकती थी। इस प्रकार स्पष्ट है कि उत्तर–वैदिक कालीन स्त्रियां भी उपनयन के अनन्तर ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए वैदिक शिक्षा प्राप्त करती थी तथा उन्हें यज्ञीय कार्य में सम्मिलित होने हेतु समस्त अधिकार प्राप्त थे। चूँकि, स्त्री ही यज्ञ की अधिकारिणी मानी गयी थी,[19] अतः वह स्त्री तब तक यज्ञीय कार्य नहीं कर सकती थी, जब तक उसका विवाह न हो जाय, क्योंकि ऐसे धार्मिक कार्यो के समय पति एवं पत्नी का साथ–साथ होना आवश्यक माना गया था। इससे विदित होता है कि स्त्री शिक्षा की गरिमा को बनाए रखते हुए गार्हस्थिक जीवन की मर्यादा को भी अक्षुण्ण रखने का प्रयास किया गया था। तत्कालीन

स्त्रिया वैदिक ज्ञान के अतिरिक्त अनेकानेक विषयों मे भी दक्ष होती थी।[20] उपलब्ध साक्ष्यों से दृष्टिगत होता है कि उन्हे शिक्षित करने में परिवार, गुरुकुल एवं महिला शिक्षिकाओ की महत्वपूर्ण भूमिका रही होगी। गार्गी, मैत्रेयी, सुलभा, बडवा, प्रतिथेयी आदि ऐसी विदुषी स्त्रियॉ थी, जिनकी विद्वता से प्रभावित होकर गृहस्थ भी इनके प्रति नित्य कृतज्ञता प्रकट करते थे।[21] विदित है कि जो स्त्रिया किन्ही कारणों से वैदिक शिक्षा प्राप्त नही कर पाती थी, वे विभिन्न व्यवहारिक एव उपयोगी विषयों मे दक्षता हासिल करती थी जिसके अन्तर्गत गृहोपयोगी शिक्षा, विभिन्न शिल्पों, ललित कलाओ एवं सैन्य आदि विषयों की शिक्षा का उल्लेख किया जा सकता है।[22] ऋग्वेद के अनुसार ऋषि मुद्गल को डाकुओं से बचाने में उनकी पत्नी ने बडी सहायता की थी। इससे स्पष्ट होता है कि तत्कालीन स्त्रियां सैन्य कार्यो में भी दिलचस्पी रखती थी। वृहदारण्यक् उपनिषद् के अनुसार वे कन्याएं, जो शिक्षा देने का काम करती थी, उपाध्याया एव आचार्या कहलाती थीं तथा अध्ययन करने वाली छात्राओं को 'अध्येत्री' कहकर सम्बोधित किया जाता था। स्पष्ट है कि परिवार एवं गुरुकुलों के अतिरिक्त महिला–शिक्षणशालाओं में भी तत्कालीन स्त्रियों को शिक्षा दी जाती थी। जहां, सह एवं एकल व्यवस्था के अनन्तर जिज्ञासु स्त्रियां विभिन्न विषयों की शिक्षा ग्रहण करती थी। उल्लेखनीय है कि प्रारंभ में परिवार ही शैक्षिक दायित्वों को निर्वहन करता था, लेकिन बाद में यही कार्य आचार्य करने लगे। ऐसा संभवतः विषयों की व्यापकता, विस्तार एवं गभीरता के साथ ही साथ विशेषज्ञता की प्रवृत्ति विकसित होने के कारण हुआ।

जहां तक सूत्र कालीन स्त्री शिक्षा का प्रश्न है, गोभिल गृह सूत्र से ज्ञात होता है कि कन्याओं का उपनयन पूर्व की भांति होता रहा।[23] आश्वलायन गृह सूत्र के अनुसार, उनका उपनयन एवं समावर्तन संस्कार होता रहा।[24] गोभिल गृह सूत्र से विदित होता है कि उनका समावर्तन संस्कार ब्रह्मचर्य जीवन की समाप्ति के उपरान्त सम्पन्न होता था।[25] कात्यायन गृह–सूत्र के अनुसार वे ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करती थी।[26] स्पष्ट है कि पूर्व की भांति

उनका उपनयन एवं समावर्तन संस्कार होता रहा तथा ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए वे विभिन्न विषयो की शिक्षा ग्रहण करती रहीं और यज्ञ की अधिकारिणी बनी रही। ऋषि तर्पण के समय गार्गी, वाचक्नवी, सुलभा, मैत्रेयी, बडवा, प्रतिथेयी आदि विदुषियों को भी स्मरण का निर्देश दिया जाना[27] स्त्री ज्ञान की महत्ता को सिद्ध करता है, जिसे तत्कालीन समाज स्वीकार करता था। महर्षि पतंजलि ने 'औदमेध्या' नामक आचार्या का उल्लेख किया है और उससे पढने वाली छात्रा 'औदमेधा' कहलाती थी।[28] इसी क्रम में उन्हांने छात्रा–शालाओं का भी उल्लेख किया है,[29] जहां छात्राएं जाकर शिक्षा ग्रहण करती थी। स्पष्ट है कि प्रारंभिक शिक्षा प्रदान करने में परिवार की भूमिका महत्वपूर्ण थी, जबकि उच्च शिक्षा एवं सम्बन्धित विषयों में विशेषज्ञता प्राप्त करने हेतु तत्कालीन स्त्रिया गुरुकुलों एवं महिला शिक्षण शालाओं में जाती रही होगी। तद्युगीन दो प्रकार की छात्राओं का वर्णन मिलता है – 'सद्योवधू' एवं 'ब्रह्मवादिनी'।

सद्योवधू स्त्रियाँ विवाह के पूर्व तक ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए शिक्षा प्राप्त करती थी, तदुपरान्त गृहस्थ जीवन में प्रवेश करती थीं। जबकि, ब्रह्मवादिनी स्त्रियां ज्ञान प्राप्ति के उद्देश्य से जीवनपर्यन्त अविवाहित रहकर ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करती थीं।[30] ऋषि कुशध्वज की कन्या 'वेदवती' ऐसी ही ब्रह्मवादिनी स्त्री थी।[31]

रामायण में सीता का विचरण एवं महाभारत में द्रौपदी का भ्रमण महाकाव्य कालीन स्त्रियों की उन्मुक्तता एवं स्वतंत्रता को अभिव्यक्त करता है। यद्यपि इस समय तक स्त्री-शिक्षा की पद्धति एवं प्रतिमान बदलने लगे थे। वैदिककालीन स्त्रियों का जो दखल वैदिक साहित्य एवं उच्च शिक्षा में था, अब वह नहीं रहा। स्त्री शिक्षा का जुड़ाव अब व्यवहारिक ज्ञान से ज्यादा होने लगा था। स्त्रियां अब एक आदर्श, मां, बहन, पत्नी एवं कुशल गृहिणी के रूप में स्वीकार्य होने लगी थी। महाभारत में भीष्म का कथन है कि स्त्री को सर्वदा पूज्य मानकर उनके साथ स्नेहिल व्यवहार करना चाहिए, क्योंकि जिस घर मे

स्त्रियो का आदर होता है, उस घर मे देवता निवास करते हैं और उसकी अनुपस्थिति में सभी कार्य अपवित्र हो जाते हैं।[32] ऐसा उल्लेख मिलता है कि कौशल्या और तारा मंत्रविद् स्त्रियॉ थी।[33] सीता नित्य संध्या-पूजन करती थी[34] और पति राम द्वारा प्रेषित अंगूठी पर अंकित लिपि को पढ सकती थी।[35] आत्रेयी वेदान्त की ज्ञाता थी।[36]

कैकेयी अस्त्र–शस्त्रो के अतिरिक्त वेदो में भी पारंगत थी। महाभारत मे सुलभा को जीवनपर्यन्त वेदान्त का अध्ययन करते हुए दिखलाया गया है। शबरी ने मातग ऋषि के आश्रम में उच्च शिक्षा ग्रहण किया था और बाद में उसी आश्रम में चिरकाल तक रहकर अपना सहयोग प्रदान करती रही।[37] द्रौपदी महाभारत काल की पंडिता थी। उत्तरा ने अर्जुन से संगीत और नृत्य की शिक्षा ग्रहण की थी।[38] पांडवों की मा कुन्ती अथर्ववेद की पंडिता थी।[39] इस प्रकार स्पष्ट है कि महाकाव्यकालीन स्त्रियॉ अपनी अभिरूचि एवं आवश्यकतानुसार विभिन्न विषयो की शिक्षाग्रहण करती थी। लेकिन यह भी सच है कि तत्कालीन स्त्रियॉ वैदिक साहित्य, धर्म एवं दर्शन की जगह ज्यादातर नीतिपरक सामान्य साहित्य एवं व्यवहारिक विषयों की शिक्षा ही ग्रहण करती थी। चूंकि प्राचीन शिक्षा का तात्पर्य वैदिक शिक्षा से था, अतः उस दृष्टि से तत्कालीन स्त्री-शिक्षा नि.सदेह ह्रासोन्मुख रही। लेकिन, नीतिपरक एवं व्यवहारिक विषयो में पारंगत होने के कारण उन्हें एक आदर्श मॉ, बहन, पत्नी एवं कुशल गृहिणी के रूप में विशेष सम्मान मिला। मनु के अनुसार माता की प्रतिष्ठा उपाध्याय, आचार्य और विद्वान पिता से अधिक होनी चाहिए।

यद्यपि ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी तक वे वैदिक साहित्य और कमोबेश उसकी शाखाओं का अध्ययन करती रही। वैदिक साहित्य के अतिरिक्त कुछ कन्याएं पूर्व मीमांसा जैसे शुष्क विषयों का भी अध्ययन करती थी, जिसमें वैदिक यज्ञ सम्बन्धी अनेक समस्याओं का विवेचन मिलता है। पतंजलि रचित महाभाष्य (ईसा पूर्व द्वितीय शती) से ज्ञात होता है कि, जो स्त्रियां काशकृत्स्न

रचित मीमांसा शास्त्र का अध्ययन करती थी, वे 'काशकृत्स्ना' कही जाती थी।[40] भागवत् पुराण में दाक्षायण की दो पुत्रियों का उल्लेख मिलता है, जो धर्म, दर्शन एवं विज्ञान मे निपुण थी।

स्मरणीय है कि बौद्ध काल से स्त्रियो की वैदिक शिक्षा पर क्रमश· प्रतिबंध लगना प्रारंभ हो गया। लेकिन, बौद्ध सघ में उन्हे प्रवेश की अनुमति मिल जाने के कारण, जो या जिस वर्ण की स्त्रिया उच्च शिक्षा प्राप्त करने से वचित रह जाती थी, वे उच्च शिक्षा प्राप्त करने लगी। जहां, धर्म एवं दर्शन की उच्च शिक्षा प्राप्त होने के साथ–ही–साथ विभिन्न शिल्पों, ललितकलाओं एवं अन्य गृहोपयोगी विषयों की शिक्षा उन्हे दी जाती थी। स्पष्ट है कि बौद्ध शिक्षा ने स्त्री शिक्षा में हो रहे ह्रास को रोकने का प्रयास किया। बौद्ध साहित्य "ललित विस्तर" से ज्ञात होता है कि छात्र एवं छात्राओं को प्रारंभिक शिक्षा देने वाले विद्यालय 'लिपिशाला' कहलाते थे। जहां, द्वारकाचार्य (अध्यापक) जिज्ञासु छात्राओं को लिखना एवं पढ़ना सिखलाते थे। बहुसंख्यक स्त्रियाँ बौद्ध आगमों की शिक्षिकाओं के रूप में भी पर्याप्त ख्याति अर्जित की थी। थेरी गाथा की 50 कवियित्रियों में 32 आजीवन ब्रह्मचारिणी एवं 18 विवाहित भिक्षुणियां थी, जो अपनी प्रतिभा और ज्ञान के लिए प्रसिद्ध थीं। शुभा, सुमेधा और अनोपमा जैसी स्त्रियॉ उच्च वंश से सम्बन्ध रखती थी, जिनकी विद्वता से प्रभावित होकर राजकुमार और संपत्तिशाली सेठों के पुत्र विवाह हेतु उत्सुक रहा करते थे।[41] खेमा उस समय की उच्च शिक्षा प्राप्त स्त्री थी, जिसकी ख्याति सुदूरवर्ती क्षेत्रों तक फैली थी। संयुक्त निकाय से ज्ञात होता है कि सुभद्रा नामक भिक्षुणी व्याख्यान देने में दक्ष् थी। राजगृह के संपत्तिशाली सेठ की पुत्री भद्राकुण्डकेशा अपनी विद्या और ज्ञान से समकालीन विद्वानों को आकृष्ट करती थी। जातक साहित्य से विदित होता है कि एक जैन पिता की चार विदुषी पुत्रियों ने पूरे देश का भ्रमण कर लोगों को दर्शनशास्त्र पर वाद–विवाद करने के लिये चुनौती दी थी।[42] जैन परम्परानुसार कौशाम्बी नरेश सहसानीक की पुत्री जयंती ज्ञान प्राप्ति के उद्देश्य से जीवनपर्यन्त अविवाहित रही।

स्पष्ट है कि बौद्धकालीन स्त्रियॉ भी उच्च शिक्षा प्राप्त करने में गहरी दलचस्पी रखती थी तथा प्रव्रज्या संस्कार के अनन्तर ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए शिक्षा प्राप्ति हेतु तल्लीन रहा करती थी। निःसंदेह स्त्री शिक्षा के विकास में बौद्ध-शिक्षा केन्द्रों की महत्वपूर्ण भूमिका रही, जहा वे उच्च एवं व्यवहारिक विषयो की शिक्षा ग्रहण करती थी।

मौर्यकालीन स्त्रियां भी शिक्षा प्राप्ति मे दिलचस्पी रखती थी तथा उन्हें भी वैराग्य प्राप्ति की अनुमति.थी। अशोक के अभिलेखों से विदित होता है कि उसकी पुत्री संघमित्रा धर्मप्रसार हेतु सिंहल द्वीप गयी थी। यद्यपि इस तरह की शैक्षिक उत्कृष्टता बौद्ध शिक्षा के परिणामस्परूप ही देखने को मिलती है। मेगस्थनीज के विवरण से विदित होता है कि ब्राह्मण शिक्षा की दृष्टि से तत्कालीन स्त्रियॉ अपने को अत्यन्त उपेक्षित महसूस करने लगी थी। ब्राह्मण दार्शनिक उन्हें वैदिक ज्ञान से सम्बन्धित उच्च शिक्षा के लिये उपयुक्त नहीं मानते थे, क्योकि उन्हें भय था कि कहीं वे दुश्चरित्र न हो जाय, रहस्योदघाटन न कर दे अथवा ज्ञान प्राप्ति के उपरान्त उन्हें छोड न दे। निःसंदेह ब्राह्मण शिक्षा शास्त्रियों के मन मे इस प्रकार का विचार बौद्ध शिक्षा के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण आया होगा। स्मरणीय है कि उस समय तक ब्राह्मण धर्म एवं सम्बन्धित शिक्षा में तमाम सामाजिक एवं धार्मिक बुराइयां प्रविष्ट कर गई थी जिसका प्रभाव निःसंदेह स्त्री शिक्षा पर भी पडा होगा। इस प्रभाव को समाप्त करने का काम बौद्धों ने किया था। फिर भी ब्राह्मण धर्म में आस्था रखने वाली तमाम स्त्रियॉ वैदिक साहित्य की सामान्य शिक्षा, नीतिपरक विषयों की शिक्षा एवं व्यवहारिक तथा गृहपयोगी विषयों की शिक्षा अपने परिवार के ज्येष्ठ सदस्यों से प्राप्त करती रहीं।

ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी के उपरान्त उनका उपनयन संस्कार व्यवहारतः प्रतिबंधित हो चुका था, और विवाह संस्कार को ही उपनयन संस्कार के रूप में स्वीकार कर लिया गया था। इस सम्बन्ध में मनु का कथन है कि पति ही कन्या का आचार्य, विवाह ही उसका उपनयन, पति सेवा ही

उसका आश्रम एवं गृहस्थी के कार्य ही उसके धार्मिक अनुष्ठान थे।[43] कालान्तर मे याज्ञवल्लक्य एवं यम जैसे स्मृतिकारो ने ऐसी व्यवस्था दी कि स्त्रियों के उपनयन मे वैदिक मंत्र नही पढना चाहिए।[44] परिणामतः उन्हें शूद्रों की भांति वेदो के पठन–पाठन एवं यज्ञों में सम्मिलित होने के अधिकार से पूर्णतया वंचित कर दिया गया।[45] तथा विवाह के समय सम्पन्न होने वाला उनका प्रतीकात्मक उपनयन भी समाप्त कर दिया गया।[46] अब वह केवल माता, पिता, भाई, बहन एवं पति आदि से घर पर ही व्यवहारिक एवं गृहपयोगी विषयों की शिक्षा ग्रहण कर सकती थी।[47] परवर्ती भाष्यकार मेधातिथि, विश्वरूप और अपरार्क ने भी ऐसी ही व्यवस्था दी। किन्तु, अभिजात वर्ग की जिज्ञासु स्त्रियां अब भी सामान्य साहित्य एवं व्यवहारिक विषयों की उच्च शिक्षा ग्रहण करती थी, लेकिन उनका शिक्षण केन्द्र व्यवहारतः परिवार ही होता था, जहां दक्ष आचार्यो को शिक्षा प्रदत्त करने के निमित्त रखा जाता था। वे प्राकृत एवं संस्कृत भाषा के साथ ही साथ इतिहास, काव्य, नृत्य, वाद्य, शिल्प एवं चित्र कला जैसे विषयों में प्रवीण होती थी।[48] अमरकोश में स्त्री अध्यापिकाओं का उल्लेख किया जाना यह सिद्ध करता है कि उन्हें सामान्य एवं व्यवहारिक विषयों की शिक्षा दी जाती थी। कालिदास द्वारा रचित "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" मे अनुसूइया द्वारा शकुन्तला के छन्दोबद्ध प्रणय का अर्थ समझना और उसका चित्रकला में निपुण होना सामान्य एवं व्यवहारिक शिक्षा की परम्परा को रेखांकित करता है।

विदित है कि छठी–सातवीं शताब्दी के आस–पास बौद्ध धर्म की स्थिति पूर्व की भांति नहीं रही। अब तक वह दो सम्प्रदायों में विभक्त हो चुका था तथा उसमें तमाम सामाजिक एवं धार्मिक बुराइयां प्रविष्ट हो चुकी थी। भाषा की दृष्टि से लोक भाषा का लोप हो चुका और तथा संस्कृत भाषा पुनः अपनी पुरानी अवस्था को प्राप्त कर रही थी। अतः ऐसी स्थिति में स्त्री-शिक्षा का ह्रास स्वाभाविक था। ब्राह्मण शिक्षा की दृष्टि से स्त्रियों की वैदिक एवं उच्च शिक्षा का ह्रास पहले ही प्रारंभ हो चुका था। कतिपय साक्ष्य, जो मिलते भी है, वे

कुलीन स्त्रियो के हैं, जो व्यवहारिक एवं गृहोपयोगी विषयों की शिक्षा परिवार मे ही अनुभवी सदस्यों एव दक्ष आचार्यों से ग्रहण करती थी। संस्कृत भाषा पर जिस प्रकार का अधिकार वैदिक एवं उपनिषद्कालीन स्त्रियो को प्राप्त था, अब वह नही रहा। निःसंदेह भाषायी समस्या ने तत्कालीन स्त्री-शिक्षा को और भी ह्रासोन्मुख किया होगा। इसी क्रम में उल्लेखनीय है कि उच्च शिक्षा हेतु अभिलाषी स्त्रियॉ अपने अभिभावको से अनुमति प्राप्त कर न केवल बौद्ध संघ मे दीक्षित होती थी, बल्कि उच्च शिक्षा के निमित्त बौद्ध शिक्षण केन्द्रों पर निवास भी करती थीं। किन्तु, उत्तरकाल में बौद्ध संघ में तमाम बुराइयां प्रविष्ट हो जाने के कारण संभवतः सभ्य परिवारों ने या तो अपनी कन्याओं को वापस बुला लिया या उनके उच्च शिक्षा के निमित्त वहा जाने पर प्रतिबंध लगा दिया। परिणामत. स्त्रियों की उच्च शिक्षा में ह्रास होना स्वाभाविक था। लेकिन अब भी सामान्य एवं व्यवहारिक विषयों की शिक्षा उन्हें परिवार में दी जाती रही। वात्स्यायन ने स्त्रियों के लिये 64 कलाओ की शिक्षा का उल्लेख किया है।[49] कामसूत्र से ज्ञात होता है कि गुप्त काल में सम्भ्रान्त कुल की स्त्रियों को विभिन्न शिल्पों, ललित कलाओं और गृहोपयोगी विषयों की शिक्षा दी जाती थी। वात्स्यायन ने उपाध्याया, उपाध्यायी, आचार्या आदि शिक्षिकाओं का उल्लेख किया है,[50] संभवतः ये वही स्त्रियॉ थीं, जिन्होंने पूर्व में विभिन्न विषयो में उच्च शिक्षा प्राप्त कर विशेषज्ञता हासिल की थी, तथा अपनी शिक्षा समाप्ति के उपरान्त स्वेच्छा से शिक्षण कार्य करना प्रारंभ कर दिया था। तत्कालीन समय में ऐसी भी स्त्रियॉ थी, जो कलाविद् एवं कामशास्त्र में दक्ष होती थीं। ये गणिका के नाम से जानी जाती थीं। वात्स्यायन के अनुसार, जिस गंधर्वशाला में गणिकाओ की कन्याओं को शिक्षा दी जाती थी, वहां कुलीन एवं सम्भ्रांत परिवार की स्त्रियां शिक्षा प्राप्ति के उद्देश्य से नही जाती थी।[51] राजश्री के लिये बाण ने लिखा है कि वह 'नृत्य–संगीत' आदि में विदग्ध सखियों के बीच सकल कलाओं का प्रतिदिन अधिकाधिक परिचय प्राप्त करती हुई शनैः शनै. बढ रही थी।[52] गाथा सप्तशती से अनेक विदुषी कन्याओं का पता चलता है,

जो अपनी प्रतिभा और कल्पनाशीलता के लिए विख्यात थी।[53] राजशेखर ने कई विदुषी स्त्रियों का उल्लेख किया है।[54] स्वयं उसकी पत्नी अवन्ति सुन्दरी उत्कृष्ट कवियित्री एवं टीकाकार थी।[55] कुछ ऐसी स्त्रियों की भी जानकारी प्राप्त होती है जो राजशासन और सैन्य प्रबंध मे दक्ष थी तथा योग्य अभिभावक के अभाव में स्वयं शासन का संचालन करती थी। संभवतः संबंधित विषयों की शिक्षा जिज्ञासु स्त्रियों को समय–समय पर दी जाती रही होगी।

इस प्रकार स्पष्ट हैकि ऋग्वैदिक काल से लेकर लगभग छठी शताब्दी ईस्वी तक उन्हें विभिन्न विषयो की सामान्य एवं उच्च शिक्षा समय–समय पर पारिवारिक वातावरण, गुरूकुलीय परम्परा महिला शिक्षणशालाओं, बौद्ध मठो, विहारों एवं विश्वविद्यालयों के माध्यम से दी जाती रही। यद्यपि समय समय पर स्त्री-शिक्षा का प्रतिमान बदलता रहा। उनके शैक्षिक पाठ्यक्रमों में भी परिवर्तन होता रहा, लेकिन उनकी शिक्षा की परम्परा बदलते परिवेश में भी सदैव बनी रही। इस कार्य मे परिवार की भूमिका विशेष उल्लेखनीय रही। जहॉ उन्हें विभिन्न विषयों की सामान्य एवं व्यवहारिक शिक्षा दी जाती थी। जबकि अन्य शिक्षण केन्द्र बदलते परिवेश में निर्धारित पाठ्यक्रमों की उच्च शिक्षा प्रदत्त करने का कार्य करते रहे।

स्त्रियों का उपनयन एवं ब्रह्मचर्य

प्राचीन में यज्ञ को विशेष महत्व प्राप्त था और उसमें वैदिक मंत्रों का पाठ वही कर सकता था, जिसका उपनयन संस्कार हुआ हो। स्पष्ट है कि यज्ञीय कार्यों के साथ उपनयन का गहरा सम्बन्ध था। ऋग्वेद के अनुसार, तत्कालीन स्त्रियां अपने पति के सहयोग से मिलकर यज्ञीय कार्य सम्पन्न करती थी।[56] चूंकि, स्त्री–पुरुष यज्ञ रूपी रथ के जुड़े हूए दो बैल माने गये थे,[57] अतः अकेला पुरुष यज्ञ के अयोग्य समझा जाता था।[58] स्त्री ही यज्ञ की अधिकारिणी होती थी,[59] अतः पत्नी के अभाव में यज्ञ अधूरा माना जाता था,

सीता की अनुपस्थिति में अश्वमेध यज्ञ करते समय राम को उनकी प्रतिमा बनवानी पड़ी थी।[60] स्पष्ट है कि वैदिक मंत्रों का उपनयन से गहरा सम्बन्ध था, क्योंकि उसका उच्चारण वहीं व्यक्ति कर सकता था, जो उपनयन संस्कार से सस्कारित हो। अथर्ववेद के अनुसार, तत्कालीन स्त्रियां मंत्रविद् एवं पंडिता होती थी और उपनयन के अनन्तर ब्रह्मचर्य धर्म[61] का पालन करते हुए विभिन्न विषयो की उच्च शिक्षा ग्रहण करती थी। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार तत्कालीन स्त्रियो का उपनयन संस्कार होता था, वे भी वैदिक शिक्षा प्राप्त करती थी तथा उन्हें समस्त धार्मिक अधिकार प्राप्त थे। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी एक धार्मिक क्रिया का उल्लेख मिलता है, जिसको करने के उपरान्त वे वैदिक ग्रंथों का पाठ एवं यज्ञीय कार्य सम्पन्न कर सकती थी। सूत्रकालीन स्त्रियों का भी उपनयन संस्कार होता था[62] और वे भी यज्ञीय कार्य सम्पन्न करती थी।[63] गृह्यसूत्रों से विदित होता है कि उनका उपनयन संस्कार होता था।[64] और ब्रह्मचर्य जीवन की समाप्ति के उपरान्त वे समावर्तन संस्कार से गुजरती थी,[65] आपस्तम्ब गृह्यसूत्र के अनुसार पुत्रियों की कुशलता के लिये ईश्वर से प्रार्थना की जाती थी।[66] ऋषि तर्पण के समय गार्गी, वाचक्नवी, सुलभा, मैत्रेयी, बड़वा, प्रतिथेयी आदिविदुषियो के प्रति आदर एव सम्मान प्रकट किया जाता था।[67] मनु ने भी स्त्रियों के लिये उपनयन का विधान किया है।[68] वेदों के अतिरिक्त कुछ स्त्रियां पूर्व मीमांसा जैसे शुष्क विषयों का भी अध्ययन करती थीं, जिसमें वैदिक यज्ञ सम्बन्धी अनेक समस्याओं का विवेचन मिलता है। पतंजलि रचित महाभाष्य से विदित होता है कि जो स्त्रियां 'काशकृत्स्न' रचित मीमांसा साहित्य का अध्ययन करती थी, वे 'काशकृत्स्न' कहलाती थी।[69] स्पष्ट है कि ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी तक तत्कालीन जिज्ञासु स्त्रियॉ उपनयन के अनन्तर ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए उच्च शिक्षा प्राप्त करती थी। लेकिन, जब उनका उपनयन संस्कार प्रतिबंधित हुआ और उनकी उच्च शिक्षा क्रमशः बाधित होने लगी, तब उन्हें शिक्षित करने का कार्य बौद्धों ने किया। बौद्ध शिक्षा ग्रहण करने हेतु उन्हें प्रव्रज्या एवं उपसम्बदा जैसे शैक्षिक संस्कारों से गुजरना पड़ता था, जो उपनयन एवं समावर्तन संस्कारों की भांति था।

विदित है, कि प्राचीन भारतीय शिक्षा का तात्पर्य वैदिक शिक्षा से था, जिसके लिये उपनयन जैसे शैक्षिक सस्कारो का होना आवश्यक माना गया था। किन्तु, ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी से जब उनका उपनयन क्रमशः प्रतिबधित होने लगा, तब यह संस्कार महज प्रतीकात्मक रह गया। और उनके विवाह के समय ही इसे सम्पन्न कर देने का विधान बन गया। इस बात की पुष्टि मनुस्मृति से होती है, जिसके अनुसार पति ही उसका आचार्य, विवाह ही उसका उपनयन, पति की सेवा ही उसका आश्रम एवं गृहस्थी के कार्य ही उसके धार्मिक अनुष्ठान थे।[70] मनु ने यहां तक व्यवस्था दी कि उनके उपनयन मे वैदिक मत्र नहीं पढ़ना चाहिए।[71] इस बात का समर्थन यम जैसे स्मृतिकारों ने भी किया।[72] यद्यपि यम यह स्वीकार करते हैं कि पूर्व में स्त्रियों का भी उपयन सस्कार होता था तथा वे भी वैदिक शिक्षा प्राप्त करती थी। स्पष्ट है कि कर्मकांडीय जटिलता, यज्ञीय कार्यों में शुद्धता और वैदिक साहित्य की अपौरूषेयता के कारण न केवल उनका उपनयन संस्कार प्रतिबंधित होता गया, बल्कि उसका बुरा प्रभाव उनकी उच्च शिक्षा एवं धार्मिक अधिकारों पर भी पडा। परिणामतः द्वितीय शताब्दी के उपरान्त उनकी शैक्षिक स्थिति शूद्रों की भाति हो गई।[73] अब वह केवल माता, पिता, भाई, बहन, पति आदि से अपने परिवार में ही विभिन्न विषयो की सामान्य शिक्षा प्राप्त कर सकती थी।[74] परिवर्ती भाष्यकार मेधातिथि, विश्वरूप और अपरार्क जैसे विद्वानों ने भी इसी व्यवस्था का समर्थन किया है। उत्तरकाल मे गृह–यज्ञों में उसकी उपस्थिति महज प्रतीकात्मक रह गयी। यद्यपि ऐतिशायन जैसे कतिपय स्मृतिकार इसके भी विरूद्ध थे।[75]

स्मरणीय है कि जब ब्राह्मण शिक्षाविदों ने स्त्री शिक्षा को समर्थन देना बद कर दिया, तब बौद्ध शिक्षाविदों ने उनके शैक्षिक ह्रास को रोकने का प्रयास किया। परिणामतः वे बौद्ध शिक्षा की ओर उन्मुख हुई और प्रव्रज्या एवं उपसम्बदा के अनन्तर उच्च शिक्षा प्राप्त करने लगी। ऐसा उल्लेख मिलता है कि बौद्ध आगमों की शिक्षिकाओं के रूप में उन्होंने पर्याप्त ख्याति अर्जित की

थी। थेरी गाथा की 50 कवियित्रियो मे 32 ब्रह्मचारिणी और 18 विवाहित भिक्षुणिया थी, जिन्होने प्रव्रज्या के अनन्तर ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए उच्च शिक्षा प्राप्त की थी, लेकिन आगे चलकर बौद्ध संघ में तमाम सामाजिक एवं धार्मिक बुराइयां प्रविष्ट कर जाने के कारण उसका सीधा प्रभाव तत्कालीन स्त्री शिक्षा पर पड़ा और वे पुनः उच्च शिक्षा से क्रमशः वंचित होती गई। कालान्तर, में वे परिवार में ही विभिन्न उपयोगी विषयों की सामान्य शिक्षा प्राप्त कर कुशल गृहिणी के रूप में अपनी सार्थकता समझने लगी।

जहाँ तक उनके ब्रह्मचर्य जीवन और शिक्षा का प्रश्न है ? वैदिक काल से लेकर ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी तक उच्च शिक्षा हेतु अभिलाषी स्त्रियां पुरूषो की भाति ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करती थी।[76] यद्यपि सूत्र काल के उपरान्त उनका ब्रह्मचर्य जीवन क्रमशः बाधित होने लगा था तथापि अन्य आश्रम से संबंधित कर्तव्यों का वह सम्यक निवर्हन करती रहीं। विदित है कि प्राचीन भारतीय समाज प्रत्येक स्त्री से एक सफल गृहिणी बनने की कामना करता था। अतः साधारणतया सभी स्त्रियां परिणय सूत्रों में अवश्य बंधती थीं। ऋग्वैदिक काल में जो व्यक्ति अविवाहित रहता था, उसे अपवित्र समझा जाता था।[77] विवाहित स्त्री की ही अन्तयेष्टि संस्कार की जाती थी।[78] संतान का न होना दुर्भाग्य का सूचक माना जाता था।[79] परिवार में पत्नी की पर्याप्त प्रतिष्ठा थी,[80] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार बिना पत्नी के पुरूष अपूर्ण रहता है।[81] चूंकि वे यज्ञ की अधिकारिणी मानी गयी थी,[82] अतः बिना उनके सहयोग के यज्ञ अधूरा समझा जाता था।[83] स्पष्ट है कि धार्मिक कार्यों में पत्नी की उपस्थिति अनिवार्य थी। ब्राह्मण साहित्य में पत्नी को अर्धान्गिनी कहा गया है।[84] छान्दोग्य उपनिषद में वर्णित है कि बिना पत्नी के पुरूष अपूर्ण होता है। पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार[85] विवाहोपरान्त प्रत्येक दम्पत्ति आध्यात्मिक दृष्टि से एक हो जाते हैं। विवाह के समय उनके द्वारा भी यज्ञोपवीत धारण करने का उल्लेख मिलता है।[86] विदित है कि प्राचीन शिक्षा शास्त्रियों ने तत्कालीन शिक्षा को समग्र जीवन से जोड़ा था। उनका उद्देश्य लोगों को महज साक्षर बनाना

नही था, बल्कि ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण करना था, जो रचनात्मक हो, स्वयं मे समग्रता समाहित किए हो और उसका चितन उसके व्यक्तित्व में परिलक्षित हो। अतएव उन्होंने तत्कालीन शिक्षा को धर्म से जोडकर उसके व्यवहारिक पक्ष पर विशेष बल दिया, जिससे वह प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का अनिवार्य अग बन जाय। प्राचीन शिक्षार्थियों से इस बात की आशा की जाती थी कि जब तक वह शिक्षार्थी है तब तक ब्रह्मचारी है और अपनी शिक्षा पूर्ण करने के उपरान्त उसे गृहस्थ बन जाना चाहिये। अतः प्रत्येक ब्रह्मचारी से स्नातक बनने के उपरान्त सफल गृहस्थ बनने की कामना की जाती थी।

साक्ष्यों से विदित होता है कि विद्याभिलाषी स्त्रियां साधारणतया 16 वर्ष की अवस्था तक अविवाहित रहकर ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए विद्या का लाभ उठाती थी। धम्मपद की टीका से ज्ञात होता है कि तत्कालीन स्त्रियां 16 वर्ष की अवस्था तक अविवाहित रहकर ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करती थी। अथर्ववेद मे भी उनके ब्रह्मचर्य जीवन का उल्लेख मिलता है।[87] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार वे भी ब्रह्मचर्य धर्म के अनन्तर वैदिक एव उच्च शिक्षा प्राप्त करती थी। उनका भी उपनयन संस्कार होता था तथा वे भी यज्ञीय कार्यो में भाग लेती थी। तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक धार्मिक क्रिया का उल्लेख मिलता है, जिसको करने के उपरान्त तत्कालीन स्त्रियॉ वैदिक मंत्रों का पाठ एवं यज्ञीय कार्य सम्पन्न कर सकती थीं। गृह्यसूत्रो से विदित होता है कि वे भी ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करती थीं[88] तथा उनका भी समावर्तन संस्कार होता था।[89] स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में स्त्रियों का भी उपनयन संस्कार होता था तथा वे भी अपने ब्रह्मचर्य धर्म के अनन्तर वैदिक एवं उच्च शिक्षा प्राप्त करती थी। लेकिन, ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी के उपरान्त न केवल उपनयन एवं ब्रह्मचर्य जीवन बाधित हुआ, बल्कि वे वैदिक एवं उच्च शिक्षा से भी क्रमशः वंचित होती गयी और विवाह ही उनका उपनयन हो गया।[90] परिणामतः प्रत्येक परिवार अपनी कन्या का विवाह यथाशीघ्र कर देना अपना नैतिक धर्म एवं सामाजिक कर्त्तव्य समझने लगा। इस प्रकार अल्पायु में ही स्त्री–विवाह की परम्परा स्वीकार्य एवं सर्वमान्य

होती गयी। निःसन्देह इसका प्रभाव उनकी शिक्षा पर पड़ा। यद्यपि उनके शैक्षिक ह्रास को रोकने में बौद्ध शिक्षाविद् सफल रहे, जो अल्पकालिक रहा। विदित है कि तथागत (बुद्ध) यद्यपि नारी–समाज को प्रव्रज्या की दीक्षा देने के पक्ष में नही थे, लेकिन अपने प्रिय शिष्य आनन्द के विशेष अनुरोध पर 8 शर्तों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण करने की अनुमति दे दी। 8 वर्षों के अतिरिक्त 6 शिक्षापदों एवं कई अपराधों का उल्लेख मिलता है, जो उनके लिये वर्जित था; जैसे– हिंसा, चोरी, ब्रह्मचर्य हीनता, मद्यपान, विकाल भोजन, काम के वशीभूत से पुरूष का स्पर्श या एकान्त में उसके साथ रहना, पुरूष के साथ घूमना, अकेले घूमना, आसक्ति से पुरूष के हाथ से खाद्य सामग्री लेना या दूसरी भिक्षुणी को इसके लिये प्रोत्साहित करना, संघ से निष्कासित भिक्षु और भिक्षुणी का अनुसरण करना और उसके अपराध को छिपाना चोर को दीक्षा देना, कुटनी बनना, निर्मूल किसी पर आरोप लगाना, त्रिरत्न की प्रत्याख्यान करना, सघ की निन्दा करना, कुसग'या उसके लिये प्रेरित करना, सीख न लेना और कुलों को बिगाड़ना इत्यादि। स्पष्ट है कि इन निर्देशां के अनन्तर तत्कालीन स्त्रियॉ प्रव्रज्या की दीक्षा लेती थी। निःसन्देह इसका प्रभाव उनकी शिक्षा पर पड़ा और आर उनका बौद्धिक, चारित्रिक एवं आध्यात्मिक उत्थान हुआ। लेकिन, उत्तरकाल में युवा भिक्षुणियों की उपस्थित से संघ की नैतिकता विचलित होने लगी, उनका चारित्रिक पतन होने लगा और उनके आचरण पर आक्षेप लगाए जाने लगे। इस बात की पुष्टि चुल्लवग्क जातक, निग्रोधमिग जातक और विनय पिटक से होती है। वस्तुतः बौद्ध संघ एवं संबंधित शिक्षण केन्द्र स्त्रीजनित बुराइयों के केन्द्र बनते गये, जिसके कारण उनकी प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा बाधित हुई। इसका सीधा प्रभाव उनकी उच्च शिक्षा पर पड़ा और उनका स्वतत्र विकास बाधित हुआ। अब वे गृहोपयोगी विषयों की सामान्य शिक्षा प्राप्त कर पति सेवा को ही अपना धर्म समझने लगी।[91] इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में 'उपनयन' एवं 'प्रव्रज्या' का ब्रह्मचर्य धर्म से गहरा सम्बन्ध था, जिसके कारण समय–समय पर उनकी उच्च शिक्षा प्रभावित होती रही।

स्त्री शिक्षा और धार्मिक अधिकार

प्राचीन भारतीय समाज में स्त्रियों को बड़े ही श्रद्धा एवं सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। वह पुरूष की 'शरीरार्द्ध' और 'अर्द्धांगिनी' मानी गयी तथा उसके जीवन में स्त्री का महत्व 'श्री' एवं लक्ष्मी की भांति था।[92] वह श्वसुर गृह की साम्राज्ञी मानी जाती थी।[93] ऋग्वेद में दम्पतियों द्वारा यज्ञीय कार्य करने का उल्लेख मिलता है।[94] चूँकि स्त्री और पुरूष यज्ञ रूपी रथ के जुडे हुए दो बैल माने गये थे।[95] अतः यज्ञ में उसकी उपस्थितिक अनिवार्यता पत्नी संज्ञा को चरितार्थ करता है।[96] पति की अनुपस्थिति में वह धार्मिक कृत्य कर सकती थी,[97] जबकि अकेला पुरूष यज्ञ के अयोग्य समझा जाता था।[98] ऐसा उल्लेख मिलता है कि पति की अनुपस्थिति में ही विश्ववारा धार्मिक कृत्य करती थी। ऋग्वेद के अनुसार, पत्नी को यज्ञ करने एवं उसमे आहुति देने संबंधी अधिकार प्राप्त था।[99] बिना पत्नी के सहयोग के यज्ञ अधूरा माना जाता था, क्योकि वे ही यज्ञ की अधिकारिणी होती थी।[100] यज्ञीय कार्य सम्पन्न करने से पूर्व पति-पत्नी दोनों को एक विशेष प्रकार के उपनयन से गुजरना पड़ता था[101] तथा उसमें सफलता हेंतु दोनों को समान रूप से सक्रिय रहना पड़ता था।[102] यद्यपि उत्तरवैदिक काल के उपरान्त धार्मिक जटिलताएं क्रमशः बढते जाने के कारण ज्यादातर अनुष्ठान पुरुष ही करने लगे थे,[103] तथापि उसमें पत्नी की उपस्थिति स्वीकार की जाती रही।[104] ऐतरेय ब्राह्मण साहित्य से विदित होता है कि यद्यपि कुछ धार्मिक कार्य पत्नी की उपस्थिति के बिना भी सम्पन्न होने लगा था,[105] जो निःसंदेह बदलते सामाजिक परिवेश में हो रहे उनके धार्मिक अधिकारों के ह्रास को चिन्हित करता है। किन्तु, अश्वमेध, वाजपेय तथा राजसूय जैसे यज्ञों एवं सामान्य धार्मिक अनुष्ठानों में उनकी उपस्थिति अब भी अनिवार्य थी। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार उन्हें वैदिक साहित्य पढने और यज्ञीय कार्य करने सम्बन्धी समस्त अधिकार प्राप्त था। यज्ञीय कार्य से पूर्व उनका उपनयन संस्कार सम्पन्न किया जाता था। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी एक धार्मिक क्रिया का उल्लेख मिलता है, जिसको करने के

उपरान्त वे वैदिक ग्रंथों का पाठ एवं यज्ञीय कार्य सम्पादित कर सकती थी। कतिपय सूत्रकालीन स्मृतिकार भी उन्हे धार्मिक अधिकार देने के पक्ष में थे। वे पति की अनुपस्थिति में सीता–यज्ञ, रूद्रबलि–यज्ञ, एवं रूद्र-यज्ञ कर सकती थी। ऐसा उल्लेख मिलता है कि महारानी कौशल्या ने अपने पति की अनुपस्थिति में स्वास्तिक यज्ञ सम्पन्न की थी। मौर्यकालीन स्त्रियॉ भी अपने पति की अनुपस्थिति में प्रतिदिन प्रातः एवं सायंकालीन बेला में गृह्य–अग्नि में हविष देती थीं।[106] अग्रहायण विधि के स्रहस्त्रारोहण संस्कार में स्त्रियों को वैदिक मंत्रों कापाठ करना पड़ता था।[107] ऐसा उल्लेख मिलता है कि लवण–यज्ञ स्त्रियां ही करती थीं।[108] रामायण में वर्णित उद्धरण से विदित होता है कि माता कौशल्या अपने पुत्र राम के राज्याभिषेक के दिन प्रातः काल से ही धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न कर रही थी।[109] सुग्रीव के साथ युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय बलि की पत्नी तारा यज्ञीय कार्य संपन्न कर रही थी।[110] कौशल्या और तारा दोनों को रामायण में मंत्रविद् कहा गया है। रावण के बंदीगृह में सीता प्रतिदिन संध्या करती थी।[111] सीता की अनुपस्थिति में अश्वमेध यज्ञ सम्पादित करते समय पति राम को उनकी स्वर्ण प्रतिमा बनवानी पड़ी थी।[112] शातकर्णि प्रथम की पत्नी नागनिका ने भी अनेक वैदिक यज्ञ सम्पादित किया था। स्पष्ट है कि यज्ञीय कार्यों में पत्नी की उपस्थिति स्वीकार की जाती रही। यद्यपि इस तरह का धार्मिक अधिकार ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी तक ही देखने को मिलता है। तदुपरान्त न केवल उनका उपनयन एवं ब्रह्मचर्य जीवन क्रमशः बाधित होता गया।[113] बल्कि वैदिक ज्ञान एवं यज्ञीय अधिकारों से भी उन्हें वंचित कर दिया गया। इस बात की पुष्टि तत्कालीन स्मृतिकारों के उद्धरण से होती है, जिसके अनुसार विवाह को छोडकर अन्य संस्कार बिना वैदिक मंत्र के सम्पादित होने चाहिये। याज्ञवल्लक्य का कथन है कि स्त्रियों का उपनयन संस्कार नहीं होना चाहिए। वस्तुतः जब उनका उपनयन संस्कार प्रतिबंधित होने लगा, तब उन्हें वैदिक ज्ञान और धार्मिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया। परिणामतः न केवल उनकी उच्च शिक्षा बाधित हुई बल्कि कालान्तर में उनकी शैक्षिक स्थिति शूद्रो की भांति होती गयी।

अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि उनकी वैदिक शिक्षा क्यों प्रतिबंधित हुई ? विदित है कि जब वेदों को अपौरूषेय मान लिया गया, तब इस बात पर विशेष बल दिया जाने लगा कि संबंधित विषय की शिक्षा किसी दक्ष एवं अनुभवी शिक्षक की प्रत्यक्ष देख रेख में ही प्रदत्त किया जाना चाहिए। ताकि अध्ययन के दौरान किसी भी प्रकार की विषयगत त्रुटि उनसे न हो और सम्बन्धित विषय की सम्यक् शिक्षा उन्हे प्राप्त हो सके। मंत्रों के उच्चारण की शुद्धता और कंठस्थीकरण पर विशेष बल दिया जाने लगा। विकास के क्रम में वैदिक शिक्षा का पाठ्यक्रम विस्तृत होता गया, जिसके अध्ययन के लिये पर्याप्त समय की आवश्यकता थी। संपूर्ण पाठ का अध्ययन 24 वर्ष की अवस्था से पूर्व समाप्त कर पाना व्यवहारतः कठिन था। जबकि तत्कालीन स्त्रियों का विवाह साधारणतया 16–17 वर्ष की अवस्था में ही सम्पन्न कर देने की परम्परा स्थापित हो गयी थी। अतः 24 वर्ष की अवस्था तक उन्हें अविवाहित रख पाना व्यवहारतः कठिन था। ऐसी परिस्थितियों में सम्भ्रान्त कुल की स्त्रियों को मात्र 6–7 वर्ष का समय ही वैदिक शिक्षा के लिये उपलब्ध हो पाता था। और इस अल्पावधि में वे वेदों की शिक्षा समग्रता के साथ पूर्ण नहीं कर सकती थी। साधारण कुल की स्त्रियां, जो गृह कार्य को ही सम्पादित करना अपना नैतिक कर्तव्य समझती थी और उसी कार्य में अपने को तल्लीन रखती थीं, वस्तुतः तत्कालीन परिस्थितियों में 24 वर्ष की अवस्था तक उन्हें अविवाहित रख पाना संभव नही था। कतिपय वे स्त्रियां जो वैदिक शिक्षा मे पारंगत होना चाहती थी, उन्हें यह पता था कि इतने वर्षो तक अविवाहित रहकर उच्च शिक्षा प्राप्त करना उनके लिए व्यवहारतः संभव नहीं है, क्योंकि तत्कालीन परिस्थितियों में वे अपनी सीमाएं जानती थी। परिणामतः वे वैदिक एवं उच्च शिक्षा से क्रमशः वंचित होती चली गयी। उत्तरकाल में उनका शैक्षिक स्तर इतना गिर गया कि वे अपने विवाह–संस्कार के समय उच्चरित होने वाले वैदिक मंत्रों का उच्चारण भी शुद्ध शुद्ध नहीं कर पाती थीं। अतः इस कार्य को पुरोहित या वर ही संपन्न कर दिया करते थे।[114] प्रारंभ से ही वेदों का अल्प ज्ञान और उसके

मंत्रो के उच्चारण मे अल्प–त्रुटि अत्यन्त दु खदायी एवं पीडादायक समझा जाता था। शायद इसीलिए इस प्रकार का चितन विकसित हुआ कि यदि स्त्रियॉ सम्यक् तरीके से वेदो का अध्ययन नही कर सकती तो क्यों न उनके वेदाध्ययन पर ही प्रतिबंध लगा दिया जाय, जिससे उसकी मंत्रगत त्रुटि का दैवकोप संपूर्ण परिवार को न भोगना पडे। ऐसा उल्लेख मिलता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी तक समाज के प्रत्येक वर्ग पर लोक भाषा का वर्चस्व स्थापित हो चुका था। यद्यपि कतिपय स्त्रिया संस्कृत भाषा को पढ़ एवं समझ सकती थी, लेकिन भाषायी ज्ञान पूर्ण न होने के कारण उनसे वेदों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने की आशा करना व्यर्थ था। परिणामतः तत्कालीन स्त्रिया वैदिक शिक्षा से च्युत होती गयी। ईसा की प्रथम शताब्दी से, विवाह के समय सम्पन्न होने वाला उनका प्रतीकात्मक उपनयन भी समाप्त होता गया[115] और कालान्तर में वे शूद्रों की भांति शैक्षिक दृष्टि से हेय समझी जाने लगी।[116] लेकिन, सामान्य शिक्षा एवं विभिन्न विषयो की व्यवहारिक शिक्षा उन्हें दी जाती रही, जिसका केन्द्र परिवार होता था।

स्त्रियों का शैक्षिक वर्गीकरण

प्राचीन भारतीय स्त्रियॉ बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न होती थीं। शैक्षिक दृष्टि से वे किसी भी क्षेत्र में पुरूषों से पीछे नहीं थीं। ऐसे बहुतेरे उदाहरण मिलते है, जिनसे सिद्ध होताहै कि वे मंत्रों की उद्‌गाती भी थी। साथ-ही धर्म, दर्शन, तर्क, मीमांसा, साहित्य, महाकाव्य, पुराण, इतिहास आदि क्षेत्रों के साथ ही साथ विभिन्न शिल्पों एवं ललित कलाओं जैसे व्यवहारिक विषयो में भी दक्षता हासिल कर मिसाल कायम की थीं। शैक्षिक दृष्टि से उन्हें दो वर्गों मे विभक्त किया जा सकता है – सद्योवधू एव ब्रह्मवादिनी स्त्रियॉ।

सद्योवधू स्त्रियॉ वे थी, जो विवाह के पूर्व तक उपनयन के अनन्तर ब्रह्मचर्य धर्म का भली भांति पालन करते हुए विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त

करती थी। यद्यपि वे गृहस्थ जीवन मे प्रवेश के उपरान्त भी अपना अध्ययन क्रम जारी रख सकती थी। वैदिक साहित्य के साथ ही साथ विभिन्न शिल्पो एवं ललित कलाओ जैसे व्यवहारिक विषयो में भी वे पूर्ण दक्षता हासिल करती थी। गार्गी, मैत्रेयी, लोपामुद्रा, घोषा, सिकता निवावरी, आत्रेयी, प्रतिथेयी बढवा, कुन्ती, कौशल्या, तारा, कामन्दकी, सीता आदि विदुषियॉ, गाथा सप्तशती में वर्णित स्त्रियॉ, राजशेखर की पत्नी अवन्ति सुन्दरी, मंडन मिश्र की पत्नी लीलावती थेरी गाथा में वर्णित 18 विवाहित बौद्ध भिक्षुणिया इत्यादि उल्लेखनीय है। याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी विख्यात् दार्शनिका थी, जिसकी अभिरूचि वस्त्राभूषणो मे न होकर दर्शनाशास्त्र मे थी।[117] जनक की राजसभा मे आयोजित विद्वत् शास्त्रार्थ में गार्गी वाचक्नवी के प्रश्न सबसे सूक्ष्म एवं दुरूह थे, जिसने अपने गूढ प्रश्न से याज्ञवल्क्य जैसे विद्वान को स्तब्ध कर दिया था।[118] पूर्व वैदिक कालीन अपाला वैदिक ज्ञान के साथ ही साथ कृषि कार्य में भी दक्ष थी, क्योकि ऐसा उल्लेख मिलता हैकि वे अपने पिता के कृषि कार्य में भी सहयोग प्रदान करती थी।[119] पांडवों की मां कुन्ती व्यवहारिक ज्ञान में दक्ष होने के साथ ही साथ अथर्ववेद की पंडिता थी।[120] वाल्मीकि और अगस्तस्य ऋषि से शिक्षा प्राप्त कर मैत्रेयी ने ख्याति प्राप्त की थी।[121] कौशल्या और तारा दोनों मंत्रविद् स्त्रियां थीं। वाल्मीकि के आश्रम में जाकर आत्रेयी[122] और कामन्दकी ने उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। प्रतिथेयी और बढवा जैसी स्त्रियों ने शिक्षा के क्षेत्र में अभूतपूर्व सफलता हासिल की थी। ''गाथा सप्तशती'' मे वर्णित स्त्रियां अपनी प्रतिभा, योग्यता और कल्पनाशीलता के लिये ख्यात थी।[123] राजशेखर की पत्नी अवन्ति सुन्दरी उत्कृष्ट कवियित्री एवं टीकाकार थी।[124] शंकर और मंडन मिश्र के बीच हुए शास्त्रार्थ की निर्णायिका मिश्र की पत्नी लीलावती थी, जो तर्क, मीमांसा, वेदान्त औरसाहित्य में पूर्ण पारंगत थी।[125] थेरीगाथा मं वर्णित 18 विवाहित बौद्ध भिक्षुणियां अपनी योग्यता और प्रतिभा के लिए ख्यात थीं। संयुक्त निकाय से ज्ञात होता है कि बौद्ध भिक्षुणी सुभद्रा व्याख्यान देने में दक्ष थी। भद्राकुण्डकेशा अपनी विद्या और ज्ञान से सबको आकृष्ट करती थी।

राजकुमारी जयन्ती अपने ज्ञान और दर्शन मे पारंगत थी। स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय सद्योवधू स्त्रियां विभिन्न विषयों में उच्च शिक्षा प्राप्त कर कुशल गृहिणी की भूमिका का सम्यक् निर्वहन करती थी।

ब्रह्मवादिनी स्त्रियां वे थीं, जिनकी अभिरूचि गृहस्थ जीवन में न होकर जीवनपर्यन्त शिक्षा प्राप्त करने में होती थी। अतः इस प्रकार की स्त्रियां विशिष्ट ज्ञान के उद्देश्य से आजीवन अविवाहित रहकर शिक्षा प्राप्त करती थी। ये वैदिक ज्ञान में पांडित्य प्राप्त करने के साथ ही साथ मौलिक मंत्रो की रचना भी करती थी। साथ ही धर्म, दर्शन, तर्क, मीमांसा, न्याय, साहित्य एव अध्यात्म विद्या मे भी पारंगत होती थी। ऋषि कुशध्वज की कन्या ''वेदवती'' ऐसी ही ब्रह्मवादिनी स्त्री थी।[126] स्मरणीय है कि जब वैदिक ज्ञान और यज्ञीय कर्मकांड अत्यन्त दुरूह होने लगे, तब तत्सम्बन्धी क्षेत्रों के विशेषाध्ययन के उद्देश्य से एक नयी शाखा का विकास हुआ, जिसे हम ''मीमांसा शास्त्र'' कहते हैं। यद्यपि यह शास्त्र गणित से भी अधिक शुष्क था, तथापि तत्कालीन स्त्रियां इसमें भी पर्याप्त रूचि लेती थी। 'काशकृत्स्नी' एक ब्रह्मवादिनी स्त्री थी। उसने मीमासा–शास्त्र पर एक मौलिक पुस्तक की रचना की थी, जो 'कास्कृत्स्नी' के नाम से विख्यात है। जो स्त्रिया इसका अध्ययन करती थी, उन्हें ''काशकृत्स्नी'' कहा जाता था।[127] स्पष्ट है कि मीमांसा जैसे क्लिष्ट शास्त्र का अध्ययन करने वाली छात्राओं की संख्या इतनी थी तो साधारण एवं उपयोगी विषयों की शिक्षा प्राप्त करने वाली स्त्रियों की संख्या भी पर्याप्त रही होगी। पुराणों में भी ब्रह्मवादिनी स्त्रियों का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने आध्यात्मिक क्षेत्र में विशेष दक्षता हासिल की थी। वृहस्पति भगिनी भुवना,[128] अपर्णा, एकपर्णा, एक पाटला,[129] मेना, धारिणी,[130] संनति,[131] शतरूपा[132] आदि उल्लेखनीय है। कुछ ऐसी भी स्त्रियों का उल्लेख मिलता है जो अपनी तपस्या से मनोनुकूल वर पायी थी,[133] जैसे– उमा, पीवरी, धर्मव्रता आदि। विदित है कि सुलभा, वेदान्त और आध्यात्मिक ज्ञान के निमित्त जीवनपर्यन्त अविवाहित रही।[134] शबरी ने जीवनपर्यन्त अविवाहित रहकर उच्च शिक्षा प्राप्त की थी।[135]

ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मवादिनी स्त्रियो का शैक्षिक झुकाव उच्च शिक्षा में विशिष्टता प्राप्त करने के साथ ही साथ आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त करना भी था। थेरीगाथा में वर्णित 50 बौद्ध भिक्षुणियो मे 32 आजीवन ब्रह्मचारिणी थी, जिनमे शुभा, सुमेधा और अनोपमा उच्च कुल की स्त्रियॉ थीं, जिनसे विवाह हेतु राजकुमार और संपत्तिशाली सेठों के पुत्र उत्सुक रहा करते थे।[136] संभवत बौद्ध शिक्षा के उपरान्त ब्रह्मवादिनी स्त्रियो की सख्या मे क्रमशः हो रही बढोत्तरी को रोकने के उद्देश्य से ही ब्राह्मण शिक्षाविदो ने उन पर भॉति-भॉति के प्रतिबंध लगाए, जिससे परिवारिक मर्यादा बनी रहे और शिक्षा मानव जीवन के लिये व्यवहारिक सिद्ध हो सके।

अध्ययन के विषय

प्राचीन भारतीय स्त्रियॉ शिक्षा में गहरी अभिरूचि रखती थी। अतः वे धर्म, दर्शन एवं आध्यात्म विद्या के अतिरिक्त विभिन्न शिल्पों, ललित कलाओं, गृहोपयोगी विषयों एवं प्रशासकीय क्षेत्रों में दक्षता हासिल करती रहीं। जब तक उन्हे विभिन्न विषयों की उच्च शिक्षा दी जाती रही, तब तक वे सम्बन्धित विषयों में उच्च दक्षता प्राप्त कर तत्कालीन विद्वत समाज को अपने गूढ़ एवं प्रखर ज्ञान से स्तब्ध करती रहीं।

साक्ष्यों से विदित होता है कि ऋग्वैदिक काल से लेकर ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी तक वे उपनयन के अनन्तर ब्रह्मचर्य धर्म का भली-भांति पालन करते हुए धर्म एवं दर्शन के साथ ही साथ वैदिक शिक्षा प्राप्त करती थी। समय-समय पर आयोजित होने वाले विभिन्न विद्वत गोष्ठियों में वे पुरूषों के साथ भाग लेती थीं और ऋग्वेद की ऋचाओं का गान भी किया करती थी।[137] कतिपय विदुषियों ने ऋग्वेद की अनेक ऋचाओ की रचना की थी।[138] प्राचीन विदुषियों में गार्गी, मैत्रेयी, लोपामुद्रा, धोषा, रोमशा, अपाला, सिकता, उर्वशी, विश्ववारा, आत्रेयी, काक्षीवती, निवावरी आदि उल्लेखनीय हैं।[139] उपनिषदकालीन

गार्गी ने जनक की राजसभा मे आयोजित विद्वत शास्त्रार्थ मे याज्ञवल्क्य जैसे विद्वान को अपनी अद्‌भूत तर्कशक्ति एवं गूढ़ प्रश्नों से मूक कर अपनी पृच्छाओ से पूरे विद्वत समाज को स्तब्ध कर दी थी।[140] गार्गी रचित "गार्गी संहिता" एक उच्चकोटि का ज्योतिषीय ग्रंथ है, जो अनुपलब्ध है। याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी भी एक विदुषी एव ब्रह्मवादिनी महिला थी जिसकी अभिरूचि सासारिक वस्तुओ में न होकर दर्शन शास्त्र जैसे गूढ विषयों में थी।[141] ऋषि तर्पण के समय गार्गी वाचक्नवी, सुलभा, मैत्रेयी, बड़वा, प्रतिथेयी जैसी विदुषियों का भी नामोल्लेख मिलता है।[142] इससे विदित होता है कि तत्कालीन समाज स्त्रियो की विद्वता को स्वीकार करता था। नि संदेह उनकी धर्म एव दर्शन से संबंधित साहित्यिक शिक्षा पराकाष्ठा पर रही होगी। महाकाव्यकालीन आत्रेयी वेदान्त की ज्ञाता थी, जबकि सुलभा को जीवनपर्यन्त वेदान्त का अध्ययन करते हुए दर्शित किया गया है। पाडवो की मां कुन्ती अथर्ववेद की पंडिता थी।[143] ऋषि कुशध्वज की पुत्री वेदवती ब्रह्मवादिनी स्त्री थी।[144] काशकृत्स्नी ने मीमांसा शास्त्र जैसे क्लिष्ट एंव गूढ विषय पर अत्यधिक बहुचर्चित पुस्तक की रचना की थी, जो कालान्तर मे उसी के नाम पर विख्यात हुई। इस वर्ग के अध्येता "काशकृत्स्नी" कहे गये।[145] बौद्ध कालीन स्त्रियों ने भी धर्म एवं दर्शन की साहित्यिक शिक्षा प्राप्त कर पर्याप्त ख्याति अर्जित की थी। ऐसा उल्लेख मिलता है कि थेरीगाथा की 50 कवियित्रियो में 32 आजीवन ब्रह्मचारिणी एवं 18 विवाहित भिक्षुणियां थी जिन में शुभा, सुमेधा, अनोपमा जैसी स्त्रियां उच्च कुल की थी। जिनकी विद्वता से प्रभावित होकर राजकुमार और संपत्तिशाली सेठों के पुत्र विवाह हेतु उत्सुक रहा करते थे।[146] संयुक्त निकाय से ज्ञात होता है कि बौद्ध कालीन सुभद्रा व्याख्यान देने में दक्ष थी। राजगृह के संपत्तिशाली सेठ की पुत्री भद्राकुंडकेशा अपनी विद्या और ज्ञान से सबकों आकृष्ट करती थी। जातक साहित्य से विदित होता है कि एक जैन पिता की चार पुत्रियों ने देश का भ्रमण करते हुए लोगों को दार्शनिक वाद विवाद हेतु चुनौती दी थी।[147] कौशाम्बी नरेश सहसानीक की पुत्री जयंती ज्ञान प्राप्ति हेतु आजीवन अविवाहित

रहा। "हाल" रचित "गाथासप्तशती" मे वर्णित सात कवियित्रियो की रचनाए[148] उनकी साहित्यिक उत्कृष्टता एव उच्च शिक्षा को प्रमाणित करता है। शील भट्टारिका अपनी पाचाली रीति और शब्दो एव अर्थों के उत्तम गुफन के लिये प्रसिद्ध थी।[149] लाट देश की विदुषी देवी की सुक्तिया राज्यारोहण के समय पाठको को अनुरंजित करती थी[150] विदर्भ मे विजयांका की कृति की समता केवल कालिदास ही कर सकते थे।[151] कौमुदी महोत्सव नामक संस्कृत नाटक की रचना "वज्जिका" नामक विदुषी द्वारा की गयी थी। आध्यात्मिक क्षेत्र में उच्च दक्षता प्राप्त स्त्रियों में भुवना, अपर्णा, एकपर्णा, एकपाटला, मेन धारिणी, संनति शतरूपा आदि उल्लेखनीय है।[152] उत्तरकालीन विदुषियों में सुभद्रा, सीता, मरूला, इंदुलेखा, भवदेवी, विकट और नितम्बा आदि स्मरणीय है, जिनकी रचनाएं आज लुप्त हो चुकी है।[153] शकर और मडन मिश्र के बीच हुए शास्त्रार्थ की निर्णायिका मिश्र की पत्नी लीलावती थी,[154] जो मीमांसा, वेदान्त और साहित्य की पंडिता थी। 8वीं शताब्दी में जिस ग्रंथ का अनुवाद अरबी भाषा में हुआ था, उसकी लेखिका "रूसा" नामक एक स्त्री थी। वह "प्रसव विज्ञान" से संबंधित ग्रंथ था।[155] राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी उत्कृष्ट कवियित्री एवं टीकाकार थी।[156] ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी के उपरान्त स्त्रियों का उपनयन संस्कार प्रतिबंधित होने एवं प्रथम शताब्दी के आस-पास बौद्ध शिक्षा में तमाम बुराइयां प्रविष्ट कर जाने के कारण उनकी उच्च-शिक्षा बाधित हुई। अब वे रामायण, महाभारत, पुराण और गीता जैसे नीतिपरक साहित्यक ग्रंथो का अध्ययन कर स्वय को संतुष्ट करने लगी। यद्यपि वे संस्कृत एवं प्राकृत भाषा को भली भांति पढ एवं समझ सकती थी। उनके द्वारा अपने पुरूष संबंधियों का व्याकरणिक दोष ढूढ निकालने का उल्लेख मिलना[157] उनके व्याकरणिक ज्ञान को प्रमाणित करता है। स्पष्ट है कि समय के साथ स्त्री शिक्षा के प्रतिमान बदलते रहे और वे बदलते परिवेश में संबंधित विषयों की साहित्यिक शिक्षा ग्रहण करती रही। लेकिन यह व्यवस्था साधारणतया संभ्रांत कुल की महिलाओं के लिये ही सुलभ रहा।[158]

जहाँ तक व्यवहारिक शिक्षा से सबधित पाठ्यक्रमों का प्रश्न है, यह सच है कि प्राचीन भारत की बहुसंख्यक स्त्रियां व्यवहारिक विषयों में ही दक्षता प्राप्त करती थी, जिसका केन्द्र परिवार एवं आचार्य परिवार के सदस्य होते थे। पूर्व वैदिक कालीन अपाला एक ऐसी ही स्त्री थी, जो न केवल कृषि कार्य मे दक्ष थी, बल्कि उस कार्य में अपने पिता को सहयोग भी प्रदान करती थी।[159] चूँकि प्रारभ मे गाय को विशेष महत्व प्राप्त था और गृहकार्य के अन्तर्गत गाय दुहने का कार्य स्त्रिया ही करती थी, अत. उन्हे "दुहिता" के नाम से संबोधित किया जाता था। अन्य कार्यो के अन्तर्गत वे सूत कातना, बुनना एवं वस्त्र सिलना भी जानती थी।[160] उत्तर वैदिक कालीन स्त्रियां सगीत, नृत्य, वाद्य, गायन चित्रकला आदि विषयो मे भी दक्ष होती थी।[161] महाकाव्य कालीन स्त्रिया भी व्यवहारिक विषयों मे दक्ष होती थी। उत्तरा ने अर्जुन से संगीत और नृत्य की शिक्षा ग्रहण की थी।[162] विदित है कि त्रिपुर की स्त्रिया अपनी भाव भंगिमाओं से लोगो को प्रफुल्लित रखती थी।[163] रेंखांकन, रंगों का अपेक्षित प्रयोग, आकृति का अभिव्यक्तिकरण चित्रकला के प्रधान आधार थे। चित्रलेखा द्वारा चित्रपट पर अनेक देवों, गांधर्वो और मनुष्यो की आकृतियो का अंकन किया गया था, जिसमें अनिरूद्ध का भी आकर्षक चित्र था।[164] तैत्तिरीय और मैत्रायणी संहिता से विदित होता है कि स्त्रियों को संगीत, नृत्य और वाद्य की शिक्षा दी जाती थी। यद्यपि समय समय पर उनकी व्यवहारिक शिक्षा भी बाधित होती रही, तथापि अभिजात कुल की स्त्रियां काव्य, संगीत, नृत्य, वाद्य और चित्रकला आदि विषयों की उच्च शिक्षा प्राप्त करती रहीं।[165] साधारण एवं निम्न कुल की स्त्रियां गृह-विज्ञान, कृषि विज्ञान, विभिन्न शिल्पों एवं ललित कलाओं, मालव्य ग्रंथ आदि विषयों की शिक्षा आवश्यकतानुसार ग्रहण करती रहीं। इन विषयों की शिक्षा साधरणतया उन्हें परिवार में ही दी जाती थी। अभिजात कुल की स्त्रियों को व्यवहारिक एवं उपयोगी विषयों की उच्च शिक्षा देने हेतु आचार्यों की नियुक्ति का उल्लेख मिलता हैं। अग्निमित्र के महल में गणदास और सोमदत्त की नियुक्ति इसीलिए की गई थी। राज्यश्री के लिये

बाण ने हर्षचरित में लिखा है कि वह "नृत्य–गीत" आदि में विदग्ध सखियों के बीच सकल कलाओं का अधिकाधिक परिचय प्राप्त करती हुई शनैः शनैः बढ रही थी।[166] वात्स्यायन ने 64 अंग विद्याओं का उल्लेख किया है,[167] जिसकी शिक्षा गुप्तकालीन स्त्रियाँ प्राप्त करती थीं। साधारण एवं निम्न परिवारों की आर्थिक स्थिति संभवतः अच्छी न होने के कारण वे अपनी स्त्रियों को सम्भ्रान्त परिवार की स्त्रियो की भाति कुशल एव दक्ष अध्यापकों के सान्निध्य में रखकर शिक्षित कर पाने में अपने को असमर्थ पाते थे। अतः उन्हें व्यवहारिक विषयों की सामान्य शिक्षा पारिवारिक वातावारण में ही प्रदान की जाती थी। तदन्तर वे विभिन्न विषयो का व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त कर सांस्कृतिक परम्पराओं के संरक्षण व संवर्द्धन में अपनी भूमिका निभाती रही तथा स्वयं को सुसंस्कृत एवं चरित्रवान बनाकर एक कुशल गृहिणी, आदर्श मा, आदर्श बहन, एवं आदर्श पत्नी के रूप में अपने को स्थापित कर तत्कालीन समाज को कृतार्थ करती रही। मनु का कथन है कि माता की प्रतिष्ठा उपाध्याय, आचार्य और पिता से भी अधिक होनी चाहिए। आपातकाल में वे अपने व्यवहारिक ज्ञान का इस्तेमाल कर परिवार का भरण पोषण भी करती रही। इस बात की पुष्टि पालि साहित्य में वर्णित एक उद्धरण से होती है, जिसके अनुसार मुमूर्ष पतियों को आश्वासन देते हुए पत्नियां कहती हैं कि वह चिंता न करें, वह अपने व्यवहारिक ज्ञान (कताई–बुनाई) का इस्तेमाल कर परिवार को संभाल लेंगी।[168] अर्थशास्त्र के वस्त्राध्यक्ष अध्याय में कौटिल्य ने विधवाओं, पतिकाओं और व्यक्ताओं के आवास पर राज्य की ओर से कपास भिजवाने और सूत तथा वस्त्र एकत्र करने का उल्लेख किया है।[169] जीविका का यह छोटा, लेकिन स्वतंत्र माध्यम आज भी भारतीय गावों में देखने को मिल जाएगा। पूर्वोत्तर भारत का जनजातीय समाज इसका जीवंत उदाहरण है।

स्पष्ट है कि उपनयन सस्कार से वैदिक शिक्षा का गहरा सम्बन्ध था और जैसे-जैसे उनका उपनयन संस्कार प्रतिबंधित होता गया वैसे-वैसे उनकी वैदिक एवं उच्च शिक्षा क्रमशः बाधित होती गयी। यद्यपि बौद्धों ने उनकी उच्च

शिक्षा की परम्परा को बनाए रखने का प्रयास किया। किन्तु, कालान्तर में बौद्ध शिक्षा के परिणामस्वरूप पारिवारिक मर्यादा भंग होने एवं चारित्रिक अस्मिता खतरे मे पडने के कारण मनु जैसे ब्राह्मण स्मृतिकारों ने पुनः उसे बहाल करने एव उनके चारित्रिक स्खलन को रोकने हेतु गूढ साहित्यिक शिक्षा के स्थान पर व्यवहारिक एवं नैतिक तथा जीवनोपयोगी विषयों की शिक्षा प्रदान करने का समर्थन किया। परिणामतः वे विभिन्न जीवनोपयोगी एवं व्यवहारिक विषयों की सामान्य शिक्षा प्राप्त करने में ही अपनी सार्थकता समझने लगीं। कतिपय स्मृतिकार योग्य वर के अभाव में विवाह को साधारणतया 16—17 वर्ष की अवस्था तक रोकने के पक्ष मे थे।[170] मनु यद्यपि 12 वर्ष की अवस्था तक स्त्री—विवाह कर देने के समर्थक थे, तथापि योग्य वर के अभाव में वे मृत्युपर्यन्त अविवाहित रखने के पक्ष मे थे।[171] यहॉ स्त्रियों की योग्यता का तात्पर्य उसकी गृहोपयोगी एवं व्यवहारिक शिक्षा से था। स्मरणीय है कि प्राचीन समाज का धर्म से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे उसका प्रवेश था। अतः तत्कालीन शिक्षा का मुख्य विषय धर्म एवं दर्शन रहा। वस्तुतः इन विषयो में दक्ष व्यक्ति ही तत्कालीन समाज में विशेष आदर का पात्र होता था। अतएव, सामान्य साहित्यिक शिक्षा, व्यवहरिक शिक्षा एवं विभिन्न गृहोपयोगी विषयों की शिक्षा प्राप्त करने वाली स्त्रियों को वह आदर एवं सम्मान नहीं मिल पाया, जो धार्मिक एवं दार्शनिक विषयों में दक्ष स्त्रियों को प्राप्त था। यही कारण है कि व्यवहारिक एवं गृहोपयोगी विषयों की शिक्षा का पर्याप्त उल्लेख प्राचीन साक्ष्यों मे नहीं मिलता। इसी क्रम में उल्लेखनीय है कि वर्तमान ग्रामीण महिलाएं चाहे वह साक्षर हो या निरक्षर सिलाई, बुनाई, कताई, रंगाई, संगीत, नृत्य, वाद्य, चित्रकला एवं अन्य गृहोपयोगी विषयों में दक्षता राज्य द्वारा स्थापित किसी शिक्षा सस्थान से नहीं प्राप्त करती थी बल्कि इसका सारा श्रेय पारिवारिक संस्कार एवं परम्परा को जाता है। पूर्वोत्तर भारत की बहुसंख्यक स्त्रियां चाहे वह सम्भ्रांत कुल की हो या निम्न कुल की अपने अवशेष समय मे कताई, बुनाई एव रंगाई जैसे गृहोपयोगी कार्यों को करती हैं,

जिसकी शिक्षा उन्हें किसी शिक्षा संस्थान से नहीं, बल्कि परिवार से ही व्यवहारिक रूप में मिलती है।

जहाँ तक उनकी प्रशासकीय शिक्षा का प्रश्न है, ऋग्वेद से विदित होता है कि "विष्पला" नामक स्त्री युद्ध में गयी थी और घायल होने की दशा में अश्विनों ने उसकी चिकित्सा की थी।[172] ऋषि मुद्‌गल को डाकुओं से बचाने में उनकी पत्नी ने सहायता की थी (ऋग्वेद)। यूनानी आक्रमणकारी सिकन्दर के आक्रमण का प्रतिरोध पति के मरणोपरान्त उसकी पत्नी मत्संग ने स्वयं किया था। महाकाव्यकालीन कैकेयी अस्त्र—शस्त्र की शिक्षा में निष्णात् थी। सातवाहनवशीय नयनिका ने अपने पुत्र की अल्पव्यस्कता मे शासन संचालन स्वयं किया था। चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्त अपने पति के मरणोपरान्त पुत्र के अल्पव्यस्क होने के कारण शासन का संचालन स्वय करती थी। स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय स्त्रियाँ आवश्यकता पड़ने पर अपने शासन का संचालन अत्यन्त बुद्धिमता एव कुशलता से स्वयं करती थीं, जो उनकी सैन्य योग्यता एव प्रशासकीय दक्षता को सिद्ध करता है। कश्मीर की सुगंधा और दिद्‌दा नामक रानियां अपनी प्रशासकीय दक्षता एवं राज्य-संचालन के लिये विख्यात थी।[173] अक्का देवी, भैला देवी, कुंकुम देवी, और लक्ष्मी देवी जैसी गुजरात की चालुक्य वंशी रानियो ने अपने राज्य का प्रशासन स्वयं संचालित किया था।[174] स्पष्ट है कि शासक एवं अभिजात कुल की स्त्रियां सामान्य एवं व्यवहारिक विषयों में पारंगत होने के साथ ही साथ प्रशासकीय क्षेत्रों में भी दक्षता हासिल करती थी। निःसंदेह इसकी भी शिक्षा उन्हें दी जाती रही होगी, ताकि आवश्यकता पड़ने पर वे सैन्य कार्य एवं शासन का संचालन बुद्धिमत्ता पूर्वक स्वयं कर सके। साथ-ही पति के कार्यो में सहयोग प्रदान कर उनके प्रशासकीय दायित्व को हल्का बना सके। इसके अन्तर्गत उन्हें अस्त्र—शस्त्र परिचालन, अश्वारोहण तथा जल-संचरण की शिक्षा दी जाती थी। ऐसा उल्लेख मिलता है कि विजय महादेवी के पुत्र का नाम गंगादत्त इसलिये पड़ा था, क्योंकि गर्भावस्था में ही वे गंगा में खूब तैरती थी। साधारण जिज्ञासु

स्त्रियॉ भी सैन्य एवं प्रशासकीय विषयों की शिक्षा प्राप्त करती रही होगी, क्योंकि असाधारण परिस्थितियो मे हम ग्रामीण महिलाओं को गाव की रक्षा करते हुए पाते हैं। कितनी महिलाएँ तो इस कार्य में वीर गति तक को प्राप्त हो गई थी।[175] स्पष्ट है कि जिन स्त्रियो की अभिरूचि धर्म दर्शन एवं अध्यात्म जैसे गूढ विषयों में न होकर राजशासन और सैन्यप्रबंध में अधिक होती थी, उन्हें व्यवहारिक विषयों के अतिरिक्त सैन्य शिक्षा भी दी जाती थी।

स्त्री शिक्षण संस्थान और उसका स्वरूप

प्राचीन भारत मे दीर्घकाल तक शिक्षण केन्द्रों की भूमिका का निर्वहन परिवार के माध्यम से होता रहा, जहां पुत्र एव पुत्रियां समान रूप से परिवार के ज्येष्ठ एवं अनुभवी सदस्यों से विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करते थे। यद्यपि इस परम्परा का निर्वहन गुरुकुलीय शिक्षा प्रणाली एवं बौद्ध शिक्षण संस्थाओं के विकास होने तक होता रहा तथापि सामान्य एवं व्यवहारिक शिक्षा की दृष्टि से परिवार की भूमिका सर्वथा स्मरणीय रही। ऋग्वैदिक काल से लेकर ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी तक वे पुरुषो की भांति उपनयन के अनन्तर ब्रह्मचर्य धर्म का भली भाति पालन करते हुए वैदिक शिक्षा प्राप्त करती रही। किन्तु, विकास के क्रम में न केवल उन्हें उपनयन एवं धार्मिक अधिकारो से वंचित कर दिया गया, बल्कि वे वैदिक एवं उच्च शिक्षा से भी पृथक होती गयी और सह-शिक्षा एवं गुरुकुलीय शिक्षा उनके लिये अतीत का विषय बन गया। किन्तु, व्यवहारिक एवं नैतिक विषयों की शिक्षा उन्हें दी जाती रही, जिसका केन्द्र परिवार होता था। महाकाव्यकालीन उत्तरा ने अपने पति अर्जुन से संगीत ओर नृत्य की शिक्षा ग्रहण की थी।[176]

ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी से उनका उपनयन संस्कार, जो वैदिक शिक्षा के लिये अपरिहार्य था, विवाह के समय ही सम्पन्न किया जाने लगा। इस संबंध में मनु का कथन है कि पति ही कन्या का आचार्य, विवाह ही उसका

उपनयन, पति सेवा ही उसका आश्रम एव गृहस्थी के कार्य दैनिक धार्मिक अनुष्ठान थे।[177] बाद के कतिपय स्मृतिकारों ने उनके विवाह के समय सम्पन्न होने वाले प्रतीकात्मक उपनयन के अनन्तर पढे जाने वाले वैदिक मंत्रों के उच्चारण पर भी प्रतिबंध लगा दिया।[178] इस प्रकार वैदिक ज्ञान उनके लिये अतीत का विषय बन गया। अब वे वैदिक ज्ञान की दृष्टि से शूद्रों की भाति हेय समझी जाने लगी। यद्यपि परिवार के ज्येष्ठ सदस्यो से वे व्यवहारिक एवं गृहोपयोगी विषयों की शिक्षा प्राप्त कर सकती थी। यम जैसे उत्तरकालीन स्मृतिकारो के कथन से इसकी पुष्टि होती है कि स्त्रियों को उनके निकट सम्बन्धी ही शिक्षा देते थे।[179] निश्चित रूप से विभिन्न प्रकार के सामाजिक एवं धार्मिक प्रतिबंधों का प्रभाव उनकी शिक्षा पर पडा, जिसके कारण उनकी वैदिक एव उच्च शिक्षा ह्रासोन्मुख हुई। यद्यपि समाज के निम्न वर्ण से सम्बंधित स्त्रियॉ पूर्व की भांति अब भी विभिन्न व्यवसायों, शिल्पो एव ललित कलाओं जैसे व्यवहारिक विषयों की शिक्षा अपने परिवार के सदस्यो से प्राप्त करती रहीं। इस प्रकार स्त्री शिक्षा की दृष्टि से परिवार की भूमिका सर्वथा महत्वपूर्ण बनी रही।

संस्कृत साहित्य में उपाध्याया, आचार्या, उपाध्यायनी और आचार्यानी जैसे शब्दों का उल्लेख मिलना यह सोचने के लिये विवश करता है कि कतिपय विदुषी स्त्रिगं शिक्षण कार्य भी करती थी, क्योंकि उपाध्यायनी और आचार्यानी जैसे शब्दों का प्रयोग उपाध्याय और आचार्य की पत्नी के लिये आदरस्वरूप हो सकता है, लेकिन उपाध्याया और आचार्या जैसे शब्दों का प्रयोग स्त्री शिक्षिकाओं की उपस्थिति को ही दर्शाता है। इस बात की पुष्टि "वृहदारण्यक उपनिषद" से भी होती है, जिसके अनुसार वे स्त्रियां, जो शिक्षा देने का कार्य करती थी, उपाध्याया और आचार्या कहलाती थी। इन विदुषियों से शिक्षा प्राप्त करने वाली स्त्रियों को "अध्येत्री" कहकर सम्बोधित किया जाता था। पतंजलि ने "औदमेध्या" नामक आचार्या का उल्लेख किया है जिससे शिक्षा प्राप्त करने वाली स्त्रियां "औदमेधा" कहलाती थी।[180] वात्स्यायन

ने भी आचार्या और अपाध्याया जैसी महिला शिक्षिकाओं का उल्लेख किया है।[181] अमरसिंह द्वारा रचित अमरकोश में भी स्त्री अध्यापिकाओ का उल्लेख मिलता है। स्पष्ट है कि प्राचीन भारत मे महिला शिक्षिकाएँ भी होती थी, जिन्हें आचार्या और उपाध्याया की संज्ञा से सम्बोधित किया जाता था,[182] ये तत्कालीन जिज्ञासु स्त्रियों को शिक्षित करने का कार्य करती थी। इन विदुषियों द्वारा संचालित संस्थाओं को महिला शिक्षण शालाओ के नाम से संबोधित किया जाता था, क्योंकि महर्षि पतंजलि ने ऐसी शिक्षण सस्थाओ को महिला शिक्षण शालाओं के नाम से रांबोधित किया है।[183] सभवतः इस प्रकार की संस्थाओं का प्रबधन स्वयं महिलाएं ही करती थी। जहा तक इनकी संख्या का प्रश्न है, पर्याप्त साक्ष्यो के अभाव में स्पष्टरूपेण कुछ भी कह पाना इतिहास के वैज्ञानिक स्वरूप को नकारना होगा।

उपलब्ध साक्ष्यों में सह एवं एकल शिक्षा का उल्लेख मिलता है, जिसका संबंध संभवतः गुरुकुलीय शिक्षा से था। जहॉ पुरूषों के साथ स्त्रियां भी शिक्षा के निमित्त जाती थी। गार्गी, मैत्रेयी, लोपामुद्रा, घोषा, विश्ववारा, सिकता जैसी तमाम स्त्रियां न केवल वैदिक ऋचाओं का गान करती थी, बल्कि अनेक मंत्रों की मौलिक रचना भी की थी। पुरूषों की भांति विभिन्न विद्वत् गोष्ठियों में भाग लेने के साथ ही साथ आयोजित शास्त्रार्थों में अपने गूढ प्रश्नों से विद्वान पुरूषों को परास्त भी करती थी। नि·सदेह इन स्त्रियों की शिक्षा परिवारोंपरान्त गुरुकुलों में दी जाती रही होगी। भवभूति रचित उत्तररामचरित से ज्ञात होता है कि आत्रेयी ने वाल्मीकि ऋषि के आश्रम में लव और कुश के साथ सह शिक्षा ग्रहण की थी।[184] वाल्मीकि और अगस्तस्य जैसे ब्रह्मर्षियों से वेदान्त की शिक्षा प्राप्त कर विदुषी बनने वाली मैत्रेयी का उल्लेख मिलता है।[185] भवभूति रचित मालती माधव से ज्ञात होता है कि कामन्दकी की शिक्षा भूरिवसु और देवराट के साथ हुई थीं[186] महाभारत से भी सह शिक्षा का उल्लेख मिलता है, जिसके अनुसार अंबा और शैखावत्य एक साथ शिक्षा ग्रहण करते थे। पुराणो में वर्णित कहोद और सुजाता तथा रूह और प्रमवदरा की कथाओं से

ज्ञात होता है कि सह–शिक्षा का अस्तित्व था और स्त्रियों का विवाह शिक्षोपरान्त वयस्क होने पर ही होता था। स्पष्ट है कि प्राचीन स्त्रियां जो वैदिक शिक्षा प्राप्त करने के लिये लालायित रहा करती थी, उन्हें विदुषी बनाने में परिवार एवं गुरुकुलों की महत्वपूर्ण भूमिका रही। ऐसा प्रतीत होता है कि परिवार मे सामान्य शिक्षा प्राप्त कर लेने के उपरान्त वे स्त्रियां जो उच्च शिक्षा प्राप्त कर विशेषज्ञता हासिल करना चाहती थी, उन्हें सह–शिक्षा के अनन्तर गुरुकुलो मे विद्वान आचार्यों के पास भेजने की परम्परा विद्यमान थी। लेकिन, कालान्तर मे जब उनपर भांति भांति के सामाजिक और धार्मिक प्रतिबध लगाये जाने लगे, तब सम्भ्रांत कुल की स्त्रियां उच्च शिक्षा प्राप्त करने के निमित्त संभवतः उन शिक्षण शालाओं मे जाने लगी हो, जिनका संचालन महिला-शिक्षिकाओं द्वारा होता था। जबकि साधारण एव निम्न कुल की स्त्रियां विभिन्न गृहोपयोगी एव व्यवहारिक विषयों की ही शिक्षा प्राप्त करती रही, जिसका केन्द्र परिवार होता था और शिक्षक परिवार के ज्येष्ठ एवं अनुभवी सदस्य होते थे।

जहां तक स्त्री शिक्षा की दृष्टि से बौद्ध शिक्षण केन्द्रों का प्रश्न है, यह सच है कि ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी से स्त्रियों के वैदिक शिक्षा पर क्रमशः प्रतिबंध लगने लगा था, लेकिन बौद्ध संघ में उन्हें प्रवेश की अनुमति मिल जाने के कारण वे सम्बन्धित धर्म एव दर्शन की उच्च शिक्षा प्राप्त करती रही। बुद्ध, यद्यपि स्त्री समाज के भिक्षु संघ मे प्रवेश के पक्ष मं नही थे। विनय पिटक से इस बात की पुष्टि होती है, जिसके अनुसार बुद्ध स्त्रियो के प्रव्रज्या ग्रहण के विरूद्ध थे और कपिलवस्तु में विमाता प्रजापति गौतमी के भिक्षुणी बनने के अनुरोध को ठुकरा दिया था। लेकिन अपने प्रिय शिष्य आनन्द के विशेष अनुरोध पर 8 शर्तों के साथ उन्हें सघ मे प्रवेश की अनुमति दे दी गयी। परिणामतः वे स्त्रियां, जो वैदिक ज्ञान की उच्च शिक्षा से क्रमशः वंचित होने लगी थी, बौद्ध शिक्षा की ओर उन्मुख हुई। और विभिन्न क्षेत्रों में विशेष दक्षता हासिल की। थेरीगाथा की 50 कवियित्रियों में 32 आजीवन ब्रह्मचारिणी एवं 18 विवाहित भिक्षुणियां थी। इनमें शुभा, सुमेधा और अनोपमा उच्च कुल की स्त्रियां

थी, जिनकी विद्वता से प्रभावित होकर राजकुमार और संपत्तिशाली सेठों के पुत्र उनसे विवाह हेतु उत्सुक रहा करते थे।[187] खेमा उच्च शिक्षा प्राप्त ऐसी ही स्त्री थी, जिसकी विद्यता की ख्याति दूर दूर तक फैली थी। संयुक्त निकाय से ज्ञात होता है कि सुभद्रा नामक भिक्षुणी व्याख्यान देने में दक्ष थी। राजगृह के संपत्तिशाली सेठ की पुत्री भद्राकुडकेशा अपनी विद्वता से समकालीन विद्वानों को आकृष्ट करती थी। जातक साहित्य से विदित होता है कि एक जैन पिता की चार पुत्रियों ने देश का भ्रमण करते हुए तत्कालीन विद्वानों को दार्शनिक वाद–विवाद हेतु चुनौती दी थी,[188] जैन परम्परानुसार कौशाम्बी नरेश सहसानीक की पुत्री जयंती ज्ञान प्राप्ति के निमित्त आजन्म अविवाहित रही। गाथा सप्तशती (प्रथम शती ईस्वी) मे सात विदुषियो के पद सग्रहीत है, जो स्त्री शिक्षा के महत्व एवं विस्तार को प्रतिबिम्बित करता है। विदित है कि बौद्ध शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बुद्ध के विचारों एव सिद्धातो का प्रचार–प्रसार करना था और इस कार्य में बौद्ध मठ एवं बिहार सफल रहे, जहां जिज्ञासु भिक्षु एवं भिक्षुणियों को सह शिक्षा के अनन्तर धर्म एवं दर्शन की शिक्षा दी जाती थी। कालान्तर में छात्रो की संख्या बढने एवं पाठ्यक्रमों का विस्तार होने से बडे शिक्षण संस्थाओं का जन्म हुआ। परिणामतः वे बौद्ध मठ एवं विहार, जो महज धर्म एवं दर्शन के शिक्षण केन्द्र थे, बडे संस्थाओं के रूप में स्थापित हुए, जहां धर्म, दर्शन एवं आध्यात्मिक विद्या के साथ ही साथ विभिन्न शिल्पों, ललित कलाओं और अन्य व्यवहारिक् विषयों की शिक्षा जिज्ञासु भिक्षु और भिक्षुणियों को दी जाने लगी। स्पष्ट है कि बौद्धों ने स्त्री शिक्षा के महत्व को समझकर उनमें आ रही शैक्षिक गिरावट को रोकने का प्रयास किया था। किन्तु, कालान्तर में बौद्ध संघ में तमाम स्त्रीजनित बुराइयॉ प्रवेश कर जाने के कारण, उसका स्त्री शिक्षा पर विपरीत प्रभाव पड़ा और वे पुनश्च उच्च् शिक्षा से वंचित होने लगी। यही कारण है कि जो चीनी यात्री 5वीं से 7वीं शताब्दी के मध्य भारत आए हुए थे, उनके वर्णनों में किसी विदुषी भिक्षुणी का उल्लेख नही मिलता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋग्वैदिक काल से लेकर लगभग छठी शताब्दी ईस्वी तक स्त्री शिक्षा की दृष्टि से शिक्षण संस्थाओं एवं पाठ्यक्रमों का स्वरूप समय समय पर परिवर्तित होता रहा। यद्यपि शिक्षण संस्थाओं के रूप मे गुरुकुलों, महिला शिक्षण शालाओं, बौद्ध मठों एवं विहारों की भूमिका महत्वपूर्ण रही। किन्तु, परिवार की महत्ता सर्वथा बनी रही।

स्त्री शिक्षा में व्यवधान

ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी के उपरान्त स्त्रियो का उपनयन संस्कार प्रतिबंधित होने के कारण न केवल उनकी उच्च शिक्षा प्रभावित हुई, बल्कि उनका स्वतत्र विकास भी बाधित हुआ। सूत्रकाल तक शैक्षिक दृष्टि से उनका स्थान पुरूषो के समकक्ष था। वृहदारण्यक् उपनिषद् के अनुसार शिक्षित कन्या की प्राप्ति हेतु अनुष्ठान किये जाते थे।[189] पुरूषो की भांति वे भी उपनयन के अनन्तर ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए उच्च शिक्षा प्राप्त कर अपने को विदुषी बनाती थी। जो स्त्री–पुरूष शिक्षित होते थे, वे विवाह योग्य उत्तम समझे जाते थे।[190] कुछ ऐसी भी स्त्रियॉ थी, जो एकनिष्ठता के साथ जीवनपर्यन्त अविवाहित रहकर विद्याध्ययन करती थी[191]।

विदित है कि ऋग्वैदिक काल से ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी तक उनका विवाह साधारणतया 16–17 वर्ष की अवस्था मे सम्पन्न होता था। किन्तु, आगे चलकर यह कार्य जो दर्शन काल मे ही सम्पन्न होने लगा। यद्यपि कुछ स्मृतिकार अब भी योग्य वर के अभाव मे उनका विवाह 16–17 वर्ष की अवस्था तक रोके रखने के पक्ष में थे।[192] मनु जैसे स्मृतिकार 12 वर्ष की अवस्था में स्त्री-विवाह के पक्षधर थे लेकिन योग्य वर के अभाव में वे भी उन्हें मृत्युपर्यन्त अविवाहित रखने के पक्ष में थे।[193] याज्ञवल्क्य[194] संवर्त्त[195] और यम[196] जैसे परवर्ती स्मृतिकार उन संरक्षकों की कोटिशः निन्दा करते हैं, जो रजादर्शन काल तक अपनी कन्या का विवाह नहीं करते थे। कतिपय अन्य स्मृतिकार 7

से 9 वर्ष की अवस्था में ही स्त्री–विवाह का समर्थन कर पुण्य–प्राप्ति का लालच देते थे।[197] स्पष्ट है कि वैवाहिक उम्र में निरंतर ह्रास होने के कारण अल्पायु में ही उनका विवाह कर देना सामाजिक आदर्श बनता गया। परिणामतः उनका उपनयन एवं ब्रह्मचर्य धर्म बाधित हुआ और वे उच्च शिक्षा एवं धार्मिक अधिकारो से क्रमशः वंचित होती गयी। यद्यपि गुप्त काल से पौराणिक धर्म अत्यधिक लोकप्रिय होने के कारण विभिन्न त्योहारों एव मांगलिक अवसरों पर संपन्न होने वाले उपवास, व्रत, दान, पूजा, तीर्थयात्रा आदि धार्मिक कृत्य स्त्रियों से सम्बद्ध कर दिये गये। इस तरह के धार्मिक कृत्य वे सम्पन्न कर सकती थी, क्योंकि इन कृत्यो मे वैदिक मंत्रो के उच्चारण की आवश्यकता नही थी।

स्मरणीय है कि उनका उपनयन संस्कार प्रतिबंधित हो जाने के कारण ईसा की प्रथम शताब्दी से साधारणतया 8–12 वर्ष की अवस्था मे ही उनका विवाह संस्कार सम्पन्न होने लगा। क्योंकि अधिक आयु तक उन्हें अविवाहित रखना पाप समझा जाता था[198] इस धारणा के पीछे कई कारण थे, प्रथम उनके लिये उपनयन संस्कार का प्रतिबधित होना। जब उन्हे वैदिक एवं उच्च शिक्षा से वंचित कर दिया गया, तो विवाह ही उनका उपनयन समझा जाने लगा और गृहस्थी के कार्य उनके धार्मिक अनुष्ठान। चूँकि, तत्कालीन समाज में अविवाहित स्त्री को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा था अत. निर्धारित अवस्था तक उनका विवाह कर देना पारिवारिक धर्म एवं सामाजिक आदर्श बन गया। निःसंदेह इसका प्रभाव स्त्री–शिक्षा पर पडा। द्वितीय कारण, विदेशियो का भारत पर आक्रमण एवं उनका प्रसार रहा। जिन्होने न केवल यहॉ के प्रदेशों को विजित किया, बल्कि यहॉ के मूल निवासियों (आर्यो) के साथ वैवाहिक संबंध भी स्थापित किया। चूँकि, प्राचीन आर्यों को अपने रक्त पर बडा अभिमान था, अतः समकालीन व्यवस्थापकों ने रक्त की शुद्धता को बनाए रखने के साथ–ही–साथ स्त्रियों के कौमार्य की रक्षा एवं तत्कालीन समाज में बढ़ रहे वर्ण संकरण के प्रभाव को रोकने हेतु अनेक कठोर नियम

बनाए। बाल–विवाह का समर्थन इसी का परिणाम था। अन्तर्वर्णीय एवं अर्न्तजातीय विवाह को रोकने हेतु उन्होंने बाल–विवाह का समर्थन किया और प्रत्येक स्त्री के लिये विवाह को अपरिहार्य बताया। तृतीय कारण, वे स्त्रियॉ, जो उच्च शिक्षा के उद्देश्य से बौद्ध दीक्षा ग्रहण कर संबंधित शिक्षण–केन्द्रो पर जाती थी, लेकिन, ब्रह्मचर्य धर्म के सम्यक पालन में अपने को असमर्थ पाती थी। इसके कारण तत्कालीन समाज में न केवल उनकी निन्दा की जाती थी, बल्कि उन्हे अत्यन्त हेय दृष्टि से देखा जाने लगा। शिक्षा–समाप्ति के उपरान्त उन्हे परिणय–सूत्र में बधने में भी सामाजिक परेशानी उठानी पड़ती थी। विनय पिटक मे स्त्रियो के शील भंग होने के अनेको उदाहरण मिलते है।[199] पॉचवी शताब्दी के उपरान्त बौद्ध सघ मे तात्रिक विचारधारा का प्रवेश हुआ, जो मैथुन सुख में ही परम आध्यात्मिक आनन्द ढूँढते थे। परिणामतः बौद्ध भिक्षुणियों का नैतिक एवं चारित्रिक पतन होना अवश्यंभावी हो गया। अतः वे परिवार, जो अपनी कन्याओं को उच्च–शिक्षा के निमित्त बौद्ध शिक्षण–केन्द्रों पर भेजा करते थे, वे अत्यन्त सजग होने लगे, तथा उनका विवाह जो दर्शन काल में ही करना श्रेयस्कर समझा जाने लगा जिससे उनके नैतिक एवं चारित्रिक पतन को रोका जा सके। इस प्रकार प्रत्येक स्त्री का विवाह अल्पायु में ही कर देना सामाजिक आदर्श बनता गया। विदित है कि यद्यपि महात्मा बुद्ध संघ में स्त्रियो के प्रवेश के पक्ष में नही थे, तथापि अपने प्रिय शिष्य आनन्द के विशेष अनुरोध पर उन्होंने प्रवेश की अनुमति दे दी।[200] परिणामतः समाज में उत्तरोत्तर अविवाहित भिक्षुणियों की संख्या बढने लगी। जिसके कारण पूर्व ब्राह्मणों द्वारा स्थापित पारिवारिक मर्यादा एवं सामाजिक आदर्श भंग होने लगा। अतः तीव्रगति से इस प्रवृत्ति को रोकने के उद्देश्य से तत्कालीन स्मृतिकारों ने अल्पायु में ही स्त्री–विवाह को वैध ठहराया। तत्कालीन समाज में यह भावना भी व्याप्त होती जा रही थी कि विवाहित स्त्री की अपेक्षा अविवाहित स्त्री को अधिक जोखिम उठानी पडती है। संभवतः इसीलिए उन्हें परिवार में ही सामान्य एवं व्यवहारिक विषयों की शिक्षा प्रदान कर विवाह संस्कार सम्पन्न

कर देने की परम्परा चल पडी। निःसन्देह इस व्यवस्था के कारण उनकी उच्च शिक्षा प्रभावित एव बाधित हुई होगी। यद्यपि विभिन्न प्रतिबंधो के उपरान्त भी अभिजात एवं कुलीन परिवारो की स्त्रियो को उच्च शिक्षा प्रदत्त किये जाने का उल्लेख मिलता है, लेकिन इसका सम्बन्ध विभिन्न शिल्पो एव ललित कलाओं जैसे व्यावहारिक विषयों से ही था। यथार्थतः तत्कालीन समाज की बहुसंख्यक स्त्रियॉ उच्च शिक्षा से वंचित रह जाती थी और वे विभिन्न विषयों की सामान्य एवं व्यवहारिक दक्षता प्राप्त कर कुशल गृहिणी बन जाने में ही अपनी सार्थकता समझने लगी थी।

सन्दर्भ

1. ऋग्वेद, 1.117., 5.28.6, 2.8.9
2. वही, 1.92.4, 10.71.11
3. वही, 1.17, 5.28, 8.91, 1.39, 40, 9.81
4. डॉ. आर. के. मुखर्जी
5. श्री वी. जी. गोयल
6. ऋग्वेद, 8.91, 5–6
7. वही, 1.2.3.6, 2.32.4
8. वही, 1.112.10, 1.116.15
9. अथर्व., 11.5.18
10. शुक्ल यजुर्वेद, 8.1
11. बृह. उप., 4.4.18
12. अथर्व, 11.5.18.1
13. कौशी. ब्रा., 2.9
14. बृह. उप., 2.4, 4.5
15. वही, 3.4.1, 4.5.1, 2.4.3
16. वही, 3.6.8

17. वही, 3.6.1

18. अथर्व, 11.5.18

19. वही, 2.36.1, 11.1.17.27

20. तै. सं., 5.7

21. आश्व. गृ. सू. 3.4.4

22. तै. सं., 5.7, 6.1, 6.5

    मैत्रा. सं., 3.73

23. गोभिल गृ. सू., 3.7.13.2.7

24. आश्व. गृ. सू., 3.8.11

25. गोभिल गृ. सू., 2.1.19.20

26. कात्या. गृ. सू., 23.25

27. आश्व. गृ. सू., 3.4.4

    दृष्ठव्य · स्वामी विवेकानन्द, शिक्षा, रामकृष्ण मठ, नागपुर पृ. 64 इनका विचार है कि वैदिक और औपनिषदिक युग मे गार्गी, मैत्रेयी आदि पुण्यस्मृति महिलाओं ने ऋषियों का कथन ले लिया था। किन्तु, जब पुरोहितों ने अन्य जातियो को वेदाध्ययन के अयोग्य ठहराया, उसी समय उन्होंने स्त्रियों को भी अपनी अधिकारों से वंचित कर दिया।

28. महाभाष्य, 4.1.78

29. वही, 6.2.86

30. हारीत संस्कार प्रकाश मे उद्रधृत

31. रामायण 7.17

32. महा. अनु. 40, 46.5

33. रामायण, 2.10.15, 4.16.12

34. वही, 5.19.48

35. वही, 1.1.8–9

36. वही

37. वही, 3.73–74

38. महाभारत, 39

40. महाभाष्य, 4.1.14.3.155
41. हार्नर, विमेन अंडर प्रिमिटिव बुद्धिज्म, द्वितीय अध्याय
42. जातक सं. 301
43. मनु., 2.67, वैवाहिको विधिः स्त्रीणा संस्कारों वैदिको मतः। पतिसेवा गुरौर्वासों गृहार्थोग्नि परिक्रिया।।
44. वही, 2.56, 9.18 अमन्त्रिका तु कार्थेयं स्त्रीणामावृद् शेषतः। न तथा नास्ति स्त्रीणां क्रिया मत्रौरिति धर्मे व्यवस्थिति.। यम, 1.13
45. पुराण तंत्र, वी.मि. परिभाषा, पृ. 40., बदन्ति केचिन्मुनयः स्त्रीणां शूद्रसमानताम्।
46. मनु., 2.67
47. यम का उद्धरण, संस्कार प्रकाश, पृ. 402–3
पुराकल्पे कुमारीणां मौजीबधन मिष्यते। अध्यापन च वेदानां सावित्रीवाचनं तथा।। पिता पितृव्यो भ्राता वा नैमध्यापयेत्पर.। स्वगृहे चैव कन्यायाः भैक्षचर्या विधीयते्। वर्ज़येदजिन चीर जटाधारण्मेव च।।
48. काव्य मीमांसा, पृ., 53 पुरुषवद्योषितोऽपि कविभवेयुः श्रूयन्ते दृश्यन्ते च राजपुत्र्यों महामात्र दुहितरो गणिकाः कौटुम्बिक भार्याश्च शास्त्रप्रहिबुद्धयः कवयश्च।
49. कामसूत्र, 1.3.12
50. वही, 4.1.32
51. वही, पृ. 364, तेषा कलाग्रहणे गंधर्वयशालायाम् संदर्भनयोगाः।
52. हर्षचरित, 4.230, अथ राज्यश्री रवि नृत्यगीतादिषु विदग्धासु सखीषु सकलासु कलासु च प्रतिदिननुपचीयमानपरिचया शनैः शनैः अवर्द्धत्।
53. गाथा सप्तशती, 1.87.90, 2.2.63, 3.1.91, 4.3.28, 63.74.76
54. काव्यमीमांसा अध्याय 10
55. कर्पूरमजरी, 1.11
56. ऋग्वेद, 1.72.5, 5.32
57. तै. ब्रा., 3.75

58. शत. ब्रा. 5.1.6.10

तै. ब्रा., 22.2.6

59. अथर्व, 2.36.1, 11.1.17.27, योषितों यज्ञिया. इमाः।

60. रामायण

61. अथर्व. 11.5.18, ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विदन्ते पतिम्।

62. गो. गृ. सू., 3.7.13.2.7

63. पा. गृ. सू., 2.20, स्त्रिश्चोपयजेरम्ना चरित्वात्।

64. आश्व. गृ. सू., 3.8.11

65. गो. गृ. सू., 2.1.19–20

66. आपस्तम्ब गृ. सू., 15.12–13

67. आश्व. गृ. सू., 3–4

68. मनु., 2.66

69. महाभाष्य, 4.1.14, 3.155

70. मनु, 2.67, वैवाहिको विधिः स्त्रीणा संस्कारो वैदिको मतः।

पतिसेवा गुरौर्वासो गृहार्थोग्नि परिक्रिया।।

71. वही, 2.56, 9.18

72. यम, 1.13

73. पुराण तंत्र, वी. मि. परिभाषा, पृ. 40,

वदन्ति केचिन्मुनयः स्त्रीणां शूद्रसमानताम।

74. यम का उद्धरण, संस्कार प्रकाश, पृ. 402–3

75. पूर्व मीमासा, 1.2.2

76. का. गृ. सू., 23.25

77. ऋग्वेद, 1.35.24

तै. ब्रा., 2.2.2.6

78. बौ. स्मृति सू., 5.9

79. ऋग्वेद, 10.85.42, शतपथ ब्रा., 5.3.1.13, थेरीगाथा, 63

80. ऋग्वेद, 1.66.3, 1.124.4, 3.53.4

अथर्व., 14.2.43

81. शत. ब्रा., 5.1.6.10

तै. ब्रा., 22.2.6

82. अथर्व., 2.36.1, 11.1.17.27

83. शत. ब्रा., 5.2.1.10

84. शत. ब्रा., 1.19.2.14

85. पा. गृ. सू.

86. गो. गृ. सू., 2.1.19

87. अर्थव., 11.5.18

88. गोभिल गृ. सू., 2.1.19–20

89. आश्व. गृ. सू., 3.8.11

90. मनु., 2.67, विवाहिको विधिः स्त्रीणां सस्कारो वैदिको मत: ।

91. वही, पति सेवा गुरौर्वासौ गृहार्थोग्नि परिष्क्रिया।

92. बृहत् संहिता, 74.5, 5, 11, 15–16

मनु., 9.26

वेद व्यास स्मृति, 2.14

93. ऋग्वेद, 10.85.46

94. वही, 1.72–5, 5.32

95. तै. ब्रा., 3.75

96. शत. ब्रा., 1.19.2.14

97. ऋग्वेद, 10.86.10

98. शत. ब्रा., 5.1.6.10

तै. ब्रा., 22.2.6

99. ऋग्वेद, 1.131–3

100. अथर्व. 2.36.1, 11.1.17.27, योषितो यज्ञियाः इमाः।

101. तै. ब्रा., 3.8.3

102. ऋग्वेद, 3.81,यादम्पत्ति सुमनसा सुनुत आ च धावतः देवा सो नित्यया शिरा।

103. शत. ब्रा., 1.1.4.13

104. ऐत. ब्रा., 1.2.5

शत. ब्रा., 5.1.6.10

105. ऐत. ब्रा., 7.9.10

106. गो. गृ. सू., पत्युर्णो यज्ञसयोगे।

पाणिनी, 4.1.33

107. पारा. गृ. सू., 3.2

हरिहर की टीका

108. पा. गृ. सू., 2.20, स्त्रियश्चोपयजेरम्ना चरितत्वात्।

109. रामा., 2.20.15, सा क्षौमवसना दृष्टानित्य व्रतपरायणः अग्नि जुहोति स्म तदा मत्रविस्कृत मंगला।।

110. वही, 4.16.12, तत· स्वस्त्ययनं कृत्वा मत्रविद्विजयैषिणी।

111. वही, 5–15.48, संध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी।

नदीं चेमां शुभजलां सध्यार्थ वखर्णिनी।

112. वही

113. वीर, मित्रो. पृ. 402 प्र हारीत का वचन।

स्मृति चंद्रिका पृ. 62

114. गो. गृ. सू., 2.1.21

जै.गृ. सू., 1.20

115. वी. मि. सं., पृ. 903,

एतादृशव्याख्याने स्त्रीणा तत्द्बलिप्रदानानुकूल विद्या कल्पना स्यात्।

116. पुराण तंत्र, वी. मि. परिभाषा, 40

यम का उद्धरण, संस्कार प्रकाश, पृ. 402–3

117. बृह. उप., 2.4, 4.5, सा होवाच मैत्रेयी।

येनाहं नामृता स्याम् किं तेनाहं कुर्यामिति।

118. वही, 3.6.1, अनतिपृश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि।

119. ऋग्वेद, 8.81, 5–6

120. महाभा., 3.305–20

121. उत्तर रामचरित, अंक 2,

तेभ्योऽधिगन्तुं निगमान्त शिक्षां वालमीकि पार्श्वादिह संचरामि।

122. वही, अंक 2

123. गाथासप्तशती, 1.87, 90, 2.2.63, 3.1.91, 4.3.28, 63, 74, 76

124. कर्पूरमंजरी, 1.11

125. शंकर दिग्विजय, 8.51,

विधाय भार्या विदुषी सदस्यां विधियतां वादकथा सुधीन्द्र।

126. रामायण, 7.17

127. महाभारत, 4.1.14, 3.155

128. वायु पु., 66.27

ब्रह्माण्ड पु. 3.2.28

129. वही, 72. 13–15

वही, 3.10.15-16

130. विष्णु पु., 3.10.19

वायु पु., 28–29–30

ब्रह्माण्ड पु., 2.13.30

131. मत्स्य पु., 20.27

132. वही, 4.24, या सा देहार्द्धसम्भूता गायत्री ब्रह्मवादिनी। शतरूपा शतेन्द्रिय।।

133. वही, 154, 290–301, 308– मत्स्य पु., 15.5–6 वायु पु., 41.31,

तपस्तप्तवती चैव यत्र देवी वरांगना।

134. महाभारत

135. रामायण, 3.73–74

136. हॉर्नर, विमेन अंडर प्रिमिटिव बुद्धिज्म, द्वितीय अध्याय

137. ऋग्वेद, 1.92.4, 10.71.11

138. ऋग्वेद

139. वही, 1.17, 5.28, 8.91, 9.81, 1.39, 40

140. बृह., उप., 3.6.1, अनतिपृश्नया वै देवतामतिपृच्छसि।

141. वही, 2.4, 4.5

142. आश्व. गृ. सू., 3.4.4

143. महाभारत, 3.305–20

144. रामायण, 7.17

145. महाभारत, 4.1.14, 3.155

146. हार्नर, वीमने अंडर प्रिमिटिव बुद्धिज्म, द्वितीय अध्याय

147. जातक स., 301

148. गाथासप्तशती, 1.87.90, 2.2.63, 3.1.91, 4.3.28, 63, 74, 76, 1.70, 1.86, 4.4

149. शब्दार्थयोः समोगुम्फः पांचाली रीतिरूच्यते। शीलभट्टारिका वाचि ....।।

150. सूक्तिनां स्मरकेलीनां कलाना च विलास भूः।
प्रभुदेवी कवी लाटी गतापि हृदि तिष्ठति।

151. सरस्तीव कर्नाटी विजयांका जमत्यसौ।
या वैदर्भगिरां वासः कालिदासादनन्तरम्।।

152. क्र सं. 128 से 132 देखें।

153. काव्य मीमांसा, श्री कृष्णमाचारी की क्लासिकल सस्कृत साहित्य, पृ. 301—3 पार्थस्य मनसि स्थानं लेभे खलु सुभद्रया। कबीनां च क्चोवृत्ति चातुर्येण सुभद्रया।। शारग पा., शीला विज्जामारूलामोरिकाद्या. काव्यं कर्त्तुसंति विज्ञाः स्त्रियोऽपि। विद्यां वेत्तुं वादिनो निर्विजेतु विश्वं वक्तुं यः प्रवीणः स वन्द्यः।।

154. शंकर दिग्विजय, 8.51

155. नदवी कृत अरब—भारत संबंध, पृ. 122

156. कर्पूरमंजरी, 1.11

157. ऐसा उद्धरण मिलता है कि भोजन के समय पति ने कहा 'दधिामानय', जिसका अभिप्राय 'दधि' से था, लेकिन उसने भूल वश 'दघिमानय' कह दिया जबकि उसे 'दध्यनाय' कहना चाहिए था। पत्नी ने उसके सम्मान की रक्षा करते हुए उसका अर्थ 'दधिमाआनय' लगाकर दूध ले आयी।

158. काव्यमीमांसा, पृ. 53

159. ऋग्वेद, 8.91.5-6

160. वही, 1.2.3.6, 2.32.4

161. तै. सं., 6.1.6.5

शत. ब्रा., 14.3.1.35

162. महाभारत

163. मत्स्य पु., 2.10.20, वही 131.9

164. विष्णु पु., 2.10.20, वही 5.22.22

165. काव्यमीमांसा, पृ. 53

166. हर्षचरित्, 4.230

167. वात्स्यायन रचित कामसूत्र मे 64 कलाओ का उल्लेख मिलता है, 1.3.16

168. पालि साहित्य, भाग 3, पृ. 298 कुसलाहं गहपति कप्पासं कांत तुं वेणिमोलिखितुं सक्वाहं गहपति त्वाच्येन दारके पौसेतुम।

169. कौटिल्य रचित अर्थशास्त्र, 2.23

170. विष्णु पु., 24.25 वशि. ध. सू., कुमारी ऋतुमति त्रीणि वर्षाण्युपासीत्। उद्‌र्ध्वत्रिभ्यो वर्षेभ्यः पति विदेत्तुल्यम्।।

171. मनु., 9.89, काममाम रंणात्तिष्ठेद गृहे कन्यर्तुयत्यपि। न चैनेवां प्रयच्छैत्तु गुणहीनाय कहिंचित्।।

172. ऋग्वेद, 1.112.10, 1.116.15

173. राजतरंगिणी, 7.905–9, 931, 8.11.37–9

174. इंडियन ऐंटिक्वेरी, भाग 9, पृ. 274, भाग 18, पृ. 37

175. ए. क., भाग 7, शिमोध, 4, तिथि 1112 ई.

176. महाभारत

177. मनु., 2.67

178. वही, 2.56, 9.18, यम, 1.3

179. पुराणतंत्र, वी.मि. परिभाषा, पृ. 40
यम का उद्धरण, संस्कार प्रकाश, पृ. 402–3

180. पतंजलि रचित महाभाष्य, 4.1.78 औदमेध्यायाश्छात्रा औदमेधा।

181. कामसूत्र, 4.1.32

182. पाणिनि रचित अष्टाध्यायी, 3.822 उपेत्याधीते अस्याः सा उपाध्याया।।

183. महाभाष्य, 6.2.86, छात्र्यादयः शालायाम्।

184. उत्तर रामचरित, अंक 2

185. वही, तभ्योऽधिगन्तुं निगमान्त शिक्षां वाल्मीकि पार्श्वादिह संचरामि।

186. भवभूति रचित मालती माधव, अंक–1, अयिकिं न वेत्सि यदेकत्र नो विद्यापरिग्रहाय नानादिग्न्तवासिनां साहचर्यमासीत्।

187. हार्नर, वीमेन अंडर प्रिमिटिव, बुद्धिज्म, द्वितीय अध्याय

188. जातक सं, 301

189. बृह. उप., 6.4.17

190. अर्थव. 11.5.18,

शुक्ल यजुर्वेद, 8.1

191. शत. ब्रा., 3.24.6

192. वशि. ध. सू., कुमारी ऋतुमति त्रीणि वर्षाण्युपासीत।

उदर्ध्व त्रिभ्यो वषेभ्यः पति विदेत्तुल्यम्।

विष्णु., 24–25

193. मनु., 9.89

194. याज्ञ. स्मृति, 1.68

195. संवर्त्त स्मृति, 1.67

196. यम, 1.22

197. वी. मि. सं. में आश्वलायन, कश्यप आदि के वचन।

198. मनु., 9.90.93, याज्ञ., 1.67

199. विनय पिटक, पृ. 537.40

200. चुल्लवग्ग, 10.1.6, अंगुत्तर निकाय, 4, पृ. 278

● ● ● ● ●

षष्ठ अध्याय

उपसहार
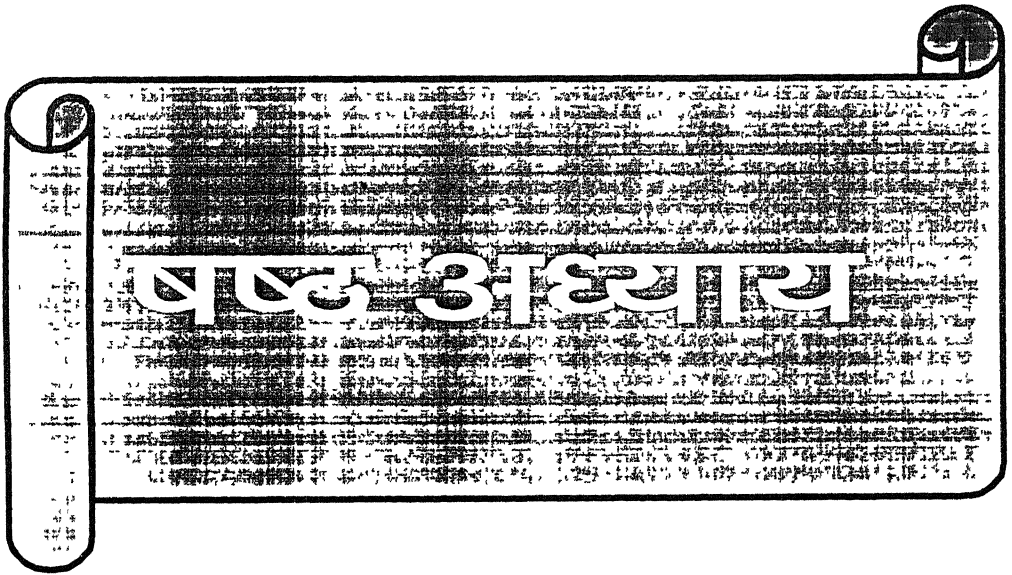
'शिक्षा' शब्द अंग्रजी के 'एजूकेशन' के पर्याय के रूप मे व्यवहृत है। प्राचीन भारत मे यह सर्वप्रथम विद्याभ्यास के अर्थ में प्रयुक्त हुआ, किन्तु आगे चलकर छः वेदागो में से एक के अभिहित अर्थ में रूढ़ हुआ, जिसमें वेद के स्वर, मात्रा, उच्चारण आदि का निरूपण था। विकास के क्रम मे क्रमशः इसका अर्थ व्यापक होता गया और इसके अन्तर्गत लौकिक ज्ञान से लेकर ब्रह्मनिरूपण एव ब्रह्मानुभूति तक सम्पूर्ण ज्ञान समाहित हुआ, जो मंत्रोपदेष्टा गुरू के द्वारा प्राप्य संभव था।

तैत्तिरीयोपनिषद् (कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषद्) की तीन वल्लियों में शिक्षा प्रथम वल्ली है। इसमें शिक्षा के लिए आह्वान्, पाठ–वैभव, विषय–आश्रयो, उद्देश्यो आदि पर विचार किया गया है। बारह अनुवाक् हैं। तृतीय अनुवाक् में प्रार्थना और उपदेशो से आच्छादित महासंहिता के पांच आश्रयों का वर्णन मिलता है, जो लोक विषयक (पृथ्वी, स्वर्ग, आकाश और वायु), ज्योतिविषयक (अग्नि, आदित्य, जल और विद्युत), विद्या विषयक (आचार्य, शिष्य और विद्या), प्रजा और संतानोत्पत्ति विषयक (माता, पिता और प्रजा) तथा आत्मा विषयक (हनु , उत्तराहनु , वाणी और जिह्वा) के रूप में वर्णित है। साथ ही यह भी कहा गया है कि जो इसमें विज्ञ हो जाता है, वह संतान से, पशुओ से, ब्रह्मतेज से, अन्न से और स्वर्गलोक से सम्पन्न हो जाता है।

प्राचीन शिक्षा भारतीय संस्कृति की आधार शिला रही है, जिसका उद्देश्य व्यक्तित्व का सर्वागीण विकास करना था। वह जहाँ एक ओर सामाजिक उत्तरदायित्वों और मूल्यों का बोध कराती थी, वहीं दूसरी ओर समाज में शांति, समन्वय और वर्ग आकांक्षाओ के शमन का कार्य भी करती थी। प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह किसी भी वर्ण या वर्ग का होता था, उसे अपनी योग्यतानुसार अभिलषित विषयों की शिक्षा प्राप्त करने की व्यवस्था थी। शिक्षा व्यवसायोन्मुख होने के कारण शिक्षा

समाप्ति के उपरान्त स्नातको के समक्ष आजीविका की समस्या नही रहती थी। आज बहुसंख्यक वर्ग को जो शिक्षा दी जा रही है, उसका उद्देश्य अस्पष्ट है। जो व्यक्ति जितना अधिक शिक्षित है, वह उतना ही अधिक परेशान और तनावग्रस्त है, क्योकि वर्तमान शिक्षा अर्थप्रधान होने के कारण अपने मूल उद्देश्यो से विचलित हो चुकी है। अतः छात्रो का सर्वागीण विकास नही हो पा रहा है। शिक्षाविदों की यह मान्यता रही है कि शिक्षा से समस्त विकारो का नाश होता है और समाज में शान्ति एव अमन चैन का वातावरण उपलब्ध होता है। लेकिन, आज जो देश जितना अधिक शिक्षित है वह उतना ही अधिक परेशान एवं तनावग्रस्त है, क्योंकि वर्तमान शिक्षा चारित्रिक एवं नैतिक मूल्यो का उत्थान कर पाने मे असफल सिद्ध हो रही है। महज वाह्य, शुचिता का विकास होने के कारण व्यक्तिवादी चिन्तन के आवरण से सवेदनहीन महत्वाकांक्षा का जन्म हो रहा है जिसकी पूर्ति हेतु कोई भी कदम उठाना वैधता प्राप्त कर ले रहा है। इस व्यवस्था से न तो व्यक्ति और न समाज का ही भला हो सकता है। इसके लिए शिक्षा दोषी नही है, बल्कि शिक्षा का निहित उद्देश्य एवं उसकी पद्धति का दोषपूर्ण होना है। अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा को अपनी सांस्कृतिक परम्परा, नैतिकता और शाश्वत मूल्यों से जोडा जाय, जो प्राचीन शिक्षा पद्धति की विशेषता थी, तभी वर्तमान शिक्षा अपने मूल उद्देश्यो एव निहित आदर्शो में सफल हो पायेगी। डॉ. सम्पूर्णानन्द की अध्यक्षता मे भारत सरकार द्वारा नियुक्त "भावनात्मक एकता समिति" के प्रतिवेदन मे कहा गया है कि शिक्षा दार्शनिक मान्यताओं का योग है जो शिक्षार्थी के पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करने में शिक्षण को प्रभावी बनाते हैं, अन्यथा शिक्षार्थी विद्यालय अथवा कालेज छोडने के पश्चात् जीवन—सागर में बिना पतवार की नौका की भॉति शिक्षा का सवेदनहीन भार ढोता हुआ अपने को पायेगा। अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा आयोग के प्रतिवेदन में कहा गया है कि प्रत्येक देश के शिक्षा व्यवस्था वहॉ की राष्ट्रीय चेतना, सस्कृति एवं परम्पराओं की सर्वोच्च अभिव्यक्ति होती है। निःसन्देह प्राचीन शिक्षा पद्धति की यह विशेषता थी, जिसका अभाव वर्तमान शिक्षा पद्धति में परिलक्षित होता है।

प्राचीन शिक्षा की सार्थकता इस बात मे निहित थी कि उससे मनुष्य का सर्वागीण विकास हो। इसके अन्तर्गत मनुष्य की शारीरिक, मानसिक, नैतिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक एव लौकिक शक्तियॉ सम्मिलित थी। ऐसी मान्यता थी कि इसके कारण मानव स्वभाव में परिवर्तन होता है और वह श्रेष्ठ बन जाता है। इस प्रकार शिक्षा अन्तर्ज्योति एवं शक्ति की स्रोत मानी गयी थी। स्वामी विवेकानन्द का विचार है कि मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है। कोई भी ज्ञान बाहर से नहीं आता, सब अन्दर ही है। वह प्रकाशित न होकर ढका रहता है और जब आवरण धीरे–धीरे हट जाता है, तो हम कहते हैं कि हम सीख रहे हैं। जैसे–जैसे अनावरण की क्रिया बढती है, हमारे ज्ञान में वृद्धि होती जाती है। यह कार्य गुरू के सान्निध्य से ही संभव होता है। शिक्षाविद् इस चिंतन से भली–भॉति परिचित थे और इसीलिए उन्होने आत्ममंथन और आत्मचिंतन के द्वारा आन्तरिक शुचिता पर विशेष बल दिया था तथा समस्त विकारों को दूर करने के लिए प्रायश्चित की व्यवस्था दी थी। यह मान्यता थी कि शिक्षा के माध्यम से ज्ञान और प्रकाश बल, शिक्षक और शिक्षार्थी के साथ–साथ सम्पूर्ण समाज को आलोकित करता है। महाभारत में उल्लिखित वाक्यांश ''नास्ति विद्या समचक्षु'' से ज्ञानार्जन का महत्व रेखांकित होता है। इस प्रकार वह न केवल व्यक्ति के जीविकोपार्जन में सहायक बनती है, बल्कि उसको धन के साथ–साथ कीर्ति और यश से भी समृद्ध करती है। वह मनुष्य मे सदाचार नैतिकता, सात्विकता, मानवता आदि गुणों का विकास कर यह सिखाती है कि वह सर्वदा अपने पूर्वजों, गुरूजनों एवं अग्रजो का आदर करे, सांस्कृतिक परम्पराओ के प्रति आस्था रखे, विवेक का त्याज्य न करे, अनुशासन का पालन करे, कर्तव्यनिष्ठ और ईमानदार बने, धर्म का आचरण करे और सत्य का अनुसरण करे। शिक्षार्थी का यह आदर्श होना चाहिए कि वह किन्ही प्रलोभनो मे न फसकर प्रमाद न करते हुए जीवनपर्यन्त शिक्षा प्राप्त करता रहे और सुशिक्षित होकर दूसरे शिक्षाभिलाषियो को शिक्षित करने हेतु प्रयत्नशील रहे। प्राचीन शिक्षाविदों की यह मान्यता रही है कि ज्ञान वितरण से न केवल वह बढ़ती है, बल्कि वह परिपक्व और तार्किक भी बनती है। इसीलिए धन दान की अपेक्षा विद्या दान को सर्वश्रेष्ठ माना गया था।

शिक्षा "ॐ" शब्द के उच्चारण से प्रारम्भ होकर 'गायत्री' मंत्र के स्मरणोपरान्त अन्य विषय की ओर उन्मुख होती थी। ऐसी मान्यता थी कि मंत्र का शुद्ध उच्चरण करने वाला, जहॉ मत्र से होने वाले पुण्यों से लाभान्वित होता है वहीं अशुद्ध उच्चारण करने वाला दैव कोप का भागी बनता है। इससे छात्रों का उच्चारण दोष दूर होता था तथा सुन्दर शब्द चयन से भाषा परिष्कृत होती थी। समस्त वेदो का ज्ञाता होने के साथ–साथ शिक्षक और शिक्षार्थी का चरित्रवान होना आवश्यक था। उच्च चरित्र के बिना वे आदर के पात्र नहीं हो सकते थे। नैतिक मूल्यों से युक्त भावना के विकास पर विशेष बल दिया जाता था, जिससे पाशविक वृत्तियो पर अंकुश लग सके तथा वे लौकिक एवं पारलौकिक कर्त्तव्यो का सम्यक् निष्पादन करने योग्य बन सके। यह दृढ निश्चय, आत्म संयम्, आत्मसम्मान और आत्मविश्वास के होने पर ही संभव था। अतः इन गुणों की प्राप्ति हेतु शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों सदैव सजग रहते थे। शिक्षा के द्वारा अतःकरण की शुचिता पर विशेष बल दिया जाता था। इससे छात्रो का आत्मबल मजबूत एवं उनका चारित्रिक विकास होता था। समस्त विकारो के शोधन हेतु प्रायश्चितजनित मनोवैज्ञानिक उपचार की व्यवस्था थी। इसके अन्तर्गत सामाजिक बहिष्कार एवं भावनात्मक उद्दीपन सम्मिलित था। ईश्वर भक्ति, धार्मिक भावना, चरित्र–निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, नागरिक एवं सामाजिक कर्त्तव्य का पालन, सामाजिक कुशलता की उन्नति तथा राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण और संवर्द्धन शिक्षा के उद्देश्य थे। शिक्षित और ज्ञानवान व्यक्ति अपने–अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों का सम्यक् एवं निष्ठापूर्वक निर्वहन करते थे। समाज वर्णाश्रम धर्म के अनुसार विभक्त था। सभी वर्ण एवं जातियों के कर्त्तव्य निर्धारित थे, जिन्हे निष्पादित करना उनका धर्म समझा जाता था। यद्यपि इस तरह के दृष्टांत भी मिलते हैं कि अन्य वर्ण के सदस्यो ने आपद्काल में अपने वर्णगत् कर्म को त्यागकर दूसरे वर्णो के कर्म को आत्मसात् किया था; जैसे क्षत्रियों ने ब्राह्मणों के, ब्राह्मणों ने क्षत्रियों के, वैश्यों ने शूद्रों के और शूद्रों ने वैश्यों के।

"संस्कार" शिक्षा का मूलाधार था जिसके द्वारा शिक्षार्थी का शारीरिक मानसिक, बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास होता था। शिक्षा प्रारम्भ होने से पूर्व प्रत्येक ब्रह्मचारी का उपनयन संस्कार होना आवश्यक था तथा समावर्तन सस्कार के साथ उसका समापन होता था। बौद्ध शिक्षा प्राप्त करने हेतु उपासको को प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा की दीक्षा से गुजरना पडता था। ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करना प्रत्येक ब्रह्मचारी का प्राथमिक कर्त्तव्य एवं भिक्षाटन के द्वारा जीवन यापन करना उसका अनिवार्य धर्म होता था। चूँकि, ब्रह्मचर्य धर्म का सम्यक् पालन ही गृहस्थ जीवन की सफलता का आधार बनता है। अतः गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने से पूर्व उनके व्यक्तित्व के सर्वागीण विकास हेतु ब्रह्मचर्य धर्म का पालन अनिवार्य था। इससे उनमे सात्विकता, सहजता एव मानवीय गुणों का समावेश होता था। इस प्रकार भौतिक तत्व का आध्यात्मिक सत्ता में उत्कर्षण ब्रह्मचर्य के द्वारा ही संभव था। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार पूर्ण ब्रह्मचर्य से प्रबल बौद्धिक एवं आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न् होती है। प्राचीन विद्वानो की यह शैली रही है कि जो नियम या सिद्धान्त जीवन के लिये हितकर होता था, उसे जनसामान्य मे मान्य बनाने के लिये उसका धार्मिक रूपान्तरण कर दिया जाता था। धार्मिक एवं कर्मकाण्डीय व्यवस्था के कारण शिक्षक और शिक्षार्थी मनोवैज्ञानिक रूप से अपने–अपने कर्त्तव्यों के प्रति निष्ठावान बने रहते थे। सामाजिक उत्तरदायित्वों का सम्यक बोध होने से वे आदर्श समाज के निर्माण में योग देते थे। जो ब्रह्मचारी समावर्तन तक नियमित अग्नि की सेवा, भिक्षाटन, पृथ्वी पर शयन, गुरू की सेवा और उनका हित करता था, वही श्रेष्ठ ब्रह्मचारी माना जाता था। राजा के पुत्र से लेकर निर्धन छात्र तक सभी ब्रह्मचारी भिक्षाटन के लिये नित्य जाते थे। गृहिणी माताएं ब्रह्मचारियों की प्रतीक्षा करती रहती थी, क्योंकि उनके हृदय में यह भाव रहता था कि हमारा पुत्र भी इस प्रकार किसी अन्य गृहिणी से भिक्षा की याचना कर रहा होगा। निःसन्देह इस व्यवस्था के कारण मानवीय संवेदना के विकास को बल मिलता था तथा उनमें पवित्र भावना विकसित होती थी। जबकि आज की शिक्षा प्रत्येक शिक्षार्थी एवं समाज को भाव शून्यता की स्थिति में लाकर खडा कर देती है।

भिक्षाटन की परम्परा से सभी छात्रों को संयम और विनय की शिक्षा मिलती थी। वे विनीत भाव से जीवन के हर क्षेत्र का व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त कर स्वस्थ समाज के निर्माण मे योग देते थे। चूँकि, भिक्षाटन सभी शिक्षार्थियों का अनिवार्य धर्म माना गया था। अत इस व्यवस्था के कारण किसी भी छात्र मे कुलीनता के कारण अहकार और निर्धनता के कारण कुण्ठा का भाव जागृत नही होता था तथा निर्धनता शिक्षा प्राप्ति में बाधक नहीं बनती थी। इस प्रकार सभी शिक्षार्थी अभिलषित विषयों की सम्यक् शिक्षा प्राप्त करते थे, किन्तु उत्तरकालीन शिक्षा मे जब अर्थ की प्रधानता बढी और भेद–भाव की नींव पड़ी तब छात्रों का व्यवहारिक ज्ञान, आत्मनिर्भरता एवं स्वावलम्बन की प्रक्रिया बाधित हुई और अर्थ लोलुप समाज का निर्माण होने से मानवीय मूल्यों का क्षय होने लगा। वर्तमान शिक्षा प्रणाली के अर्थ प्रधान होने के कारण सामाजिक नैतिकता का लोप एवं मानवीय संवेदना का क्षय हो रहा है। अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा को मानवीय एवं नैतिक मूल्य से जोडा जाय तथा अर्थ प्रधान शिक्षा को हतोत्साहित किया जाय।

गुरूकुलीय जीवन तथा गुरू और शिष्य का सम्बन्ध इतना उदात्त और आदर्शपूर्ण होता था कि उस जीवन पद्धति में पलने वाले सभी छात्र अत्यन्त तेजस्वी, विद्यावान, बुद्धिमान, चरित्रवान और नैतिक मूल्यों से युक्त होते थे। शिक्षा साधारणतया निःशुल्क दी जाती थी। अतः जो आचार्य धन की अभिलाषा में शिक्षा वितरित करते थे, वे सामाजिक तिरस्कार के पात्र होते थे। समाज का यह धर्म था कि वह उनकी व्यवस्था सुनिश्चित करे। सभी को शिक्षा प्रदान करना आचार्य का धर्म माना जाता था। शिष्य गुरू के आश्रम मे 'समित्पाणि' होकर (हाथ मे समिधा लेकर) जाता था और गुरू उसकी योग्यता का निश्चय करने के उपरान्त उसके कटिप्रदेश मे तीन लडीवाली मुंज–मेखला बाधकर उसकी शिक्षा प्रारम्भ करते थे। यह मेखला तन, मन और वचन को वश में रखने वाली प्रतिज्ञा चिन्ह थी। शिक्षा का सर्वोत्तम परिणाम तभी लक्षित होता था, जब शिक्षार्थी मे ज्ञान प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा उत्पन्न हो, अन्यथा ज्ञान, समय और श्रम तीनों व्यर्थ समझे जाते थे।

अभिलाषा को जागृत करने एव उसको तीव्र करने मे आचार्यो की विशेष भूमिका होती थी। गुरूकुलवासी को 'अन्तेवासी' कहा जाता था, जिसका शब्दिक अर्थ है "आचार्य के सान्निध्य में रहने वाला।" प्राचीन शिक्षालय गाव या नगर से कतिपय दूरस्थ स्थानों पर होते थे, लेकिन इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था कि वहॉ का वातावरण एकांत और शातचित हो। प्राचीन गुरूकुलीय शिक्षा पद्धति का समर्थन करते हुए रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने लिखा है कि शिक्षा के लिये आज भी हमें जगलो और वनो की आवश्यकता है। गुरूकुल भी अवश्य होने चाहिए। समय के साथ स्थितिया चाहे कितनी ही परिवर्तित क्यों न हो जाय ? परन्तु, प्राचीन शिक्षा प्रणाली के लाभदायक सिद्ध होने में कदापि अन्तर नही पड़ सकता, क्योकि यह नियम मनुष्य के चरित्र के अमर सत्य पर निर्भर है। प्रकृति के अनुसार, अति साधारण जीवन व्यतीत करना ही सभ्यता है। धरती पर बैठने की शक्ति, मोटा खाने और पहनने की शक्ति– ये साधारण शक्तियां नही हैं। कुलीन छात्रों को ये शक्तिया बिना अभ्यास के प्राप्त नही हो सकती (शिक्षा पृ. 18–22)। निःसंदेह सादगी पूर्ण जीवन जीने की शक्ति विकसित करने में आज की शिक्षा पद्धति पूर्णतः असफल है, जिसके कारण तमाम सामाजिक विकार और मानवीय कुंठा का जन्म हो रहा है।

इस प्रकार ज्ञान वितरण की तीव्र उत्कठा और ज्ञान प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा ही शिक्षक और शिक्षार्थी के दोहरे संपात्त थे। शिक्षा के प्राचीन प्रतिमानों के समक्ष वर्तमान शिक्षा को क्रीत–शिक्षा ही कहा जा सकेगा, जिसका धर्म व्यवसायिक एवं उद्देश्य मूल्यच्युत हो चुका है। कारण, आज की शिक्षा नितान्त एकागी, भौतिक आकर्षणों से आच्छादित, आत्मशून्य, वस्तुनिष्ठ, सूचनापरक एवं उपकरणयुक्त हो चुकी है, जहॉ मनुष्य के मस्तिष्क का यात्रिक विकास तो हो रहा है, किन्तु अन्य महत्वपूर्ण कोमल अंग अवयव कटते जा रहे है। शिक्षा में फैलती उपभोक्तावादी संस्कृति, साक्षर होकर रोजगार पाने की उत्कंठा, शिक्षण संस्थाओ द्वारा महज उपाधियॉ वितरित करने की प्रवृत्ति आदि ने शैक्षिक वातावरण को अराजक बना दिया है। वस्तुतः शिक्षा अपने निहित उद्देश्यों से भटक सी गई है।

शिक्षक का यह धर्म होता था कि वह जिज्ञासु शिक्षार्थियों को अभिलाषित विषयों की वैज्ञानिक शिक्षा प्रदान करे तथा अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं की सम्यक् जानकारी उन्हें दे। इसका अभाव वर्तमान शिक्षा व्यवस्था मे परिलक्षित होता है। आज शिक्षार्थियों की जिज्ञासा दमित होने के कारण उनका स्वतंत्र चितन बाधित हो रहा है, अतः आवश्यकता इस कमी को दूर करने की है।

जो राष्ट्र अपनी सास्कृतिक परम्परा का सरक्षण और संवर्द्धन नहीं करता, वह शिक्षित कहलाने का अधिकारी नही होता। वैदिक साहित्य एव संस्कृति के सरक्षण का उत्तरदायित्व समस्त आर्य जाति पर था। सास्कृतिक जीवन के उन्नयन हेतु त्रिऋण से मुक्ति की अनिवार्यता समझी जाती थी। उत्तरकाल में जब जनसामान्य के लिये वेद, भाषा और दर्शन के गूढ सिद्धान्तों को समझ पाना दुष्कर होता गया, तो उनमे राष्ट्रीय सास्कृतिक परम्पराओं का बोध कराने हेतु नये साहित्य का विकास हुआ, जिसे 'पुराण' कहा गया। इसी क्रम मे बौद्ध विहार उच्चादर्शो के साथ विभिन्न विषयों की शिक्षा प्रदान करने वाले प्रमुख केन्द्र के रूप में स्थापित हुए। जैन शिक्षा जन सामान्य मे नैतिकता एव शुचिता के उद्देश्यो और उत्कृष्ट गुणो के प्रसार की भावना को लेकर प्रकट हुई। यह प्रवाह कमोवेश मुगल एवं ब्रिटिश काल तक बना रहा, किन्तु आधुनिक काल तक आते–आते प्राचीन शिक्षा के सभी मानदंड प्रायः विलुप्त से हो गये है।

प्राचीन शिक्षाविदों का यह मतव्य था कि बालक पर उन सस्कारों का प्रभाव अधिक व्यापक होता है, जो गर्भाधान के समय जननी से उसे प्राप्त होता है। इसलिए जननी को गर्भकाल में महापुरूषो के जीवन का अध्ययन और मनन करने का उपदेश दिया जाता था, जिससे ऐसी संतति उत्पन्न हो, जो अपने चरित्र एवं व्यक्तित्व के प्रकाश से कुल जाति के गौरव को बढाने के साथ–साथ योग्य उत्तराधिकारी भी सिद्ध हो। आधुनिक मनोवैज्ञानिक और मनोचिकित्सक द्वारा भी इस प्रकार के परामर्श मातृत्व–इच्छुक एवं गर्भवती महिलाओ को दिए जाते है। किन्तु दृश्य मीडिया, कम्प्यूटर एवं अन्य संचार माध्यमों के प्रभाव में विकसित आधुनिकता कदाचित् ही ऐसे परामर्शों पर ध्यान देती हैं। समाज में चरित्र–ह्रास

एव व्यक्तित्व शून्यता का, जो परिदृश्य आज सामने है, वह समाज में शिक्षा के मूल्यो के प्रति विद्यमान उपेक्षा एव उदासीनता के कारण ही है। नैतिकता के मूल्य पर स्वार्थपूर्ति हेतु अपनाये जा रहे परिवारवाद, वंशवाद, भाई–भतीजावाद, जातिवाद, सम्प्रदायवाद, वर्ण वैमनस्य आदि सामाजिक जागरूकता को कम एव अशिक्षा को अधिक रेखांकित करते हैं। स्वार्थ सिद्धि के लिये राजनीति और राजनीति के लिए 'शिक्षा' शब्द के दुरूपयोग को हाल ही मे अफगानिस्तान के तालिबानी शासको द्वारा जो कार्यरूप उपस्थित किया गया, वह जगजाहिर है।

प्राचीन भारत में शिक्षण–संस्थाओ का जन्म अपेक्षाकृत विलम्ब से होने के कारण इस दायित्व का निर्वहन शिक्षक वर्ग को ही करना पड़ता था। अपने उत्तरदायित्वों का सम्यक् निर्वहन वे उसी प्रकार करते थे, जिस प्रकार सूर्य बिना किसी अपेक्षा के प्रकाश प्रदत्त करता है और सरिता जल वितरित करती है। ऐसी मान्यता थी कि शरीर तो छात्र को अपने माता–पिता से प्राप्त होता है, पर उसका बौद्धिक, आत्मिक एवं आध्यात्मिक विकास गुरू के द्वारा ही संभव है। गुरू के सान्निध्य एव आशीर्वाद के बिना ज्ञान की पूर्णता संभव नही थी, क्योकि गुरू ही समस्त शकाओ और संशयो से मुक्त कर वैज्ञानिक बुद्धि विकसित करता था, जो पुस्तकीय ज्ञान से संभव नहीं था। प्राचीन शास्त्रो मे गुरू को देवता सदृश्य मानकर पूजा करने का दृष्टान्त मिलता है। "आचार्य देवोभव" वाले इस देश में आचार्य को 'तीर्थ' भी कहा जाता था। वैदिक साहित्य मे उसे 'मृत्यु' नाम भी दिया गया है। "आचार्यो मृत्यु" (ऋग्वेद–ब्रह्मसूक्त) अर्थात् गुरू के सामने शिष्य को मिटना होता था। इस प्रकार शिक्षक समाज का आदर्श होता था।

प्राचीन शिक्षक कई प्रकार के होते थे ; जैसे आचार्य, उपाध्याय, प्रवक्ता, गुरू, अध्यापक, चरक आदि। ऐसे शिक्षकों को 'आचार्य' कहा जाता था, जो अपने शिष्यो को आचरण और चरित्र की शिक्षा देते थे। वे आचार्य, जो शिष्यो से उपहार, द्रव्य, धन या दक्षिणा प्राप्त कर अपने परिवार का भरण पोषण करते थे, 'उपाध्याय' कहलाते थे। प्रोक्त साहित्य की शिक्षा देने वाला 'प्रवक्ता' कहलाता था। उसे व्याख्याता, आख्याता भी कहा जाता था। वैज्ञानिक और लौकिक साहित्य की

शिक्षा प्रदान करने वाले अध्यापक कहे जाते थे। ऐसे अध्यापक जो वेद की शाखाओं को स्वयं कंठस्थकर छात्रों को शिक्षित करते थे, 'श्रोत्रियक' कहे जाते थे। ऐसे शिक्षक, जो अपने परिवार का भरण–पोषण कर एक सफल गृहस्थ की भूमिका का निर्वहन करते हुए जिज्ञासु शिष्यो को शिक्षा प्रदान करते थे, उन्हें 'गुरू' कहा जाता था। जो ब्राह्मण पाद पूजनादि कराकर अग्न्याधान, पाक्यज्ञ और अग्निहोम जैसे यज्ञों को सम्पादित करते थे, वे 'ऋत्विक' के नाम से जाने जाते थे। शिक्षा में आचरण एवं चरित्र की विशेष महत्ता थी, जिसकी शिक्षा प्रदान करने वाले शिक्षक 'आचार्य' कहे जाते थे। ऐसे आचार्य समाज में विशेष आदर के पात्र होते थे और उनका आचरण समाज का आदर्श होता था। परवर्ती साहित्य से ज्ञात होता है कि रहस्य एव आध्यात्म विषयक विद्या पहले क्षत्रिय आचार्यो के ही पास थी तथा अनेक ब्राह्मण आचार्यो को भी इस विद्या को प्राप्त करने के उद्देश्य से क्षत्रिय आचार्यो के पास जाना पडा था। यद्यपि प्रारम्भ से ही शिक्षा पर ब्राह्मणों का एकाधिकार था उनकी सर्वोच्चता वैदिक काल से चली आ रही थी, किन्तु उपनिषद् काल मे आध्यात्म विद्या के क्षेत्र में एवं बौद्ध काल में बौद्ध आचार्यों से उन्हें गम्भीर चुनौती मिली जिसके कारण उनका बौद्धिक अधिकार कुछ समय के लिए लडखडाया, तदुपरान्त पुनः उनकी स्थिति मजबूत हुई और वे आदर एवं सम्मान के अधिकारी बने। आलोच्यकाल मे आचार्य ही प्रायः पुरोहित होते थे जो पौरोहित्य धर्म के पालन के साथ ही साथ शिक्षा वितरण का कार्य भी करते थे। 16 प्रकार के पुरोहितो का उल्लेख मिलता है, जिनका कार्यक्षेत्र बंटा हुआ था (NCERT)।

प्राचीन शिक्षक मिथ्या प्रदर्शन में विश्वास नही करते थे। अपनी स्पष्टवादी प्रवृत्तियो के कारण उन्हीं विषयों पर व्याख्यान देते थे, जिन पर वे दक्ष होते थे। सुपथ से आयी हुई सम्पत्ति के विनियोग में ही वे विश्वास करते थे। गुरूओं की यह महान परम्परा हमारे देश में स्वतंत्रता के कुछ समय पहले तक विद्यमान रही है। किन्तु कालान्तर में पाश्चात्य शिक्षा–पद्धति का अनुसरण करते हुए हम यह मानने लगे कि अध्यापक वह है जो अध्यापकी के लिये नियुक्त हो गया है। भले ही अपने अन्तर्मन से यह अनुभव नहीं करता कि वह किसी नैतिक दायित्व के प्रति समर्पित है।

स्वतंत्रता से पूर्व कतिपय स्कूलो, कालेजों और विश्वविद्यालयो में ऐसे शिक्षक उपलब्ध थे जो अपनी पीढ़ी के आदर्श होते थे। उनके आचरण, चरित्र एवं विद्वता से तत्कालीन समाज लाभान्वित होता था। आज का शिक्षक भोगवादी संस्कृति का दास बनकर सब कुछ करने को विवश है। अध्ययन–अध्यापन और चितन–मनन आख्यान का विषय बन चुका है। व्यवस्था की कमजोरियॉ, संक्रमित चरित्र हीनता, राजनीति का प्रवेश, शैक्षणिक अयोग्यताएँ, अति महत्वाकांक्षा का होना, दूर्दमनीय धन लिप्सा आदि इसके कारक हैं। छात्र भी इसके लिए दोषी है जो शिक्षा के महत्व को नकार रहे है। आचरण, चरित्र एव व्यक्तित्व के सर्वागीण विकास से शिक्षा का कोई सम्बन्ध नही रह गया है। प्रदत्त ज्ञान किसी भी छात्र के व्यक्तित्व मे परिलक्षित नही हो रहा है। जीवन मे अप्राकृतिक तत्वों का समावेश होने के कारण रिश्ते खण्डित हो रहे हैं और परिवार की अस्मिता धूमिल होती जा रही है। इस प्रकार आज की लक्ष्यविहीन, एकांगी और उपभोक्तावादी शिक्षा निश्चय ही समाज को खोखला कर रही है। जब तक शिक्षा के वास्तविक महत्व को नहीं समझा जायेगा, तब तक शिक्षा नैतिक मूल्यों के ह्रास को रोकने में असमर्थ रहेगी। कार्य एवं व्यवहार मे दूरियॉ बढ़ती जायेंगी तथा मानवीय मूल्यों से युक्त आदर्श समाज का निर्माण दिवास्वप्न बनकर रह जायेगा। अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा की सही व्याख्या हो उसकी पवित्रता, उपयोगिता एवं गंभीरता को समझी जाय, सिद्धान्त एवं व्यवहार का अन्तर खत्म हो, प्रतिभा को यथोचित सम्मान मि्ले, शिक्षा और सस्कृति का अन्तर्पूरकता कायम हो, मानवीयता, संवेदनशीलता, साहचर्य, कर्त्तव्यबोधक, नैतिकता, आदि मूल्यों से अनुप्राणित हो।

आज ऐसे भी शिक्षक हैं, जो अल्पज्ञानी के साथ–साथ अध्यवसाय से जी चुराने वाले हैं। कई पढाते हैं पर पढ़ाने की उस कला को नहीं जानते, जिसमें मुख से निकला एक–एक शब्द रस की बूँद बन जाता है या उनकी वाणी अनुभूति की उस लौ से नहीं उठती, जो जीवन को तपाती हो। आज हमारे देश में जिस उपभोक्तावादी संस्कृति का विकास हो रहा है, उसमें अमानवीय कुछ भी नहीं है।

शिक्षक स्वय उसका अंग बन चुका है, ऐसी स्थिति मे शिक्षक समाज का आदर्श नहीं बन पा रहा है, जबकि प्राचीन भारत मे शिक्षक स्वयं मे एक आदर्श होता था। यह सच है कि वर्तमान में शैक्षिक आदर्शो का क्षय हो रहा है। लेकिन, शिक्षक की अनिवार्यता सदैव बनी रहेगी। सचार माध्यमो, कम्प्यूटरों, पत्राचार द्वारा दूरवर्ती शिक्षा सस्थाओं की भूमिका बढने के बाद भी शिक्षक की महत्ता कम नही हुई, क्योकि ये संस्थान उपाधियॉ तो प्रदान कर सकते है, लेकिन मानवीय मूल्यो के विकास मे असफल ही रहेंगे। ऐसे मे गुरू के बिना कोई भी ज्ञान पूर्ण नही हो सकता। शिक्षा के लिए सामूहिकता का भाव, शिक्षक और छात्र की उपस्थिति, दोनों का पारस्परिक पुनर्निवेशन (फीडबैक) आवश्यक होता है। दृष्टि—सम्पर्क क्रिया—प्रतिक्रया का मुख्य अग होता है। श्रवण के लिए देखना आवश्यक क्रिया मानी जाती है। शिक्षक को देखते और सुनते रहना दोनों में सान्निध्य, स्नेह, समर्पण और प्रभाव का सम्बन्ध सूत्र निर्मित करता है। इसकी रिक्तता और शून्यता को वर्तमान शिक्षा में महसूस किया जा सकता है। कक्षाओं में सिमटती दूरी शिक्षा को कई रूपों में सार्थक बनाती है। उसे महज यंत्र—तत्रों के सहारे छोड़कर आदर्श समाज की परिकल्पना बेमानी होगा। निरन्तर हो रहे शैक्षिक ह्रास को रोकने एव उसे जीवनोपयोगी, आदर्शात्मक तथा सवेदनायुक्त बनाने के लिए वैचारिक प्रयासो की आवश्यकता है। यदि शिक्षा महज पेट भरना सिखाती रही और मनुष्यता से असंपृक्त बनी रही तो निश्चित है कि सामाजिक पुनर्निर्माण और सामाजिक परिवर्तन के प्रत्यय एक दिन मृतप्राय हो जायेगे तथा मानवीय सवेदनाओं के क्षरण को रोक पाना असम्भव होगा।

वर्तमान व्यवस्था की भॉति प्राचीनकाल में शिक्षा विभाग का अस्तित्व नहीं था, न अध्यापकों का वेतनक्रम ही निर्धारित था। भिक्षाटन से प्राप्त अन्न तथा दान—दक्षिणा से प्राप्त धन ही आचार्य की जीविका के साधन थे। यह चिन्ता समाज को रहती थी कि कोई भी विद्वान भूखा न रहे। हर शिक्षक की व्यक्तिगत कामना होती थी कि ज्यादा से ज्यादा शिष्य योग्य बनकर उसके सान्निध्य से निकले तथा उनका यश फैलाकर आदर्श समाज के निर्माण में योग दे। प्रत्येक शिक्षार्थी का यह

कर्त्तव्य होता था कि वह नियमित रूप से भिक्षाटन करे और जो कुछ भी उसे मिले, वह गुरू की सेवा में अर्पित कर दे। प्रत्येक गृहस्थ का भी यह धर्म होता था कि वह प्रत्येक शिक्षार्थी को भिक्षा प्रदान करे। भिक्षाटन की परम्परा के कारण प्रत्येक शिक्षार्थी के छात्र जीवन में ही सामाजिक दायित्व एवं सामाजिकता की भावना का विकास होता था। अर्थ की समस्या के कारण कोई भी जिज्ञासु, लगनशील और प्रतिभावान छात्र शिक्षा से वंचित नही होता था। इस व्यवस्था के कारण हर प्रकार की योग्य प्रतिभाएँ सामने आती थी और समाज उनके ज्ञान से लाभान्वित होता था। उस समय एक सामान्य शिष्टाचार था कि यदि राजा और ब्रह्मचारी दोनों आमने सामने चले आ रहे हों, तो राजा ही हटकर ब्रह्मचारी को मार्ग देता था(लज्जाराम तोमर, भा.शि. के मूल तत्व, पृ. 27.2)। इससे शिक्षा का महत्व उजागर होता है।

शिक्षार्थी प्रायः ब्रह्ममुहूर्त में जग जाते थे और अपनी नित्यक्रिया से निवृत्त होकर स्नान, व्यायाम, प्राणायाम तथा ध्यान आदि के उपरान्त शिक्षा प्राप्ति हेतु जाते थे। तदुपरान्त भोजन और अल्प विश्रामोपरान्त पुनः विद्याध्ययन मे लग जाते थे। शाम तक यह दिन चर्या अनवरत् चलती रहती थी। सदाचार और शिष्टाचार के साथ गुरूकुल के नियमो का पालन करना, समय से उठकर आचार्य का अभिवादन करना, नीचे के आसन पर बैठना, भडकीले वस्त्र, अलंकार आदि से दूर रहना, असत्य एवं अपशब्द सम्भाषण से परहेज करना, चुगलखोरी, निन्दा आदि दुर्गुणो से अपने को दूर रखते हुए इन्द्रिय–निग्रह पर बल देना शिक्षार्थी का धर्म होता था। अपने आचार्यो के लिये जल–दातून और आसनादि सुलभ करना भी उनका परम कर्त्तव्य होता था। इस प्रकार गुरू के सान्निध्य में रहकर सर्वदा उनके हित की चिन्ता करने वाले शिक्षार्थियों को ही अभीष्ट विद्या की प्राप्ति संभव थी। आचार्य भी अपने छात्रों के हित–लाभ के लिये सर्वदा चिन्तित रहते थे। उनका पठन–पाठन बाधित न हो इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था। शिक्षा का संवहन विद्यारंभ, उपनयन, श्रावणी, उत्सर्जन, समावर्तन, यज्ञोपवीत, प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा की दीक्षा आदि संस्कारों के प्रवाह में होता था। प्रायः 5 वर्ष की अवस्था से शिक्षार्थी का

ब्रह्मचर्य जीवन प्रारम्भ होता था और गुरू के सान्निध्य मे रहकर वे अभीष्ट विषयों की शिक्षा प्राप्त करते थे। शिक्षा की समाप्ति के उपरान्त वर्तमान दीक्षान्त की भॉति एक समारोह सम्पन्न होता था, जिसे 'समावर्तन संस्कार' कहा जाता था। इसके अन्तर्गत आचार्य शिक्षार्थी को अष्टोपदेश देते थे तथा भाषण के अन्त में निम्न परामर्श देते थे– ''यदि तुमको कर्त्तव्य निर्णय में किसी प्रकार की शंका हो या सदाचार के विषय में कोई सदेह उठ खडा हो, तो जैसा उत्तम विचार वाले धार्मिक पुरूष व्यवहार करते हो, तुम उनका ही अनुसरण करना। यदि किसी दोष से लाछित पुरूष के साथ काम करना पड जाय, तो भी ऐसा ही व्यवहार करना, जैसा उत्तम विचार वाले धार्मिक पुरूष करते हैं– यही शास्त्र की आज्ञा है, गुरूजनों का आदेश है, वेदो का रहस्य है, परम्परागत शिक्षा है– तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षा वल्ली, एकादश अनुवाक्।'' बौद्ध शिक्षा प्रारम्भ करने से पूर्व प्रव्रज्या की दीक्षा आवश्यक थी। शिक्षा समाप्ति के उपरान्त उपसम्पदा की दीक्षा दी जाती थी। आत्मसयम, अनुशासन, सदाचार, शिष्टता, मर्यादा एवं ब्रह्मचर्य धर्म का सम्यक् पालन आवश्यक था।

उपनयन एवं प्रव्रज्या संस्कार ब्रह्मचर्य की मर्यादा, शिष्टता और आत्मसंयम को अपने अंदर समाहित किए हुए था, जिनपर गृहस्थ जीवन की सफलता निर्भर थी। स्वस्थ शरीर, स्वस्थ मन और पवित्र भावना का संतुलित विकास ब्रह्मचर्य धर्म के सम्यक् पालन से ही संभव था, जो गृहस्थ जीवन की सफलता के लिये आवश्यक था। अतः प्राचीन स्नातकों के दाम्पत्य जीवन में कुंठा एवं तनाव का लेश मात्र भी स्थान नहीं था। वे प्रत्येक क्षण बडी ईमानदारी से जीते थे और यही उनकी सफलता का मूलाधार था। आज छात्र जीवन में ब्रह्मचर्य की रक्षा न हो पाने के कारण दाम्पत्य जीवन की मर्यादा असफल सिद्ध हो रही है। बहुतायत परिवार कुंठित एव तनावगस्त है और कौटुम्बिक अस्मिता अपने अस्तित्व के लिये जूझ रही है। गार्हस्थिक संवेदनाओं का निरन्तर क्षय होता जा रहा है और रिश्तों के स्नेहिल पक्ष सूखते जा रहे हैं। मर्यादित स्नेह की जगह शकायुक्त भोग का वर्चस्व स्थापित होता जा रहा है, औपचारिकताएं प्रभावी है, और परम्पराएं तर्क का विषय बनकर रह गयी है।

प्राचीन शिक्षा पद्धति में गुरू–शिष्य के मध्य पिता–पुत्र के आदर एवं वात्सल्य भाव की प्रमुदित अनुभूति अनुपम थी। वैदिककाल से पांचवीं शताब्दी तक यह स्नेहानुभूति अक्षुण्ण बनी रही। वैदिक काल मे गुरूपिता, गुरूमाता, और गुरू भाईयों का एक अनुशासित एव मर्यादित कुल निर्मित हो जाया करता था, जिसमें एक शिष्य से दूसरे शिष्य के बीच पारस्परिक बंधुत्व, मैत्री एवं सहानुभूति की अद्भूत भावना विकसित होती थी। ब्रह्मचर्य के दौरान ही उन्हें कौटुम्बिक आदर्श एव मर्यादित सुख का ज्ञान हो जाता था, जो उनके गृहस्थ जीवन में प्रवेशोपरान्त उपयोगी सिद्ध होता था। इस प्रकार कौटुम्बिक मर्यादा, शिष्टता एवं संस्कार की व्यवहारिक शिक्षा उन्हे ब्रह्मचर्य जीवन मे ही दी जाती थी। आज कौटुम्बिक मूल्यो का निरन्तर क्षरण हो रहा है तथा उसकी अस्मिता संकटग्रस्त है। रिश्ते आधारविहीन होते जा रहे है, मानवीय सवेदनाएँ खोखली हो चुकी है। प्रत्येक व्यक्ति हताशा, निराशा, कुठा एवं अतृप्तता का शिकार होकर तनाव एवं चिताग्रस्त है। आत्मिक शाति के लिए दिग्भ्रमित है। पथप्रदर्शक पथ से भटक चुके हैं। इसके लिये निश्चित रूप से किसी न किसी रूप में वर्तमान शिक्षा–पद्धति दोषी है।

प्राचीनकाल में गुरू–शिष्य के मध्य पारस्परिक माधुर्य सहस्रों वर्ष बाद भी बना रहा, किन्तु आज शिक्षा के क्षेत्र में उपजे दिशाविहीन उद्देश्यों, पारम्परिक मूल्यो की अवहेलना, नितनयी शिक्षानीतियों में संगोपित उपभोक्तावादी प्रवृत्तियों ने चतुर्दिक भग्नाशा एवं निषेध को जन्म देकर गुरू–शिष्य के मध्य अलंध्य दूरी पैदा कर दी है। फलतः दोनों एक–दूसरे को असम्मान एव तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगे हैं। शिक्षण–संस्थाएँ व्यक्तिगत या समूहगत राजनीति के अखाड़े बन चुके हैं, जहाँ गुरू–शिष्य के विरूद्ध, छात्र–छात्र के विरूद्ध, शिक्षक–शिक्षक के विरूद्ध समूहबद्ध है। शिक्षक, शिक्षार्थी, अभिभावक एव व्यवस्थापक सभी दिग्भ्रमित एवं आदर्शच्युत हो चुके हैं। किसी न किसी रूप मे भौतिक समृद्धि प्राप्त करना सभी का उद्देश्य बन चुका है। शिक्षा माफियाओं ने इन संस्थाओ को स्वार्थ–सिद्धि का साधन बना लिया है, जिनके चंगुल में शिक्षक और शिक्षार्थी सभी फंसने को विवश हैं। वर्तमान शिक्षा छात्रों की विचारहीन इकाइयाँ पैदा कर रही है, चिंतक की जगह

चिंताग्रस्त समाज का निर्माण हो रहा है। तार्किकता एवं सकारात्मक चिंतन का लोप होता जा रहा है, जिसकी परिणति स्वार्थजनित स्पर्धा, प्रतिद्वन्द्विता एवं असमानता में हो रही है ऐसी स्थिति में सामाजिक वर्गीकरण एवं उसका विभाजन स्वाभाविक है। ऊब भरे, खोखले और ह्रदयहीन समाज में जो शिक्षा दी जाती है, वह नवीन जीवन मूल्यों और सृजनशील मानवीय सम्बन्धों को उजागर करने में असमर्थ रहती है। केवल सूचनाओं को मस्तिष्क मे एकत्र कराकर प्रज्ञा और संवेदना, ज्ञान और कर्म का समग्र सम्बन्ध स्थापित करने में असफल सिद्ध होती है।

वर्तमान शिक्षार्थी इस बात को भली–भॉति जानता है कि आज की शिक्षा उपाधि संकलन एव अति महत्वाकांक्षा विकसित करने का साधन मात्र है, जिससे चिंताग्रस्त जीवन और शिक्षित बेरोजगारी के अतिरिक्त कुछ मिलने वाला नहीं है। अतएव कुछ शिक्षार्थी राजनीति का आश्रय लेकर व्यवहारिक जीवन में प्रवेश करते हैं और असामाजिक तथा गैर कानूनी कार्यो के माध्यम से अपने को आर्थिक एवं सामाजिक रूप से प्रतिष्ठित बनाने का प्रयास करते हैं। ऐसे लोग ही वर्तमान समाज के आदर्श बन रहे हैं। इस प्रकार वर्तमान शिक्षार्थी का एक बडा वर्ग तीव्र गति से अपनी जिन्दगी की शुरूआत करता है और सर्वग्रासी जीवन यात्रा में कई सुन्दर स्थल उसके बिना देखे, बिना जिए और बिना महसूस किए रह जाते है। इसका मुख्य कारण शिक्षा मे जीवन के यथार्थ एवं पारस्परिक सम्बन्धों की अवज्ञा तथा पाश्चात्य उपभोक्तावादी सस्कृति का अनुकरण, लड़के–लडकियों का असंयमित मेलजोल, डेटिंग, रंगीन–फिल्म, काल गर्ल्स, रंगीन मैगजीनें और गैर कानूनी तरीके से अर्जित मॉ–बाप का धन आदि विलासिता का मार्ग प्रशस्त करने में सहायक बनते हैं। अंदर के एकांकीपन एवं खालीपन को युवा पीढ़ी कभी पढ़ाई एवं रचनात्मक कार्यो से पूरित करते थे, आज भटकाव एवं इंद्रिय संतुष्टि का कोई भी माध्यम सहायक बन गया है। रिश्ते इतने खोखले एवं कमजोर हो चुके हैं कि किसी भी भटकाव को रोक पाने मे अपने को असहाय पा रहे हैं।

प्राचीन काल में जो छात्र प्रतिभासम्पन्न होते थे, उन्हें अपने को स्थापित करने का पर्याप्त अवसर दिया जाता था। जिसमे नेतृत्व का स्वाभाविक गुण होता

था, उसे उभारकर तराशा जाता था, लेकिन आज प्रतिभा का यथोचित मूल्य एव अवसर उपलब्ध नही है। पात्रता का ध्यान दिये बगैर विशेष जिम्मेदारिया सौंप दी जाती हैं। बहुतेरे छात्र अपात्र होकर भी उच्च शिक्षा प्राप्त करते हैं और राजनैतिक संरक्षण प्राप्त कर उच्च पद को सुशोभित करते हैं। अतः एसे लोगो से न्याय की आशा करना एव आदर्श शिक्षक की परिकल्पना दिवास्वप्न है।

समुचित शिक्षा प्रदान करने की दृष्टि से शिक्षावधि शिक्षण—सत्र, प्रवेश, पाठ्यक्रम, अध्ययन—अध्यापन पद्धति, परीक्षा आदि पर ध्यान दिया जाता था। वैसे तो साधारणतया 25 वर्ष की अवस्था तक शिक्षा दी जाती थी, लेकिन ऐसी मान्यता थी कि ज्ञान को किसी समय सीमा में बांधा नही जा सकता। शिक्षा का क्षेत्र इतना व्यापक एवं विस्तृत होता है कि कोई भी शिक्षार्थी अपने सम्पूर्ण जीवन को अर्पित कर दे, तो भी वह सम्पूर्ण शिक्षा नहीं प्राप्त कर सकता। प्रवेश का मापदण्ड किसी भी छात्र का चरित्रवान, संस्कारवान, निष्ठावान, आदर्शवान, बुद्धिमान, धैर्यवान, विनयशील, प्रतिभासम्पन्न, जिज्ञासु, अभिलाषी एवं उसमें आज्ञाकारी गुणों का होना आवश्यक था। प्रारम्भ मे शिक्षण—कार्य के दौरान प्रत्येक माह में चार दिन का अवकाश नियत था, पर बाद में विभिन्न उत्सवों, मेघगर्जन, ग्रहण अशौच आदि अवसर पर भी शिक्षण कार्य प्रतिबंधित होने लगा।

शिक्षा—पद्धति के अन्तर्गत प्रवेश—परीक्षा, अंक—पत्र, उपाधि—पत्र, चरित्र प्रमाण—पत्र, स्थानान्तरण प्रमाण—पत्र, वितरण जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी। वर्तमान उपाधि आश्रित उच्च शिक्षा के विपरीत पात्रता की श्रेष्ठता के आधार पर ही जिज्ञासु छात्रों को उच्च शिक्षा वितरित की जाती थी। सीमित पात्रता वाले उच्च शिक्षा के लिये अधिकृत नहीं थे। राज्य द्वारा धनादि प्रदान कर शिक्षालयो, शिक्षकों एवं जिज्ञासु छात्रों को प्रोत्साहित किया जाता था। अतः शिक्षा के प्राचीन मापदण्ड तथा उसके विकास के लिये किये जाने वाले प्रयास, वर्तमान शिक्षा व्यवस्था के लिये भी प्रासंगिक है।

ब्राह्मण शिक्षा—पद्धति के अन्तर्गत वेदों के अतिरिक्त धर्म, दर्शन, न्याय, छन्द, ज्योतिष, व्याकरणशास्त्र आदि का अध्ययन आवश्यक था। यद्यपि, शैक्षिक

पाठ्यक्रमो को तीन वर्ग में वर्गीकृत किया गया है– प्रारंभिक शिक्षा से सम्बन्धित पाठ्यक्रम, उच्च शिक्षा से सम्बन्धित पाठ्यक्रम एवं तकनीकी तथा व्यवसायिक शिक्षा से संबधित पाठ्यक्रम। शिक्षा में संस्कृत भाषा को विशेष महत्व प्राप्त था। प्रारंभिक शिक्षा वेदाध्ययन से आरंभ होती थी। वैदिक साहित्य के अनन्तर वेदांगों की रचना हुई, आरण्यक् एव उपनिषद साहित्य विकसित हुए। इसके अतिरिक्त दार्शनिक तर्क–वितर्क और विभिन्न शिल्पो मे शैल्पिक दक्षता प्राप्ति की अपेक्षा भी तत्कालीन शिक्षार्थियो से की जाने लगी। ईसा की आरभिक शताब्दी से पाठ्यक्रमों का और विस्तार हुआ। संस्कृत साहित्य, धर्मशास्त्र, महाकाव्य, पुराण, ज्योतिष, आयुर्वेद, राजशास्त्र आदि के नये विषय बने। कालान्तर में इन पाठ्यक्रमो में सैन्य विज्ञान, चिकित्साशास्त्र, शिल्प विज्ञान, पशुपालन, व्यापार एव कृषि शिक्षा जैसे नये धर्मेत्तर विषय भी सम्मिलित हुए। इन पाठ्यक्रमों के विस्तार मे बौद्ध शिक्षा की विशेष भूमिका है। प्रारम्भ में शिक्षा मौखिक दी जाती थी, अतः उच्चारण की शुद्धता एवं कठस्थीकरण पर विशेष बल दिया जाता था। लिपि का विकास होने पर शिक्षा भोज–पत्रो पर लिखित रूप में भी दी जाने लगी।

प्रारम्भ मे तकनीकी एवं व्यवसायिक विषयो की शिक्षा परिवार के ज्येष्ठ एव अनुभवी सदस्यों से प्राप्त होती थी, किन्तु उत्तरकाल में इन विषयों की शिक्षा तक्षशिला, नालन्दा और वलभी जैसे बडे शिक्षण–सस्थाओं पर भी दी जाने लगी। यद्यपि ये शैक्षिक पाठ्यक्रमों के अंग अवश्य बने, तथापि शिक्षा के मूल विषय के रूप मे इन्हें कभी भी मान्यता नहीं मिली। कारण, उच्च शिक्षा से सम्बन्धित अध्ययन–अध्यापन का दायित्व जिन वर्गो पर था, उनका इन विषयों के प्रति अधिक झुकाव का न होना था। चूँकि, प्राचीन समय में पुरोहित ही आचार्य का कार्य भी करते थे, जिनकी अभिरूचि धर्म, दर्शन एवं अध्यात्म के प्रति ज्यादा थी। अतः धर्मेत्तर विषयो का उपेक्षित होना स्वाभाविक था। यूरोपीय शिक्षाविद् भी इस मत के थे कि धर्म ही शिक्षा का अंग होना चाहिए, क्योंकि पाश्चात्य देशों में भी पुरोहित ही शिक्षक धर्म का पालन करते थे, जिनकी अभिरूचि धार्मिक विषयों के प्रति ज्यादा रहती थी। अतः स्पष्ट है कि समकालीन अन्य देशों के पाठ्यक्रम भी धर्म से प्रभावित थे।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी के उपरान्त वैदिक साहित्य को अपौरूषेय मान लिया गया। कालान्तर में स्मृति और पुराण साहित्य को भी यही पद प्राप्त हो गया। जब यह विचार दृढ हो गया कि इसके रचयिता ईश्वर या ऋषि हैं और इसमें जो कुछ भी लिखा गया है, वह पूर्णतया सत्य है, शेष ज्ञान का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। तब इन धर्म–ग्रन्थो के आधार पर ही कोई भी विचार स्वीकृत एवं अस्वीकृत होने लगे। शंकर और रामानुज जैसे विद्वानो को भी यह सिद्ध करना पडा कि उनका विचार उपनिषदों के अनुरूप है। श्रुति, स्मृति और पुराण साहित्य को अपौरूषेय मान लेने के कारण हिन्दू दर्शन का स्वतंत्र विकास बाधित हुआ। यदि ऐसा न होता तो, निःसन्देह अनेक मौलिक ग्रंथ लिखे गये होते और उत्तरकालीन शैक्षिक पाठ्यक्रमों में टीकाओं का कोई स्थान नहीं होता। प्रारम्भ से पांचवीं शताब्दी तक मौलिकता एवं सृजनशीलता के दर्शन होते हैं, तदुपरान्त उसमे ह्रास होना प्रारम्भ हो गया और मौलिक साहित्य का स्थान टीकाओं और निबन्धो ने ले लिया। यद्यपि यह स्थिति तत्कालीन यूरोप में भी थी, जहॉ मौलिक प्रतिभाओ का क्रमशः क्षय हो रहा था और सृजनात्मक तथा रचनात्मक प्रतिभा की जगह अनुकरणात्मक प्रतिभा प्रभावी थी। राहु–केतु सूर्य और चन्द्रमा पर आक्रमण कर अल्पकाल के लिये ग्रसित कर लेते हैं, जिस दिन पुराण साहित्य में इस कथा का प्रवेश हुआ, वह दिन ज्योतिष के लिये दुर्भाग्य का दिन था। आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, भाष्कराचार्य, गार्गी, पाराशर और भृग जैसे विद्वान ज्योतिषी ग्रहण के वास्तविक कारण को जानते हुए भी पुराणो मे वर्णित कथा को गलत कहने का साहस नहीं जुटा सके। यद्यपि भारत मे यह स्थिति पाचवी शताब्दी के बाद बनी, लेकिन यूरोपीय देशों में आधुनिक काल के पूर्वार्द्ध तक सभी को धर्मग्रन्थों के समक्ष नतमस्तक होना पडता था। गैलीलियो का मृत्यु दण्ड इसका जीवंत दृष्टान्त है। मार्टिन लूथर पहला व्यक्ति था, जिसने स्पष्ट किया कि जो कुछ सत्य की कसौटी पर सही नहीं उतरता वह ईश्वर के विरूद्ध है, किन्तु उसे भी अपने जीवन के अतिम समय में पूर्व के विचारों को परित्याग कर कहना पडा कि जो बुद्धि जितना ही सूक्ष्म और यथार्थ होगा, वह उतना ही भयंकर होगा तथा ईश्वर को नष्ट करने की कोशिश करेगा।

प्राचीन के प्रति अतिशय आदर का भाव विकसित होने के कारण मौलिक सिद्धान्तो को स्वीकार करने की प्रवृत्ति पांचवी शताब्दी के उपरान्त क्रमशः घटती चली गयी। पूर्व में हिन्दू मूर्तिकारो ने यूनानी विधि को आत्मसात् कर मूर्तिकला को समृद्ध किया था। आर्यभट्ट और वराहमिहिर जैसे विद्वान वाह्य देशों मे होने वाली ज्योतिषीय प्रगति के प्रति जिज्ञासु बने रहते थे। वराहमिहिर ने यूनानी ज्योतिषियो की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि यद्यपि यवन मलेच्छ है, किन्तु ज्योतिष के अच्छे ज्ञाता है, अतः उनकी पूजा ऋषिवत् होनी चाहिए। किन्तु, वराहमिहिर की मृत्यु के उपरान्त दूसरों से सीखने की प्रवृत्ति मे जडता आने लगी और परम्पराओं की सच्चाई में निहित अधविश्वास ने हिन्दू प्रतिभा को संकुचित, जिद्दी और अहंकारी बना दिया।

प्रारम्भ में हस्तकला और औद्योगिक कला मे कौशल प्राप्त करना प्रशंसनीय समझा जाता था। ब्राह्मण खनिजशास्त्र और धातुविज्ञान, आयुर्वेद और सैन्य विज्ञान में भी पारंगत होते थे। तंतुवाद भी साहित्य, लोकगीत, ज्योतिष और धनुर्विद्या शौक से पढते थे, किन्तु गुप्तकाल के उपरान्त साहित्यिक शिक्षा और उपयोगी विषयों की शिक्षा का समन्वय क्रमशः कम होता गया तथा प्रतिभावान छात्र उपयोगी विषयों की शिक्षा प्राप्त करना अपने सम्मान के विपरीत समझने लगे। गणित, ज्योतिष, मूर्ति एवं वास्तुशास्त्र आदि में उनकी अभिरूचि क्रमशः घटती चली गई। परिणामतः मौलिक साहित्य, सगीत, मूर्तिकला, चित्रकला, आकार–विज्ञान, शल्य–चिकित्सा तथा अन्य उपयोगी क्षेत्रो का विकास क्रमशः अवरूद्ध हुआ।

शिक्षा पद्धति के अन्तर्गत संस्कृत–भाषा को विशेष महत्व मिलने के कारण लोकभाषा उपेक्षित हुई। इसके कारण जनशिक्षा की प्रगति बाधित हुई। यद्यपि ईसा की प्रथम सहस्राब्दी में संस्कृत के पुनर्जीवित होने से अनेक बहुमूल्य ग्रंथों की सृष्टि हुई, किन्तु उसके प्रति अतिशय आग्रह के कारण जनशिक्षा उपेक्षित हुई। यद्यपि लोकभाषा की उपेक्षा का प्रतिबिम्ब आज भी देखने को मिल जायेगा, जो न केवल भारत, बल्कि विश्व के अनेक देश इसकी परिधि में आ जायेंगे।

विभिन्न पद्धतियो के अन्तर्गत शिक्षा प्रदत्त की जाती थी। वेदाध्ययन में 'कंठस्थीकरण पद्धति', लौकिक विषयों मे 'प्रत्यक्षीकरण पद्धति' , दर्शनिक विषयो में खडन–मंडन की तार्किक विधि, शिल्पगत तथा कलात्मक विषयो में प्रयोगात्मक एवं अभ्यास की विधि सामान्यतया अपनायी जाती थी। जब आचार्य इस बात से संतुष्ट हो जाते थे कि शिक्षार्थी ने अपना पिछला पाठ आत्मसात् कर लिया है, तभी आगे का पाठ प्रारम्भ करते थे। अध्ययन की समाप्ति विस्तृत परीक्षा–प्रणाली से न होकर अतिम पाठ की आवृत्ति और व्याख्या से होती थी। छठी शताब्दी तक किसी भी, शिक्षार्थी को न तो लिखित परीक्षा से गुजरना पड़ता था और न उन्हें कोई प्रमाण–पत्र ही वितरित किया जाता था। गुरू की संतुष्टि ही शिक्षार्थी की योग्यता और ज्ञान की पूर्णता का द्योतक थी।

शिक्षा औपचारिक एवं अनौपचारिक पद्धति के अन्तर्गत दी जाती थी। औपचारिक शिक्षा के अन्तर्गत मठों, मन्दिरो, आश्रमो एव गुरूकुलों मे उच्च शिक्षा की व्यवस्था थी। जबकि पुरोहित, कथावाचक, सन्यासियों के प्रवास, तीर्थयात्राएं, पर्व, मेले आदि अनौपचारिक शिक्षा के सशक्त माध्यम थे। उच्च शिक्षा की दृष्टि से कालान्तर में गुरूकुलों का विकास सार्वजनिक शिक्षण संस्थाओं के रूप में होने लगा। तक्षशिला और काशी मे स्थापित शिक्षण–शालायें इसी कोटि की थी। यद्यपि सार्वजनिक शिक्षण संस्थाओं को स्थापित एवं विकसित करने का श्रेय बौद्धों को जाता है, जहाँ प्रारम्भ मे केवल भिक्षु और भिक्षुणियॉ ही शिक्षा प्राप्त करते थे, पर बाद मे जनसामान्य शिक्षार्थी भी विभिन्न विषयो की शिक्षा प्राप्त करने लगे। इसी क्रम मे कई राज्याश्रित शिक्षण–संस्थाओं की भी स्थापना हुई, जैसे–देवालय विद्यापीठ, अग्रहार ग्राम, टोलीय शिक्षा आदि। इनका प्रबंधन देवालय उप–समिति, ग्राम सभा या अग्रहार गावों के माध्यम से होता था। नालन्दा एवं वलभी जैसे बड़े शिक्षण संस्थाओं का प्रबंधन शिक्षा समिति एवं प्रबन्ध समिति करती थी।

बौद्ध मठों एवं विहारों में चलने वाले शिक्षालयों का प्रबंधन भिक्षुगण ही करते थे। ये संस्थाएं महज धार्मिक शिक्षा के लिये ही प्रसिद्ध नहीं थी। पाठ्यक्रमों में धर्म एवं दर्शन का प्रमुख स्थान था, अन्य विषयों की भी समुचित शिक्षा दी जाती

थी। चीनी यात्री ह्वेनसांग भारत में जितने समय रहा, उसका चालीस प्रतिशत समय ब्राह्मण साहित्य के अध्ययन में ही व्यतीत हुआ। (डॉ. ए.एस. अल्टेकर)। पुस्तको की अनुपलब्धता के कारण कतिपय महत्वपूर्ण ग्रंथों को कंठस्थ कर लेने के लिये शिक्षार्थियो को प्रोत्साहित किया जाता था। शिक्षण–प्रणाली में तर्क एवं विश्लेषण का महत्वपूर्ण स्थान होने के कारण ह्वेनसाग, फाहियान और इत्सिग जैसे तर्कशील चीनी यात्रियो ने भारतीय आचार्यो की व्याख्या और स्पष्टीकरण की भूरि–भूरि प्रशसा की है। प्रत्येक शिक्षार्थी की वैयक्तिक प्रगति पर यथासंभव ध्यान रखा जाता था। इस प्रकार तुलनात्मक, आलोचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन की पद्धति प्राचीन शिक्षा की विशेषता थी, जिसको प्रोत्साहित कर हिन्दू न्याय और दर्शन के विकास मे बौद्धो ने अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। प्रारम्भ मे उन्होने लोकभाषा को प्रोत्साहित कर उसे शिक्षा का माध्यम बनाया। किन्तु उत्तरकाल मे बौद्ध शिक्षा जनसामान्य से दूर हो जाने के कारण लोकभाषा का विकास अवरूद्ध हुआ और संस्कृत भाषा का प्रभुत्व पुनः स्थापित हुआ। इस प्रकार आलोच्यकाल मे दो प्रकार की भाषा प्रचलित थी– विद्वत जन की भाषा संस्कृत और जन सामान्य वर्ग की भाषा प्राकृत। यह प्रमाणित सच है कि किसी भी देश के सांस्कृतिक विरासत को अक्षुण्ण रखने एवं उसे संरक्षित–संवर्द्धित करने में लोकभाषा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है जिसका प्रेरक समाज का बहुसंख्यक वर्ग होता है। जनसामान्य वर्ग न केवल अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रति सजग रहता है, बल्कि उसकी अक्षुण्णता को भी बनाए रखने के प्रति सचेष्ट रहता है।

राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता को बनाए रखने के लिये लोकभाषा एवं सांस्कृतिक परम्पराओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। जो राष्ट्र इस सच को नजरंदाज करता है, वह अपने को धोखे में रखता है और उसका स्वतंत्र विकास बाधित होता है। सम्राट अशोक ने इसकी वैज्ञानिकता को समझते हुए जनभाषा प्राकृत को राष्ट्रीय भाषा के रूप में स्वीकार कर उसे प्रोत्साहित किया था। प्रारम्भ में बौद्ध आचार्यो ने भी इस निहित सच को स्वीकार किया था। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम आयातित भाषा एव संस्कृति को त्याग कर अपनी

सांस्कृतिक धरोहर को पुनर्जीवित करे, तभी राष्ट्रीय अस्मिता सुरक्षित बच पायेगी। सांस्कृतिक परम्पराएँ पूर्वजों की धरोहर होती है, जो उनके अथक अनुसंधानोपरान्त वैज्ञानिक मान्यता प्राप्त करती है और लबे समय तक तपने के पश्चात स्वर्ण की भाति जनोपयोगी बनकर सामाजिक मान्यता को प्राप्त करती है। अतः बिना वैज्ञानिक कारण के उसके सच को नकारना और आधुनिकता को सही सिद्ध करना अपने विकास को अवरूद्ध करना होगा। स्वतंत्र चिंतन एवं मौलिक अनुसधान के लिये मातृभाषा को प्रोत्साहित किया जाना आवश्यक है, अन्यथा शिक्षा का अनुदित एव अनुकरणात्मक ज्ञान ही प्रभावी होता चला जाता है और कोई भी राष्ट्र उसका पिछलग्गू बनकर रहने के लिए विवश हो जाता है। आज भारत की स्थिति कमोवेश यही है।

प्राचीन भारत में शिक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष की अपेक्षा व्यावहारिक पक्ष पर विशेष बल दिया जाता था। प्रत्येक ज्ञान शिक्षार्थियों के व्यवहार मे परिलक्षित होता था। अपने व्यावहारिक अनुभव् के कारण ही वे क्षेत्र विशेष में दक्षता एवं मौलिक उपलब्धि प्राप्त करते थे। चाहे वह साहित्य का क्षेत्र हो, भाषा का क्षेत्र हो, धर्म—दर्शन या अध्यात्म का क्षेत्र हो, गणित, भौतिकी, रसायन, खगोलविज्ञान, ज्योतिष, सैन्य, तकनीक, चिकित्सा, पर्यावरण या राजशासन का क्षेत्र हो, प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने विशिष्ट प्रतिमान स्थापित किये। प्राचीन शिक्षाविदों की यह विशेषता थी कि जो ज्ञान वैज्ञानिकता को प्राप्त कर लेता था और जिसकी महत्ता जनोपयोगी प्रतीत होने लगती थी, अर्थात् जो सिद्धान्त जीवन के लिये हितकर होता था, उसे सर्वमान्य बनाने के लिये उसका धार्मिक रूपान्तरण कर दिया जाता था। परिस्वरूप ऐसा ज्ञान धर्म एवं कर्मकाण्ड के द्वारा लोगों के रगों में प्रवाहित होता रहता था तथा परम्परा एवं सस्कार के रूप में दैनिक जीवन का अनिवार्य अंग बन जाता था। संस्कारों के लिये शुभ मुहूर्त का होना, पीपल, नीम, वट, जामुन, आवला, शमी, तुलसी, केला आदि वनस्पतियो का धार्मिक एवं वैज्ञानिक महत्व, गोदुग्ध एवं गंगाजल का महत्व, गंगा स्नान, ब्रह्म मुहूर्त मे उठना, विभिन्न त्योहारों का वैज्ञानिक आधार, सूर्य अर्घ्य, तिलक एवं शिखा धारण, संध्या, प्राणायाम, दिशा

का वैज्ञानिक महत्व, जन्मपत्री का महत्व, रजस्वला स्त्री से परहेज, लघु एव दीर्घ शंका के समय कान पर जनेऊ धारण, गोबर का लेप, नवरात्रव्रत, गणपति की उपासना, मूर्तिपूजा, धातुओ का महत्व आदि जनोपयोगी ज्ञान के धार्मिक रूपांतरण के सामान्य दृष्टान्त हैं।

स्मृति साहित्य में 16 प्रकार के संस्कारो का विधान मिलता है, जिसे धार्मिक महत्व प्राप्त था, किन्तु उसका सशक्त वैज्ञानिक आधार था। हिन्दू सनातन धर्म मे विवाह विलासिता या कामवासना की तृप्ति के लिये नही, अपितु वंश–वृद्धि एवं उत्तम सतान की प्राप्ति के लिये किया जाता था। गर्भाधान संस्कार स्त्री–पुरूष सहवास के लिये पारस्परिक सम्मति एवं संतान की आवश्यकता का द्योतक था। इसका उद्देश्य माता–पिता को इस योग्य बनाना था, जिससे उनकी संतति सदगुण सम्पन्न हो। इसके लिये उपयुक्त समय एव वातावरण का ध्यान रखना अपेक्षित था। यह वैज्ञानिक सच है कि जो कार्य जिस भाव से किया जाता है, उसका फल भी उसी प्रकार प्राप्त होता है। शुभ मुहूर्त एवं पवित्र भाव से सम्पन्न संस्कार का प्रभाव रक्त एवं वीर्य से निर्मित संतान पर पडता है। रक्त द्वारा प्रत्येक भाव का सचार उसी रूप में होता है। अतः शुभ भाव से सम्पन्न कार्य का फल शुभता लिये होता है। गर्भाधान हेतु स्त्री का ऋतुकाल में रहना आवश्यक माना गया। ऋतु–स्नान के बाद चार से सोलहवी रात्रि तक गर्भधारण हेतु उपयुक्त समय बताया गया है। (याज्ञ., 1.79)। एक, दो, तीन, चार, आठ, ग्यारह, तेरह, पन्द्रह, अट्ठारह एवं तीसवीं रात्रि इसके लिये वर्जित था (मनु. 3.45)। शेष रात्रि को श्रेष्ठ बताया गया है। पुत्रेच्छुक पुरूष को सम राशियों में स्त्री गमन का विधान मिलता है। निःसन्देह इस व्यवस्था का वैज्ञानिक आधार था, जिसे आज भी विद्वत समाज द्वारा स्वीकार किया जा रहा है। गर्भधारण के तीसरे महीने चन्द्रमा जब पुण्य नक्षत्र में प्रवेश करता था, तब पुत्र की लालसा में पुसंवन संस्कार सम्पन्न किया जाता था (सुश्रुत, 38)। रात्रि में बरगद के फल एवं छाल को पीसकर उसके रस को स्त्री के दाहिने नाक में डाला जाता था, ताकि गर्भपात न हो। दक्षिणायन में जौ एवं उड़द की दाल की खिचडी उसे खाने को दी जाती थी। इससे आयुर्वेद के

व्यवहारिक ज्ञान का पता चलता है, जो जनसामान्य में प्रचलित था। सीमन्तोनयन संस्कार गर्भाधान के चौथे, छठे या आठवें माह मे सम्पन्न होता था (गो.गृ.सू., 3.4.5 ; मनु. 3.5 , आ. ध. सू., 2.5.11.16)। वेद मंत्रों के उच्चारण के साथ यह संस्कार सम्पन्न किया जाता था। इस दिन चावल और मूँग की खिचडी घी डालकर गर्भवती स्त्री को खाने के लिए दी जाती थी। इस अनुष्ठान मे उपस्थित स्त्रियां वीर एव भाग्यवान पुत्र को जन्म देने हेतु आशीर्वचन देती थी (गो.गृ.सू., 2.7.13)। निःसंदेह इस संस्कार का मनोवैज्ञानिक एवं चिकित्सकीय महत्व था। तदुपरान्त शारीरिक श्रम से दूर रख कर सुख एवं शांति का वातावरण उसे सुलभ कराया जाता था ताकि वह शारीरिक एवं मानसिक रूप से स्वस्थ रह सके। इसका सीधा प्रभाव गर्भ में पल रहे बच्चे पर पडता था। जन्म के उपरान्त एवं नाभिछेदन के पूर्व जातकर्म सस्कार सम्पन्न किया जाता था (मनु. 2.29)। इस समय शहद और घृत को स्वर्ण–पात्र मे घिसकर नवजात शिशु को चटाया जाता था (आश्व., गृ. पू. 1–15, 1–9) तथा उसकी मॉ को हल्दी और गुड मिलाकर पीने को दिया जाता था। निश्चित रूप से इसका वैज्ञानिक महत्व था, जिसका व्यवहारिक ज्ञान जनसामान्य वर्ग को था। शहद पित्त नाशक एवं घृत कफ नाशक तथा स्वर्ण भस्म प्रतिरोधी क्षमता विकसित करने वाला होता है। नवजात शिशु के मॉ के गर्भ से बाहर आने पर वाह्य तत्व उस पर तीव्रता से प्रभावी होते है, अतः उसका सामना करने हेतु तीनो का मिश्रण उस बच्चे को चटाया जाता था, जिससे उसकी प्रतिरोधी क्षमता विकसित हो सके और वह वाह्य तत्व का सामना करने योग्य बन सके। शिशु जन्म के उपरान्त मॉ के शरीर में कैल्शियम की मात्रा घट जाती है अत. उसकी पूर्ति हेतु गाय का दूध, हल्दी, गुड एव सोंठ आदि के सेवन का विधान था।इसके कारण माँ का दूध पौष्टिक एवं स्वास्थ वर्द्धक बनता है तथा उसके अन्दर दुग्ध निर्माण की प्रक्रिया तीव्र हो जाती है। विवाह के समय सम्पन्न होने वाले कर्मकांडीय अनुष्ठान का वैज्ञानिक आधार है। इसके कारण नव दम्पत्ति मनोवैज्ञानिक रूप से एक–दूसरे से जुड़ जाते हैं। मनोवैज्ञानिक दबाव एवं धार्मिक भय उन्हें

अपने दायित्वो को निष्ठापूर्वक निष्पादित करने के लिए बाध्य करता है। आलोच्यकाल मे विभिन्न वनस्पतियों को विशेष धार्मिक महत्व प्राप्त था और उसे पूज्य बना दिया गया था, ताकि लोग भय एवं श्रद्धावश उसका संरक्षण–संवर्द्धन करने के लिए विवश हो। यह वैज्ञानिक सच है कि पीपल और शम्मी वृक्ष प्रत्येक समय प्रचुर मात्रा मे जीवनोपयोगी ऑक्सीजन छोड़ता है। ये दोनों वृक्ष रात को भी ऑक्सीजन छोडते है और अपनी वैज्ञानिक महत्ता के कारण ये हिन्दू धर्म मे पूज्य बने हुए हैं। पीपल के नीचे ध्यान करना सर्वोत्तम बताया गया है। गीता के दसवें अध्याय के छब्बीसवें श्लोक मे भगवान श्री कृष्ण ने कहा है कि सभी वृक्षो मे मै पीपल हूँ। अतः हिन्दू धर्म मे पीपल वृक्ष को भगवान श्री कृष्ण का अवतार माना गया है। मस्तिष्क में जिस कारण बोध और चेतना निर्मित होती है या जिसके अभाव में आदमी बेहोश हो जाता है, उस रासायनिक तत्व की सर्वाधिक अधिकता पीपल वृक्ष में पाया जाता है। पीपल के दूध में एक ऐसा हारमोन पाया जाता है, जो पिट्यूटरीग्लैण्ड से स्रावित होने वाले हारमोन्स में से एक है। कॉलिन विल्सन ने अपने शोध में पाया है कि चैतन्य की प्रक्रिया जिस रासायनिक प्रक्रिया से बढ़ती है, वह पीपल, वट या बरगद के वृक्षों मे सर्वाधिक है। बरगद का दूध एवं छाल सफल दाम्पत्य–जीवन के लिये सर्वाधिक उपयोगी बताया गया है। नीम का वृक्ष न केवल वातावरण को शुद्ध रखता है, बल्कि उसका फल, फूल, पत्ते एव छाल मच्छर नाशक, मलेरिया नाशक, पाण्डुरोग रोधी एवं सर्वाधिक प्रतिरोधी क्षमता रखता है। जामुन का फल मधुमेह रोग के लिये रामबाण सिद्ध हो चुका है। भगवान गणपति की उपासना के समय चढाये जाने वाले कंद मूल एवं फल–फूल आदि से इसकी आयुर्वेदीय वैज्ञानिकता सिद्ध होती है। प्राचीन काल में प्रत्येक गृहस्थ के आंगन में प्रायः तुलसी का पौधा लगा होता था, जिसको नित्य पूजन की परम्परा थी। यह एक दिव्य औषधि का वृक्ष है तथा कस्तूरी की तरह एक बार मृत प्राणी को जीवित करने की क्षमता रखता है। इसका नियमित सेवन करने से कैंसर जैसी असाध्य व्याधि भी ठीक हो जाती है। इसके पत्ते को उबाल कर पीने से सामान्य ज्वर, जुकाम, खांसी एवं मलेरिया में तत्काल राहत मिलती है। प्रसाद पर इसको रखने से प्रसाद विकृत

नही होता। पंचामृत एवं जल में इसको डालने का प्रावधान इसलिए था कि उसे देर तक सुरक्षित रखा जा सके। इसकी मजरियो मे एक विशेष खुशबू होती है जिससे विषधर सांप उसके निकट नहीं आते। ऐसी जनश्रुति है कि तुलसी, भगवान विष्णु की पत्नी हैं, इसलिए इसको दात से चबाकर नही खाना चाहिए। वनस्पति वैज्ञानिको ने खोज की और पाया कि सबसे ज्यादा पारा तुलसी के पौधे मे होता है। कच्चा पारा यदि दांतों मे लग जाय तो दांत तुरत गिर जाते हैं। अतः तुलसी के पत्ते को सीधे ज़िह्वा के माध्यम से निगलने की परम्परा हिन्दू धर्म में प्रचलित है।

वृक्ष मनुष्य से अधिक सचेतन होते है, क्योकि इसान की दृष्टि लाखों आकाश तरगो में से एक को जो लाल व बैंगनी के बीच है, को पकड़ पाती है, जबकि वनस्पति दिखाई देने वाले प्रकाश के साथ–साथ वर्गक्रम की दोनों सीमाओं पर दिखाई न देने वाली अल्ट्रावायलेट और वायरलेस इन्फ्रारेड तरगों को भी देख लेने में समर्थ होते हैं। इसका ज्ञान प्राचीन शिक्षाविदों को था, इसीलिए उन्होंने वैज्ञानिक शिक्षा को व्यवहारिक शिक्षा में परिवर्तित किया था। छितवन वृक्ष शिक्षण संस्था और ज्ञान चर्चा के केन्द्रो पर ही अधिक तेजी से बढ़ता है। ऐसे स्थल जहॉ ज्ञान को महत्व नहीं दिया जाता या उपेक्षा की जाती है, वहॉ यह स्थापित नहीं हो पाता। इसी प्रकार हल्दी, लहसुन, अदरख, धनिया, पुदीना, पान, सुपाड़ी, मिस्री आदि का सेवन प्राचीन गृहस्थ अपने दैनिक जीवन मे करते थे। इसका वैज्ञानिक महत्व उन्हे ज्ञात था। गोदुग्ध को मॉ का दूध माना जाता था और गाय माँ की भाँति पूज्य थी। गाय का दूध सग्रहणी, शोथ आदि अनेक असाध्य रोगों की अचूक औषधि है। स्थूलता एवं मेदा वृद्धि को दूर करने की इसमें विशेष क्षमता है। आज वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि मॉ का दुग्ध शिशुओं के विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है तथा मॉ के दुग्ध में, जो तत्व पाया जाता है, वही तत्व गोदुग्ध में भी मिलता है।

ऐसी मान्यता है कि गंगा जल में कीड़े नहीं पड़ते हैं। यह विज्ञान सिद्ध हो चुका है। यही कारण है कि प्राचीन शिक्षाविदों ने गंगा को पूज्य माना। किसी

शुभ मुहूर्त मे गंगा स्नान का प्रावधान इसलिए था, क्योंकि उस मुहूर्त से पूर्व मानव शरीर से एक विशेष प्रकार का विषाक्त पदार्थ स्रावित होता है। गंगा स्नान से वह विषाक्त पदार्थ धुल जाता है और उसके जीवाणु मर जाते है। इस प्रकार हिन्दू परम्परा में गगा स्नान का धार्मिक महत्व प्राप्त होने के पीछे वैज्ञानिक कारण विद्यमान था। ऐसा उल्लेख मिलता है कि ब्रह्ममुहूर्त मे उठने से सौन्दर्य, लक्ष्मी, बुद्धि, स्वास्थ्य, आयु आदि की प्राप्ति होती है तथा शरीर कमल सदृश सुन्दर बनता है। वैज्ञानिक शोध के अनुसार ब्रह्ममुहूर्त मे 41 प्रतिशत आक्सीजन, 55 प्रतिशत नाइट्रोजन एव 4 प्रतिशत कार्बनडाईआक्साइड होता है। यह स्थिति शरीर, बुद्धि, मन, आत्मा, नेत्र, स्मरणशक्ति आदि को बढाने में विशेष सहायक होती है। प्रदूषण भरे वातावरण मे इसकी प्रसगिकता दिनोदिन बढती जा रही है। प्राचीन समय में यज्ञीय परम्परा को महत्व प्राप्त था, जिसका उद्देश्य सास्कृतिक सात्विकता का प्रसार एव पर्यावरणीय शुचिता की स्थापना था। इससे तत्कालीन विद्वानों की पर्यावरणीय जागरूकता का पता चलता है। वर्तमान वैज्ञानिक भी इसके महत्व को स्वीकार करने लगे है।

सनातन हिन्दू परिवारों मे यह मान्यता है कि सूर्य को अर्घ्य देने से पाप का नाश होता है। स्कन्द पुराण मे वर्णित है कि सूर्य को अर्घ्य दिये बिना भोजन करना पाप है। वेद के अनुसार संध्या में जो जल प्रयोग किया जाता है, वे जलकण वज्र बनकर असुरों का नाश करते हैं। सूर्य के किरण द्वारा असुरों का नाश एक अलंकारिक भाषा है। मानव जाति के लिए– टायफाइड, राजयक्ष्मा, फिरंग, निमोनिया आदि असुर हैं, जिनका विनाश सूर्य के किरण की दिव्य सामर्थ्य से होता है। एन्थ्रेक्स के कीटाणु जो कई वर्षो के शुद्धीकरण से भी नहीं मरते, सूर्य के प्रकाश में डेढ घंटे में मर जाते हैं। इसी प्रकार हैजा, निमोनिया, चेचक, तपेदिक, फिरंग आदि के घातक कीटाणु, गरम जल मे खूब उबालने पर भी नष्ट नहीं होते। पर प्रातः कालीन सूर्य की जल में प्रतिफलित अल्ट्रावायलट किरणों से शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। विभिन्न रंगों के कांच के बोतल में जल भरकर कई दिनों तक सूर्य की प्रातःकालीन किरण में तपाकर इस्तेमाल करने से पेट सम्बन्धी कई व्याधियाँ

स्वत: दूर हो जाती है। सूर्यार्घ्य मे साधक, जलपूरित अजली लेकर सूर्याभिमुख खडा होकर जब जल को भूमि पर गिराता है तो नवोदित सूर्य की सीधी किरणो से अनुबिद्ध वह जलराशि, मस्तक से लेकर पांव पर्यन्त सूत्र में गिरती है, सूर्य किरणों से उतप्त रंगों के प्रभाव को ऊपर से नीचे तक समस्त शरीर मे प्रवाहित कर देती है। इसीलिए हिन्दू परम्परा मे प्रातः पूर्वाभिमुख, उगते हुए सूर्य के सामने और साय पश्चिमाभिमुख छुपते हुए सूर्य के सामने खडे होकर सूर्यार्घ्य देने का विधान है। प्रातःकालीन बेला में सूर्य के प्रतिबिम्ब को तालों तथा नदियो में देखना पश्चिमी देशों मे लाभप्रद माना गया है। वहाँ के वैज्ञानिक कहते हैं कि ऐसा करने से नेत्र को मोतियाबिन्द आदि रोगो से बचाया जा सकता है।

यह वैज्ञानिकों द्वारा सिद्ध हो चुका है कि हमारे ज्ञान तंतुओं का विचारक केन्द्र भृकुटि और ललाट का मध्य भाग होता है। जब हम मस्तिष्क से अधिक काम लेते हैं, तो इसी केन्द्र पर वेदना का अनुभव होता है। अतः प्राचीन शिक्षाविदों ने मानसिक कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व इस स्थान पर तिलक धारण करने का विधान किया था। चन्दन की महिमा सभी वैद्य जानते हैं। मस्तिष्क के केन्द्र बिन्दु पर चन्दन का तिलक लगाना ज्ञान तंतुओ को संयमित एवं सक्रिय रखना है। ऐसे जातक को कभी भी सिर–दर्द नही होता और उसकी मेधा शक्ति तीव्र बनी रहती है। यद्यपि इसे धार्मिक महत्व प्राप्त था, लेकिन इसका सशक्त वैज्ञानिक आधार है। यजुर्वेद के अनुसार, कीर्ति और शोभा के निमित्त शिखा धारण करना चाहिए। शिखा स्थल पर ब्रह्मरन्ध्र होता है। यह मर्म स्थल जरा–सा उपद्रुत होने से मनुष्य की तत्काल मृत्यु हो जाती है। इसकी सुरक्षा हेतु वैदिक विज्ञान के अनुसार गोखुराकार शिखा रखने का निर्देश मिलता है। प्राणायाम के द्वारा ही प्राचीन ऋषियों ने दीर्घायु को प्राप्त किया था। यह वैज्ञानिक सच है कि इसके द्वारा श्वास से सम्बन्धित सभी बीमारियों को दूर किया जा सकता है और मनुष्य जितनी चाहे अपनी आयु बढ़ा सकता है। आज के वैज्ञानिक भी इसके महत्व को स्वीकार करते हैं, और दिनोदिन इसका प्रचलन बढता जा रहा है।

वैखानस गृह्यसूत्र (3.1.4) एवं शतपथ ब्राह्मण (2.1.1.7)मे उल्लेख मिलता

है कि उत्तर एवं पश्चिम दिशा में सिर करके तथा दक्षिण एवं पूर्व दिशा में पांव करके नही सोना चाहिए। अर्थात् सोते समय सिर सदैव पूर्व एवं दक्षिण में ही होना चाहिए। विज्ञान ने पृथ्वी को एक बडा चुम्बक माना है, जिसके दो ध्रुव है– उत्तर एव दक्षिण। चुम्बक की बल रेखाएँ उत्तर से दक्षिण की ओर गमन करती हैं। अतः उत्तर की ओर पैर करके सोने से उसका अनुकूल प्रभाव शरीर पर पड़ता है जिसके कारण शरीर व्याधि मुक्त रहता है और व्यक्ति को दुःस्वप्न नहीं आते। तात्पर्य यह है कि सौर जगत ध्रुव के आकर्षण पर अवलम्बित है, ध्रुव उत्तर दिशा मे स्थित है। यदि कोई व्यक्ति दक्षिण दिशा की ओर पांव और ध्रुव की ओर मस्तिष्क करके सोता है तो ध्रुवाकर्षण के तारतम्य से पेट में पडा भोजन पचने पर उसका अनुपयोगी अंश मल के रूप मे नीचे की ओर जाना आवश्यक होता है, पर वह ऊपर की ओर गतिशील हो जाता है। इससे हृदय व मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसके विपरीत उत्तर दिशा में पांव करके सोने से भोजन परिपाक ठीक होता है और नींद बढिया आती है। दक्षिण दिशा से उत्तर की ओर चल रहा विद्युत प्रवाह मस्तिष्क से प्रविष्ट होकर पांव के रास्ते निकलने के कारण स्वास्थ बेहतर होता है और आयु बढ़ती है। भारतीय परम्परा की विशेषता है कि मृत्यु के पश्चात शव को उत्तर की ओर सिर करके लिटाया जाता है। इससे प्राणवाय शरीर से शीघ्र निकल जाती है और जीव को कम कष्ट सहना पड़ता है। डॉ. शारदा सुब्रह्मण्यम् मद्रास के एक फिजियोलॉजिस्ट एवं डॉ. पी.बी. शंकर नारायण, उपनिदेशक राष्ट्रीय भू–भौतिक, अनुसंधान, सस्थान, हैदराबाद भी इस निष्कर्ष पर पहुॅचे हैं कि सिर को उत्तर या पश्चिम दिशा में रखकर नहीं सोना चाहिए क्योंकि उत्तर–दिशा मे रखकर सोने से प्रमुख तरंगे दब जाती हैं और उत्साह विहीनता, वेचैनी तथा सामान्य सुस्ती की स्थिति पैदा होती है। इसके विपरीत पूर्व दिशा में सिर करके सोने पर अतिशय शांति, सजगता एवं स्वस्थता का अनुभव होता है।

प्राचीन काल में रजस्वला स्त्री से दूरी बनाए रखते हुए उससे कोई भी पवित्र कार्य नहीं लिया जाता था। यद्यपि इसको धर्म से जोड़ा गया था, लेकिन इसका वैज्ञानिक महत्व अधिक था। सन् 1920 में डॉ. सेरिक ने यह अनुभव किया

कि कुछ फूल रजस्वला स्त्री के हाथ में रखते ही मुरझा जाते हैं। सन् 1923 मे डॉ. मिंकवर्ग ने रजस्वला के हाथ में मेढ़क रखा। उस दौरान उसकी गति मन्द पायी गयी। दैनिक व्यवहार में भी देखा गया है कि रजस्वला स्त्री की छाया पडते ही अचार बिगड जाता है, पापड़ लाल पड़ जाते है। स्पर्श मात्र से तुलसी के हरे–भरे पौधे मुरझा जाते है और एक माह के अंदर सूख जाते हैं। आयुर्वेद के अनुसार 'लोहितिका' नाडी दाहिने कान से होकर मनुष्य के मल–मूत्र द्वार तक पहुँचती है। यदि दायें कान की इस नाडी को थोड़ा–सा दबा दिया जाय तो व्यक्ति का मूत्र–द्वार स्वतः खुल जाता है। पाठशालाओं मे शिक्षक द्वारा बच्चों का कान दबाने पर यह हरकत प्रायः देखी जाती है। इस नाडी का अडकोष से भी सीधा सम्बन्ध होता है। हार्निया नामक बीमारी को रोकने के लिये इस नाड़ी की जगह छेदने का विधान आज डॉक्टरो के मध्य प्रचलित है। अतः स्पष्ट है कि इस काल को जनेऊ द्वारा वेष्ठित करने से व्यक्ति का मूत्र एकदम साफ व सरलता के साथ आखिरी बूँद तक उतर आता है और वह मूत्र रोग से बचा रहता है। प्राय शौंच के समय जोर लगाने से, लघुशंका के साथ वीर्य अज्ञात रूप से स्खलित होने लगता है और ध्यान न देने पर यह एक भयंकर रोग का रूप धारण कर लेता है। यदि दोनो कान के ऊपर स्थित लोहितिका नाडी को जागृत किया जाय तो वीर्य स्खलन का भय नही रहता। दोनों कानों पर यज्ञोपवीय के वेष्टन से नाड़ियॉ जागृत होकर सचेष्ट हो जाती है और व्यक्ति मधुमेह, प्रमेह, वीर्य–दोष, मूत्र–दोष आदि से बच सकता है। स्त्रियों के नाक एवं कान छेदने के पीछे इसी प्रकार का वैज्ञानिक सच छिपा है। आज जो व्यक्ति प्राचीन परम्परा का जितना अधिक माखौल उडाता है वह उतना ही सभ्य और बुद्धिमान समझा जाता है, लेकिन सर्वाधिक परेशान एवं व्याधि–ग्रस्त वही पाया जाता है।

प्राचीन परम्परा मे गाय के गोबर को विशेष धार्मिक महत्व प्राप्त था। गोबर मे 'फासफोरस' नामक तत्व बहुतायत पाया जाता है। यह तत्व कई संक्रामक रोगो के कीटाणुओं को नष्ट कर देता है। सर्वेक्षण में यह पाया गया है कि आकाश से गिरने वाली बिजली गोबर के ढेर पर गिरते ही, उसमें समा जाती है। गाय के

गोबर से घर को लीपने का विधान इसलिए था कि वहाँ का वातावरण स्वच्छ रहे और संक्रामक दोष से मुक्त रहे। चूँकि, मृत शरीर में कई प्रकार के सक्रामक कीटाणु होते हैं, अतः मृत्यु के समय उपस्थित कुटुम्ब जनों के स्वास्थ्य सरक्षण हेतु गोबर का चौका लगाने का विधान मिलता है। कुष्ठ रोग में गाय का गोबर लाभकारी पाया गया है। बंदर के काटे घाव पर गाय का गर्म गोबर लगाने से उसकी पीड़ा तत्काल दूर हो जाती है।

शास्त्रों में गणपति के बारे में कहा गया है कि 'शत मोदक प्रिय अर्थात् एक बार में सौ लड्डू खा जाते है और मिष्ठान प्रिय होने के कारण निरन्तर गुड़ और मोदक खाते ही रहते हैं। यह वैज्ञानिक सच है कि अधिक मीठा खाने से व्यक्ति मधुमेह से ग्रस्त हो जाता है। युवावस्था में मधुमेह रोग से ग्रस्त व्यक्ति निरन्तर वीर्य क्षय के कारण प्रायः नपुसक हो जाता है और संतान पैदा करने की क्षमता उसमे नहीं रह जाती। गणपति की दो सुन्दर पत्नियाँ थी, पर उन्हें कोई सतान नही थी। निश्चय ही वे मधुमेह रोग से ग्रस्त थे। प्राचीन मान्यता है कि गणपति को जामुन एवं कपित्थ प्रिय है। यह विज्ञान सिद्ध है कि जामुन एवं कैथ का फल खाने से मधुमेह रोग का जड से नाश हो जाता है। यहाँ गणपति का जीवन व्याधि एवं औषधि का प्रतीक है। गणपति की भाँति अन्य देवता भी किसी–न–किसी ज्ञान के प्रतीक हैं। प्रत्येक देवता को कोई–न–कोई वस्तु प्रिय अवश्य है। अतः उस पदार्थ को चढाने के उपरान्त प्रसाद स्वरूप खाने का विधान इसलिए मिलता है, कि उसका लाभ जनसामान्य को औषधीय रूप में मिल सके। इस प्रकार विभिन्न वनौषधियों का ज्ञान धार्मिक प्रतीको के माध्यम से जन सामान्य मे प्रचलित था और वह प्रत्येक व्यक्ति के दैनिक जीवन का अनिवार्य अंग बन जाता था। निःसन्देह प्राचीन भारत की अन्य परम्पराओ के पीछे भी एक वैज्ञानिक सच छिपा हुआ है, जिसको धार्मिक आधार प्रदान कर उसके संरक्षण एवं संवर्द्धन का सफल प्रयास किया गया था।

जो ज्ञान आज किताबों में दीखता है, वह प्राचीन शिक्षार्थियों के व्यवहार एवं उनके दैनिक जीवन में परिलक्षित होता था। यही कारण है कि लंबे थपेडों को

सहनने के उपरान्त बहुसंख्यक परम्पराए आज भी किसी—न—किसी रूप मे विद्यमान है। यदि उन सांस्कृतिक परम्पराओं का कोई वैज्ञानिक आधार नही होता, तो वे बहुत पहले ही मृतप्राय हो चुकी होती। यद्यपि, विकास के क्रम में कर्मकाण्डीय जडता अत्यधिक मजबूत हो जाने के कारण उसकी वैज्ञानिकता, मौलिकता एवं सृजनात्मकता का ह्रास हुआ और उसका मूल उद्देश्य मृतप्राय हो गया, तथापि कर्मकांडीय ब्राह्मणों ने अपनी आवश्यकता के अनुरूप उसमें समय—समय पर परिवर्तन कर उसके परिवर्तित स्वरूप को बनाए रखा। प्रारम्भ मे जिन ब्राह्मणों का अध्ययन—अध्यापन एवं स्वतंत्र चिंतन—मनन पर अधिकार होता था, वे उससे विमुख होते गये। परिणामतः परम्पराओं के वैज्ञानिक आधार के संरक्षण एवं संवर्द्धन में वे असफल रहे और उन्होने शिक्षा से उतना ही सम्बन्ध जोडे रखा कि उनका जीविकोपार्जन सभव हो सके। वस्तुतः धीरे—धीरे परम्पराओ की पहचान धूमिल होती गयी और कालान्तर में उसकी वैज्ञानिक दृष्टि समाप्त हो गयी।

प्रारम्भ में शिक्षक ही पुरोहित का कार्य भी करते थे। अतः वे अपने शोधात्मक वैज्ञानिक ज्ञान को धार्मिक शिक्षा के द्वारा जनसामान्य तक पहुँचाना अपना कर्त्तव्य समझते थे। यही कारण है कि तत्कालीन ज्ञान—विज्ञान धार्मिक परम्पराओ के माध्यम से जन सामान्य के दैनिक जीवन में प्रवेशकर व्यवहारिक जीवन का अनिवार्य अंग बन गया। आज जिन वनस्पतियों एवं खाद्य पदार्थ को लेकर पेटेन्ट कानून पर विवाद चल रहा है, वह सभी वस्तुएँ भारतीयों के दैनिक जीवन में व्यवहारतः रची—बची मिलेगी। जैसे— नीम, हल्दी, लहसुन, करेला, बासमती चावल, कढ़ी, आवला, शहद आदि। मिस्री, सौंफ, तुलसी, पान, सुपाड़ी, कटहल, पीपल, बेल, बरगद, पाकड़, धतूरा, गन्ना, महुआ, पुनर्नवा, गाजर, मूली, लवंग, इलाईची, हर्रे, बहेड़ा, ब्राह्मी, शंख—पुष्पी, भृंगराज, कोदो, पुदीना, धनिया, पालक, मूँग, चना, उड़द, जौआदि, जिनका उल्लेख न केवल अथर्ववेद, महाभारत, चरकसंहिता आदि ग्रंथों में मिलता है, बल्कि सभी वस्तुएँ आज भी प्रत्येक भारतीयों के जीवन मे गहरा पैठ बनाए हुए है। इसके लिए पूरे विश्व को प्राचीन भारतीय शोधार्थियो का ऋणी बनना पडेगा, जिन्होंने अपने अथक प्रयास से इन्हें खोजकर

इनकी वैज्ञानिक महत्ता सिद्ध की थी और जनसामान्य को इसकी विशेषताओ से अवगत कराया था। यद्यपि शासक वर्ग की उपेक्षापूर्ण व्यवहार के कारण आज यह अपने ही देश में पूर्णतया उपेक्षित है। कोई भी शोधार्थी आज इन विषयो पर ईमानदारी से शोध कार्य करने के लिये मानसिक रूप से तैयार नहीं है। अतः विश्व के चतुर देश हमारी इस सांस्कृतिक धरोहर को अपना शोध बताने में लगे हुए हैं। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी सांस्कृतिक विरासत के मूल्य को पहचानकर उसे पुन. स्थापित करें और उसकी वैज्ञानिक महत्ता को सिद्ध करे, तभी राष्ट्र का सम्यक् विकास संभव हो पायेगा और वह अपने पैरों पर खड़ा होकर चल सकेगा। अन्यथा राष्ट्रीय अस्मिता सुसुप्ता अवस्था में पडी रहेगी और वह पाश्चात्य देशो की पिछलग्गू बनकर रह जायेगी।

प्राचीन भारत में दान को विशेष महत्व प्राप्त था, चाहे वह विद्यादान हो या विद्या के लिये धन दान। यद्यपि, धन दान से अधिक महत्व विद्यादान का था। धन लेकर विद्या देना निन्दनीय समझा जाता था। जिस प्रकार गुरू का यह धर्म होता था कि वह प्रत्येक शिक्षार्थी को बिना किसी भेद—भाव के निःशुल्क शिक्षा प्रदान करे, उसी प्रकार राजा, सामन्त एव प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य होता था कि वह प्रत्येक शिक्षक एवं शिक्षार्थी की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति सुनिश्चित करे। प्रत्येक ब्रह्मचारी को भिक्षा देना, श्राद्ध के अवसर पर विद्वानों को दान देना, विभिन्न उत्सवों पर उन्हे भोजन कराना एवं दान देना, विभिन्न अवसरो पर उपहार वितरित कर उन्हें प्रोत्साहित करना, सस्थाओ को कर मुक्त भूमि दान देना आदि ऐसे कार्य थे, जिनसे शिक्षण कार्य बिना किसी अवरोध के सुचारू रूप से चलता था। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के दान एवं शासक वर्ग का यथोचित सहयोग आय के मुख्य स्रोत थे। प्रत्येक जिज्ञासु छात्र भोजन, वस्त्र एवं आवास सम्बन्धी चिन्ताओं से मुक्त रहकर सम्यक शिक्षा प्राप्त करते थे और वे अपना सर्वागीण विकास करते थे। वर्तमान शिक्षा इन समस्याओं को दूर कर पाने में असफल सिद्ध हो रही है। छात्रों की रचनात्मक प्रतिभा का दोहन सृजनात्मक कार्यों के लिये न होकर दैनिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये हो रहा है। इस प्रकार छात्रों का

एकांगी विकास होने के कारण मौलिक प्रतिभाएं कुंठित हो रही है। शुचिता का लोप होने से चारित्रिक क्षरण का क्रम जारी है। आत्ममंथन एवं चिंतन की प्रवृत्ति मीलों दूर है। हताशा, निराशा एवं चिंता के कारण सर्वत्र अनिश्चय का वातावरण व्याप्त है और अनावश्यक महत्वाकांक्षा एवं भ्रष्टाचार व्यक्तित्व का स्वाभाविक गुण बनता जा रहा है।

आलोच्यकाल में चारित्रिक शुचिता एवं व्यक्तित्व का सर्वागीण विकास शिक्षा का ध्येय होता था। इसके कारण अनावश्यक महत्वाकांक्षा का शमन होता था। इसकी पुष्टि विदेशी यात्रियों के विवरण से भी होती है, जिन्होंने भारतीय संस्कृति के कई पक्षों पर नकारात्मक टिप्पणी के बाद भी चारित्रिक शुचिता एवं उनकी सत्यनिष्ठा की सर्वथा प्रशंसा की है। मेगरस्थनीज के अनुसार, भारतीय झूठ नहीं बोलते, सत्यगुणों का आदर करते हैं और सतोषी होते हैं। स्ट्रेबों के अनुसार, भारतीय अपने मकानों मे ताला नही लगाते और विश्वसनीय व्यक्ति होते हैं। यह विशेषता आज भी पूर्वोत्तर भारत के कई ग्रामीण, जनजातीय समूहों में देखने को मिल जायेगी, जहाँ वर्तमान शिक्षा का फैलाव नहीं हुआ है। तात्पर्य यह है कि वर्तमान शिक्षा व्यक्ति को बौद्धिक एवं मानसिक रूप से चतुर बना रही है। व्यक्तित्व का सर्वागीण विकास न होने से स्वार्थ एवं व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा शिक्षा का स्वाभाविक गुण बनता जा रहा है। ह्वेनसांग लिखता है कि भारतीय सिद्धान्त के पक्के एव संवेदनशील व्यक्ति होते हैं। उपकार का बदला न्याय से चुकाते हैं। किसी के साथ कपट नही करते और सत्य प्रतिज्ञ होते हैं। निश्चय ही इन गुणों के विकास मे प्राचीन शिक्षा पद्धति की महत्वपूर्ण भूमिका थी। छात्रों के मनोवैज्ञानिक चरित्र को उद्घाटित कर उनमे आध्यात्मिक एव मानवीय चिंतन को विकसित करना प्राचीन शिक्षा की विशेषता रही है, जिसके कारण छात्रों के अंदर विद्यमान अनावश्यक महत्वाकांक्षा का शमन होता था। अनावश्यक महत्वाकांक्षा ही भ्रष्टाचार की मूल नब्ज होती है, इसको प्राचीन शिक्षाविदों ने महसूस कर लिया था। यह अत्यधिक प्रभावी न बन जाय, इसके लिये उन्होंने ऐसी शिक्षा व्यवस्था दी थी कि इस प्रकार के विकारों का स्वाभाविक शमन हो और संतुलित व्यक्तित्व का विकास

सभव हो।

आज शिक्षक एवं शिक्षार्थी दोनों भयाक्रान्त है और किंकर्त्तव्यविमूढता की स्थिति में हैं। दिशाहीनता की स्थिति में शिक्षा अपने मूल उद्देश्यों से विमुख हो चुकी है। चिंतन के स्थान पर चिंता का आधिपत्य है। वर्तमान शिक्षा पाश्चात्य संस्तुतियों के आधार पर विच्छिन्न बह रही है। पूर्व मे ब्रिटिश शासन को पढे–लिखे भारतीय मजदूरो, स्टोरकीपरों, क्लर्कों की आवश्यकता थी तथा उन्हे ईसाई प्रभुत्व का विस्तार करना था। अतः वे अपनी अपेक्षाओं के अनुरूप शिक्षा के पाठ्यक्रम तैयार किये, उच्च शिक्षा के नाम पर पाश्चात्य औद्योगिक–वैज्ञानिक उपलब्धियो से परिचित कराकर यहॉ की प्रतिभाओं को मौलिक ज्ञान से, शोधों से, निष्कर्ष प्राप्त करने के अधिकारों से विरत रखकर तथा अग्रेजी भाषा के वर्चस्व को थोपकर उनकी योग्यताओं को परिसीमित करना, उनका शैक्षिक उद्देश्य बना रहा। भारतीय शिक्षा, संस्कृति एवं इतिहास की गलत व्याख्या एवं भ्रात अवधारणाऍ प्रस्तुत की गई तथा जनता के मानस में भारतीय ज्ञान सम्पदा को अक्षम, अनुत्पादक एवं व्यर्थ सिद्ध कर पाश्चात्य शिक्षण संस्तुतियॉ प्रतिस्थापित कर दी गई। स्वतंत्रता पूर्व तक भारतीयों को इसी प्रकार की परिचयात्मक एवं विवरणात्मक औपचारिक शिक्षा प्राप्त होती रही, किन्तु, कालान्तर में भारतीय शिक्षाविदों और समाजशास्त्रियों का ध्यान जब प्रचलित शिक्षा पद्धति के पुर्नमूल्यांकन पर गया, तब तक पाश्चात्य अपसंस्कृति, भौतिकवादी जीवन दृष्टि का वर्चस्व स्थापित हो चुका था।

आज भी शिक्षा अपनी संस्कृति से पूर्णतया विलग है। विभिन्न संचार माध्यमों से पाश्चात्य जीवन शैली, शिक्षा एवं संस्कृति का प्रवेश नवांगतुकों को अतहीन लक्ष्य की ओर ले जा रही है। सामाजिक मान्यताओं की अस्मिता खोखली होती जा रही है। प्रत्येक व्यक्ति दुःखी एव तनावग्रस्त है, विभिन्न व्याधियों को ढो रहा है और अतीत की ओर झांकने की असफल चेष्टा कर रहा है। आज बडी–बडी शिक्षण सस्थाऍ स्थापित है, उनके पास पर्याप्त धन है, बहुसंख्यक शिक्षक एवं शिक्षार्थी है, पर शिक्षा किसको, किसकी और किस उद्देश्य से सब अस्पष्ट है, जो

स्पष्ट है, वह महज भौतिक समृद्धि है। भौतिक समृद्धि ही आज शिक्षा का उद्देश्य बन चुका है, जो अंतहीन कुंठा को जन्म दे रहा है। पाश्चात्य शिक्षालयों के अनुकरण पर नये–नये विशद पाठ्यक्रम प्रस्थापित हैं, पर अध्ययन–अध्यापन की स्थिति शून्य है। शिक्षालयो एवं शिक्षार्थियों के बीच अपराधिक गठबधन है। क्रीत शिक्षा एवं डिग्रियों की भरमार, योग्यताओ की उपेक्षा, भयंकर बेरोजगारी, प्रतिभाओं का पलायन, बात–बात पर विद्रोह एवं हिसा इन विश्वविद्यालयो के निहित सच है। छात्र–छात्राओं के फैशन परेड सौन्दर्य प्रतिस्पर्द्धा के रूप मे दिखाई देती है। यद्यपि यह परिदृश्य समग्र नही हैं। कतिपय शिक्षक एव शिक्षार्थी आज भी हैं, जो कुछ कर गुजरने का हौसला रखते है। किन्तु, तथाकथित सभ्य समाज इन्हें सुनने और विचार करने को प्रस्तुत नही है। वैज्ञानिक, चिकित्सक, अभियन्ता, ज्योतिषी, विधिवेता, शिक्षाविद, प्रशासक, राजनेता आदि होकर भी इन्हे पर्याप्त अवसर नही मिल पाता कि शैक्षिक इयत्ताओ को ये स्थापित कर पाये, अपितु कुछ संघर्ष के उपरान्त ये भी विद्यमान व्यवस्था के उपकरण बनकर रह जाते हैं। अतएव, आज आवश्यकता है, इतिहास एवं शिक्षा को अपनी संस्कृति से जोडा जाए और आयातित संस्कृति को गुण–दोष के आधार पर स्वीकार किया जाए। अधानुकरण की प्रवृत्ति से बचा जाए और सस्कृति सम्मत, मूल्य परक, चिंतन परक शिक्षा तंत्र विकसित किया जाए। आत्म–मथन एवं आत्म–चितन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित कर शिक्षा के व्यवहारिक पक्ष को दृढ़ किया जाए। निःसदेह वर्तमान शिक्षातंत्र में आयी रिक्ति को भरने मे हमारी प्राचीन शिक्षा पद्धति पूर्णतः सक्षम है।

किसी भी राष्ट्र के सास्कृतिक विकास, उसके संरक्षण एव संवर्द्धन में स्त्री शिक्षा की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। स्त्री के शिक्षित होने से परिवार, समाज एव सम्पूर्ण राष्ट्र शिक्षित होता है। प्राचीन काल मे वे स्त्रियॉ शिक्षित मानी जाती थीं, जो वैदिक शिक्षा प्राप्त करती थीं। उन्हें शिक्षित करने में परिवार, गुरूकुल, बौद्ध शिक्षण संस्थाएं एवं महिला शिक्षिकाओं का विशेष योगदान होता था। तद्युगीन स्त्रियो का दो वर्ग था– 'सद्योवधू' एवं 'ब्रह्मवादिनी'। सद्योवधू स्त्रियाँ विवाह के पूर्व तक ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए शिक्षा प्राप्त करती थी, तदुपरान्त गृहस्थ

जीवन मे प्रवेश करती थी। जबकि, ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ जीवन पर्यन्त अविवाहित रहकर ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करती थी। वे वेदाध्ययन के अतिरिक्त धर्म, दर्शन तर्क, मीमांसा, न्याय, साहित्य एवं आध्यात्मिक आदि विषयों में अधिकाधिक विद्वता प्राप्त करती थी तथा कुछ स्त्रियाँ मौलिक मंत्रों की रचना के कारण ऋषियों की भाँति श्रद्धेय थी, जैसे– गार्गी, वाचक्नवी, सुलभा, मैत्रेयी, बड़वा, प्रतिथेयी आदि।

शैक्षिक पाठ्यक्रमों मे शैल्पिक दक्षता, ललित कलाओं का ज्ञान, प्रशासनिक निपुणता, गृहविज्ञान, कृषिविज्ञान आदि विषय सम्मिलित थे, जिनमें वे दक्ष होती थीं। कतिपय सैन्य योग्यता भी रखती थीं तथा अनेक अपनी विशेषज्ञता के कारण शिक्षण कार्य भी करती थीं तत्कालीन ग्रन्थो मे उपाध्याया, आचार्या, उपाध्यायिनी, और आचार्यानी शब्दो का मिलना, यह पुष्ट करता है कि कतिपय विदुषी स्त्रियाँ शिक्षण कार्य भी करती थी। इनके द्वारा संचालित सस्थाओ को 'महिला शिक्षणशाला' कहा जाता था। इन संस्थाओं में शिक्षा प्राप्त करने के साथ–साथ वे सहशिक्षा के अन्तर्गत भी शिक्षा प्राप्त करती थी। प्रारम्भ में विभिन्न गोष्ठियो में सम्मिलित होने एव शास्त्रार्थ करने की उन्हें अनुमति प्राप्त थी। वे यज्ञ की अधिकारिणी होती थी और उनका शैक्षिक संस्कार भी होता था। किन्तु, कालान्तर में उनकी शैक्षिक स्थिति में ह्रास हुआ और वे वेदाध्ययन कर सकने में अक्षम मानी जाने लगी। उनकी उच्च–शिक्षा प्रतिबंधित हुई और विवाह संस्कार को ही उनका उपनयन स्वीकार कर लिया गया। मनु के अनुसार पति ही उसका आचार्य विवाह ही उसका उपनयन, पति की सेवा ही उसका आश्रम एवं गृहस्थी के कार्य उसके धार्मिक अनुष्ठान थे। विवाह के अतिरिक्त अन्य संस्कार बिना वैदिक–मंत्रों के होने लगे। इस प्रकार वैदिक एवं उच्च–शिक्षा की दृष्टि से उनकी स्थिति शूद्रों की भाँति हो गयी। अब वे परिवार के ज्येष्ठ एवं अनुभवी सदस्यों से व्यवहारिक एवं गृहोपयोगी विषयों की शिक्षा प्राप्त करने लगी। कुलीन एवं अभिजात परिवार की जिज्ञासु स्त्रियों को विभिन्न शिल्पों एवं ललित कलाओं की व्यवहारिक शिक्षा दी जाती थी। संगीत, नृत्य, वाद्य, गृहोपयोगी विषय एवं अंग विद्या आदि सम्मिलित था। अंग विद्या में पहेली हल करना, काव्यपाठ, अपूर्ण श्लोकों को पूर्ण

करना, क्रीड़ा, शरीर सज्जा, अलंकरण, अनुलेपन, संभाषण और शब्दो का ज्ञान सम्मिलित था।

यद्यपि, स्त्री शिक्षा में हो रहे ह्रास को रोकने का प्रयास बौद्धों ने किया और यथासभव उन्हे प्रोत्साहित भी किया। किन्तु ब्राह्मणो द्वारा स्थापित सामाजिक मान्यताओं का ध्वस्त होना एव कौटुम्बिक मर्यादा का क्षय होना उनके शैक्षिक प्रवाह को अवरूद्ध करने का कारण बना। विदेशी आक्रमणो के प्रभाव के कारण भी उनकी शिक्षा प्रभावित हुई और अल्पायु मे ही विवाह कर देना निहित सच बनता गया। बौद्ध शिक्षालयो का चारित्रिक पतन एवं उसमें प्रविष्ट नैतिक बुराइयॉ स्त्री शिक्षा के पराभव और समाप्ति का कारण बना। ईसा की पांचवीं शताब्दी मे भिक्षुणी संघ अवसान की ओर अग्रसर था, जबकि बौद्ध विहार उच्च शिक्षा के प्रमुख केन्द्र के रूप में स्थापित हो रहे थे। अतः स्पष्ट है कि वे उच्च शिक्षा से विमुख होती जा रही थी। इस प्रकार अन्तर्वर्णीय एव अन्तर्जातीय विवाह को निरूत्साहित करने, कौटुम्बिक अस्मिता की रक्षा करने और उनमें हो रहे चारित्रिक पतन को रोकने के उद्देश्य से बाल विवाह को समर्थन मिला तथा अल्पायु में ही उनका विवाह कर देना निहित सच बनता गया। विवश स्त्रियॉ कुशल गृहिणी बनने में ही अपनी सार्थकता समझने लगी।

इस प्रकार शताब्दियों तक उनकी अस्मिता अशिक्षा, अज्ञान, अंधविश्वास के अंधकूप में पड़ी रही और अपने महत्व को समझ नहीं पायी। यद्यपि 'पुनर्जागरण' काल में बगाल सहित पूरे राष्ट्र में स्त्री उद्धार की ललक देखी गई। सती–प्रथा, बाल–विवाह, पर्दा–प्रथा, वेश्यावृत्ति, स्त्री शोषण आदि के विरूद्ध तीव्र स्वर उठे तथा स्त्री शिक्षा की पुरजोर वकालत की गई। इस क्षेत्र में राजाराम मोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, ईश्वरचन्द विद्या सागर और स्वामी विवेकानन्द जैसी महान विभूतियों ने अपना महत्वपूर्ण योगदान अर्पित किया। कांग्रेस के उदय के साथ उनके सम्मान का विस्तार हुआ और वे पुरूषों के कंधे से कधा मिलाकर चलने में समर्थ हुई।

आज स्त्रियॉ शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र में अग्रसर हैं। ऐसे क्षेत्र में भी जहॉ पूर्व में पुरूषो का वर्चस्व था। प्रत्येक क्षेत्र में अपनी लगन और उच्च मेधा का परिचय

देकर उपलब्धियों के मानक प्रतिमान स्थापित किये हैं। पर दुःखद सच यह है कि आज आधुनिकता के मकड़जाल में वे अधिक उलझी दिखाई दे रही हैं। दिलचस्प बात यह है कि अपने अधिकारों एवं स्वसशक्तीकरण के लिये प्रयत्नशील ये अपने मूलशक्ति को विस्मृत कर चुकी है और प्रकृति प्रदत्त दायित्वों को विस्मृत कर एक अतहीन लक्ष्य की ओर बढ रही हैं जिसका अंत कुंठा, हताशा, निराशा, तनाव एवं अतृप्त भाव से होता है। इसमें मानवीय संवेदना का कोई स्थान नहीं होता। भौतिक समृद्धि, ग्लैमरस जीवन एवं अनजान–अतृप्त सुख के पीछे भागने के कारण परिवार, समाज, देश, सभी से दूरस्थ बिन्दु पर खडी एक विज्ञापन या मॉडल दिखाई देती है-- एक आत्माच्युत, स्त्रीत्व–विहीन देह। स्त्री देह या स्त्रीत्व किसको सशक्त किया जाना है। भारतीय सस्कृति में स्त्रीत्व एव स्त्रीगुणों का सौन्दर्य महिमामडित रहा है। देह को केवल उद्दीपक उपकरण या आत्मा का आभरण माना जाता रहा है, जो जर एवं मृत्यु है। स्त्री की शक्ति निःसदेह उसका स्त्रीत्व है, जो भारतीय संस्कृति की केन्द्र शक्ति है, वह अजर व अमर है। सांस्कृतिक शिक्षा स्त्री को अपनी खोयी हुई शक्ति की पहचान दे सकती है। शिक्षा के सभी अवसरों का समुचित उपयोग कर संस्कृति के लिये समर्पित होने की आज बेहद आवश्यकता है और इसकी अपेक्षा आज प्रत्येक स्त्री से है। तभी एक संवेदनायुक्त परिवार, आदर्श समाज एवं विकसित राष्ट्र का निर्माण किया जा सकता है।

संकेत शब्द सूची

●●●●●

संकेत शब्द सूची

अथर्व	–	अथर्ववेद
अ नि	–	अंगुत्तर निकाय
अश्व गृ सू	–	अश्वलायन गृह सूत्र
अर्थ	–	अर्थशास्त्र
अल्बरूनी	–	सचाऊ, अलबरूनी इडिया
आ प.	–	आदि पर्व
आ.ध सू	–	आपस्तम्ब धर्म सूत्र
आ.गृ सू	–	आपस्तम्ब गृह सूत्र
आ.स रि	–	आर्कलाजिकल सर्वे आफ इडिया, एनुअल रिपोर्टस् न्यूसीरीज
आ.स.वे.ई.	–	आर्कलाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इडिया की रिपोर्ट
इ का	–	इपिग्राफिया कार्नटिका
इ ई	–	इपिग्राफिया इडिका
इ ऐ	–	इंडियन ऐन्टिक्विरी
इ म प्रे.	–	इन्सक्रिप्शन्स, मद्रास प्रेसीडेन्सी
इत्सिग	–	रिकार्ड ऑफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड बाई इत्सिग, तकसुकु द्वारा सम्पादित
उ.रा	–	उत्तर रामचरित
ऐ. आ	–	ऐतरेय आरण्यक
कठ.स.	–	कठक सहिता
कथा	–	कथा सरित्सागर
कठो.	–	कठोपनिषद्
का.मी.	–	काव्यमीमासा
कू.पु.	–	कूर्म पुराण
खा.गृ.सू	–	खादिर गृह सूत्र
गो.ब्रा	–	गोपथ ब्राह्मण
गो गृ.सू	–	गोमिल गृह सूत्र
ज ए सो.ब	–	जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी आफ बगाल
ज.बा ब्रा.ए.सो	–	जर्नल ऑफ दि बाम्बे ब्रांच ऑफ एशियाटिक सोसाइटी

ज बि.आ रि.सो.	–	जर्नल आफ बिहार एव ओडीसा रिसर्च सोसायटी
जे आर ए.एस	–	जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी
जै.गृ.सू	–	जैमिनी गृह्य सूत्र
जै.उ.ब्रा.	–	जैमिनी उपनिषद ब्राह्मण
जीवनी	–	लाइफ आफ ह्वेनसाग, बीलकृत
तै.आ.	–	तैत्तिरीय आरण्यक
तै.ब्रा.	–	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै स	–	तैत्तिरीय संहिता
तै.उ.	–	तैत्तिरीय उपनिषद्
द्रा गृ सू.	–	द्राह्मायण गृह सूत्र
नी श.	–	नीतिशतक
नीति	–	नीतिवाक्य
पा.गृ.सू	–	पारस्कर गृह्य सूत्र
पारा म	–	पाराशर स्मृति पर माधवक की टीका
प्र उप	–	प्रश्नोपनिषद्
पू मी	–	पूर्व मीमासा
बौ.ध सू	–	बौधायन धर्म सूत्र
बौ गृ सू	–	बौधायन गृह्य सूत्र
महा.	–	महाभारत
म.नि	–	मझिम निकाय
म व	–	महावग्ग
मनु.	–	मनुस्मृति
माल	–	मालविकाग्निमित्र
मा गृ.सू	–	मानव गृह्य सूत्र
मे आ स ई.	–	मेमोयर्स आफ दि आर्कलाजिकल सर्वे आफ इडिया
मेग	–	मेगस्थनीज
म स.	–	मैत्रायणीय संहिता
मिलि	–	मिलिन्द् पन्ह
मु उप	–	मुण्डकोपनिषद्
यजु.	–	यजुर्वेद
याज्ञ	–	याज्ञवल्क्य
रघु.	–	रघुवश
राज.	–	राजतरगिणी
रमा.	–	रामायण

व ध सू	–	वशिष्ठ धर्म सूत्र
व गृ सू	–	वशिष्ठ गृह्य सूत्र
वाज स	–	वाजस्नेय सहिता
विक्रमो.	–	विक्रमोवर्शीयम
वि पु	–	विष्णु पुराण
वि ध सू	–	विष्णु धर्म सूत्र
वि स्मृ	–	विष्णु स्मृति
वीर मि.स	–	वीर मित्रोदय सस्कार प्रकाश
वैट्र्स	–	वैटर्स आन ह्वेनसाग ट्रेवेल्स
शत. ब्रा.	–	शतपथ ब्राह्मण
शख	–	शखायन, शख स्मृति
शा.प	–	शांति पर्व, महाभारत
शार्ग प.	–	शार्गधर पद्धति
साम	–	सामवेद
सा.ई इ रि	–	ऐनुअल रिपोर्टस आफ साउथ इडियन एपिग्राफी
सै.बु ई	–	सैक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट सीरीज
स्मृ. च	–	स्मृति चन्द्रिका
सु.र.स.	–	सुभाषित रत्न सदोह
सु र भा	–	सुभाषित रत्न भंडार
हि.गृ.सू	–	हिरण्यकेशी गृह्य सूत्र
ऋ	–	ऋग्वेद
ऋतु	–	ऋतुसहार
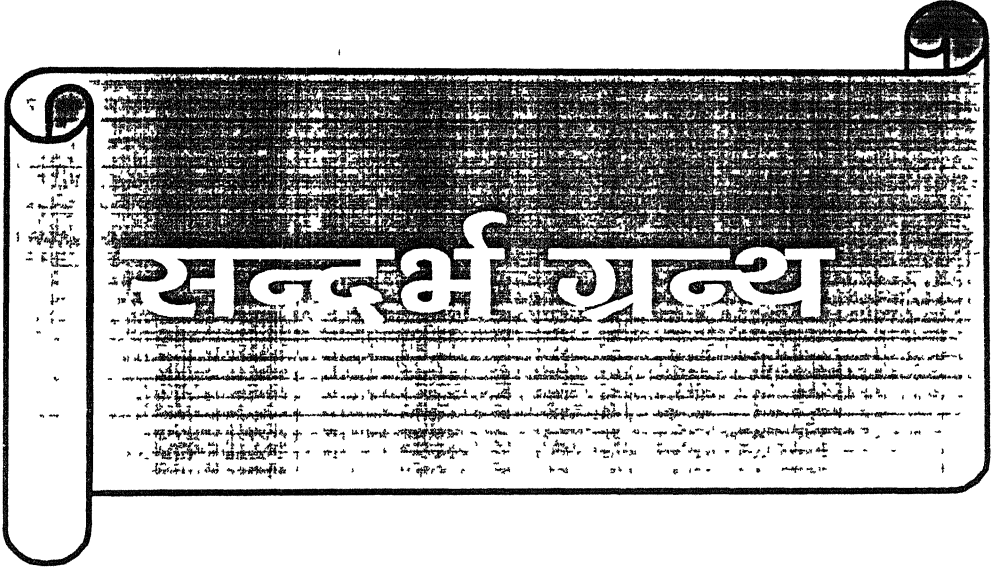
सन्दर्भ ग्रन्थ

संदर्भ ग्रन्थ

मूलग्रन्थ

अथर्ववेद	:	सम्पादक, आर.रौथ और डब्लू डी हिवटने, बर्लिन, सम्पादक, श्रीपाद शर्मा, औंधनगर, 1938
अपरार्क	:	याज्ञवल्क्य स्मृति पर भाष्य, आनन्दाश्रम सस्कृत सिरीज, पूना, 1903–4
अर्थशास्त्र	:	सम्पादक, आर. शाम शास्त्री, मैसूर, 1909–29, हिन्दी व्याख्या वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा, विद्या भवन, 1984
अमरकोश	:	अमरसिह सम्पादित, गुरूप्रसाद शास्त्री, वाराणसी, 1950 सम्पादक, प. शिवदत्त
अष्टाध्ययी	:	सम्पादक एवं अनुवादक एस.सी. वसु मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1977
आचाराग सूत्र	:	श्री अमोलक ऋषि द्वारा अनुदित
आपस्तम्ब धर्म सूत्र	:	हरदत्त की टीका सहित, चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी
आपस्तम्ब श्रौत सूत्र	:	रूद्रदत्त की टीका सहित, सम्पादक, जी. एच.भट्ट, बडौदा, 1955.
आश्वलायन गृहसूत्र	:	म.मं.गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित, त्रिवेन्द्रम, 1923. सम्पादक, पं. गणपति शास्त्री
उपनिषद्	:	निर्णयसागर प्रेस मुम्बई, गीता प्रेस, गोरखपुर
उत्तर रामचरित	:	सम्पादक, पी.वी. काणे, तृतीय सस्करण, मुम्बई, 1929
ऐतरेय ब्राह्मण	:	त्रावणकोर विश्वविद्यालय, संस्कृत सीरीज, त्रिवेन्द्र, 1942.
ऐतरेय आरण्यक्	:	सम्पादक, हरिनारायण आप्टे, पूना, 1898.
कल्पसूत्र	:	भद्रबाहु, सम्पादक, एचत्र याकोबी, लाइपजिंग, 1879
कथाकोश	:	प्रभाचन्द्र, सम्पादक, ए.एन. उपाध्येय दिल्ली 1974.
कल्पसूत्र	:	सम्यज्ञान प्रचारक मण्डल, जोधपुर
कथा सरित्सागर	:	सम्पादक, केदारनाथ शर्मा, पटना, 1960
कर्पूर मंजरी	:	राजशेखर, कलकत्ता, 1948
कात्यायन–श्रौतसूत्र	:	सम्पादक, ए. बेवर, लन्दन, 1855
कामन्दकीय नीतिसागर	:	टी. गंणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित, त्रिवेन्द्रम्, 1912
काव्यमीमांसा	:	राजशेखर, सी.डी. दयाल तथा आर.ए. शास्त्री द्वारा सम्पादित, बडौदा, 1934
कादम्बरी	:	वाणभट्ट, सम्पादक, एम.आर.काले, मुम्बई

कामसूत्र : वात्स्यायन, जयमंगल टीका (श्री देवदत्त शास्त्री) चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1982, सम्पादक, दुर्गाप्रसाद
कुमार संभव : निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई, 1927
गोपथ ब्राह्मण : सम्पादक, आर.मित्र, 1872
गौतम धर्मसूत्र : हरदत्त टीका सहित, आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज, 1910
गौतम स्मृति : सेक्रेड बुक आव दि ईस्ट, आक्स फोर्ड, 1897
गीता : गीता प्रेस, गोरखपुर
चरक सहिता : दो भाग, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, 1986
चारूदत्त सम्पादक, गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, 1914
छान्दोग्यपनिषद :
जातक : कावेल्न, केम्ब्रिज, 1895—1913
तैत्तिरीय सहिता : कलकत्ता, 1854
दशकुमार चरित : दण्डी विरचित, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1966
धर्मशास्त्र : पी.वी. काणे
नीतिवाक्यमृत : (हि.री.), सुन्दर लाल शास्त्री, महावीर जैन ग्रंथमाला, वाराणसी, 1976
नकुल अश्व—शास्त्र : सरस्वती लाइब्रेरी, तंजौर, 1952
पाराशर स्मृति : सम्पादक, महामहोपाध्याय, चन्द्रकान्त तर्कालंकार, कलकत्ता, 1862
बाल रामायण : राजशेखर, सम्पादक, पं. जीवनानद विद्यासागर, कलकत्ता, 1884
बौधायन धर्म सूत्र : आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, सम्पादक, श्री निवासाचार्य, मैसूर, 1907
बृहत्संहिता : वाराहमिहिर वाराणसी, 1895 सम्पादक, सुधाकर द्विवदी, वाराणसी, 1895
बृहदारण्यक उपनिषद: आनन्दाश्रम, संस्कृत सीरीज, 1888
मत्स्य पुराण : आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज, पूना, 1907
मनुस्मृति : मेघातिथि की टीका के साथ, कलकत्ता, 1932 सम्पादक, पं. गंगानाथ झा, इडियन प्रेस, प्रयाग, 1932
महाभारत : सम्पादक (नीलकण्ठ की टीका सहित) पूना, 1929—33, गीता प्रेस, गोरखपुर सम्पादक, विष्णु सुकथंकर, 1942
महाभाष्य : 3 भाग, मुम्बई, 1892—1909 सम्पादक, कीलहार्न, द्वितीय संस्करण, गवर्नमेण्ट सेंट्रल प्रेस, मुम्बई
मालविकाग्निमित्र : मुम्बई, संस्कृत सीरीज, 1889
मिलिन्द पन्हो : सम्पादक, ट्रेकनर, लंदन, 1880
मुद्रा राक्षस : सम्पादक, आर.के. ध्रुव, तृतीय संस्करण 1930
मृच्छकटिकम् : सम्पादक, आर.डी. करमरकर, द्वितीय संस्करण, 1950
याज्ञवल्क्य स्मृति : सम्पादक, जे.आर. धारपुरे, मुम्बई, 1926 सम्पादक, नारायण शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

रघुवश : कालिदास ग्रथावली, वाराणसी
रत्नावली : सम्पादक, गिरीश विद्यारत्न यंत्रालय, कलकत्ता, शकाब्द, 1821
रामायण : बड़ौदा, 1962 : गीता प्रेस, गोरखपुर, 1967
राजतरंगिणी : एम.ए.स्टीन, वाराणसी, 1961 आर.एस. पंडित (अनुवादक), दिल्ली
वशिष्ठ की धनुर्वेद संहिता : हरदयालु स्वामी, मेरठ, 1899
वशिष्ठ धर्म सूत्र : पूना, 1930
वायु पुराण : पूना, 1905
वाजसनेयी संहिता : निर्णय सागर संस्करण, मुम्बई, 1912
विष्णु धर्म सूत्र . सम्पादक, जौली, कलकत्ता, 1881
विष्णु पुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर
वीरमित्रोदय . मित्र मिश्रकृत, जीवनानंद संस्करण
शतपथ ब्राह्मण : अच्युत ग्रंथमाला कार्यालय, वाराणसी, संवत् 1994–97
शंख स्मृति : स्मृति संदर्भ, भाग–3, गुरूमंडल ग्रंथमाला, कलकत्ता
शुक्रनीति : चौखम्भा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, 1968 : अनुवादक, विजय कुमार सरकार, सम्पादक, वी.डी. वसु, 1914
शुक्ल यजुर्वेद संहिता : सम्पादक, पं. ब्रह्मशंकर मिश्र, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1968
संस्कार प्रकाश : चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी
स्मृति प्रकाश : आर्यदर्पण प्रेस, शाहजहाँपुर, 1890
सुश्रुत सहिता : मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1968
हस्तायुर्वेद : पालकाप्यमुनि रचित, आनन्दाश्रम, पूना
हर्षचरित : सम्पादक, ए.ए. फूहरर
ऋग्वेद : सायण भाष्य सहित, सम्पादक, मैक्समूलर 1890–92, 5 भाग, वैदिक संशोधन मंडल, पूना, 1933–51
ऋग्वेद ब्राह्मण : अंग्रेजी अनुवाद, ए.बी. कीथ, प्रथम भारतीय संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास, 1971
ऋतुसंहार : सम्पादक, वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री

सहायक ग्रंथ

अनन्त सदाशिव अल्तेकर : प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति, वाराणसी, 1968 दि पोजीशन ऑफ वीमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, वाराणसी, 1938
आर.सी. मजूमदार : वैदिक युग
आर.सी. मजूमदार : द हिस्ट्री कल्चर ऑफ इंडियन पीपुल।
आर.के पन्धारी : पोजीशन आफ ब्राह्मणाज इन एन्शियेन्ट इंडिया पूना, 1960
आर.एस. शर्मा : शूद्रों का प्राचीन इतिहास, दिल्ली, 1979
एच.सी. चकलदार : सोशल लाइफ इन एन्शियेन्ट इंडिया, स्टडीज इन

कामसूत्र, कलकत्ता, 1929

एस.के. दास : एजूकेशन सिस्टम ऑफ दि एन्शियेन्ट हिन्दूज, कलकत्त, 1930

एन.के. देवराज : भारतीय संस्कृति (महाकाव्यों के आलोक मे), लखनऊ, 1961

एम.सी. बनर्जी : इंडियन सोसायटी इन द महाभारत, वाराणसी, 1956

एम.एन. मजूमदार : ए हिस्ट्री ऑफ एजूकेशन इन एन्शियेन्ट इंडिया, कलकत्ता, 1916

एच. राधाकृष्णन : धर्म और समाज, दिल्ली, 1972

एस.एन. राय : पौराणिक धर्म एवं समाज, इला., 1968

एस.सी. दास : इण्डियन पाण्डित्य इन दि लैण्ड आफ स्त्री, कलकत्ता, 1893

ओम प्रकाश : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, दिल्ली

कोमलचन्द्र जैन : जैन और बौद्ध आगमों मे नारी जीवन अमृतसर, 1967

के.पी. जयसवाल : मनु एण्ड याज्ञवल्क्य, 1930

की : एन्शियेन्ट एण्ड लेटर इडियन एजूकेशन, आक्सफोर्ड

कृष्ण कुमार : प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति, सरस्वती सदन, नई दिल्ली

क्लीरसे बदेर : वीमेन इन एन्शियेन्ट इंडिया, लंदन, 1925

गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी : वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, पटना 1960

गोविन्द चन्द पाण्डेय : बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, लखनऊ 1963

चार्लस इलियट : हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, लंदन, 1954

जयशंकर मिश्र : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना

जे.एम.सेन : हिस्ट्री ऑफ एलिमेन्टरी एजूकेशन इन इंडिया कलकत्ता, 1933

जे. कृष्णमूर्ति : शिक्षा एवं जीवन का तात्पर्य, वाराणसी, 1998

थार्नडिक : एजूकेशन साइकोलाजी

दीपंकर : कौटिल्यकालीन भारत, लखनऊ, 1968

दिनेश चन्द्र सरकार : सोशल लाइफ इन ऐन्शियेन्ट इंडिया, कलकत्ता, 1971

दास : दि एजूकेशन सिस्टम आफ ऐन्शियेन्ट हिन्दूज, कलकत्ता, कलकत्ता, 1930

धर्मपाल : गुरू–शिष्य परम्परा

नदवी : अरब और भारत सम्बन्ध, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग

पी.एन. प्रभु : हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, मुम्बई, 1958

प्रदीप कुमार केशरवानी : भारतीय समाज एवं संस्कृति का आलोचनात्मक अनुशीलन, इला., 2001

पी. थामस : हिन्दू रिलिजन, कस्टम एण्ड मैनर्स

पी.वी. काणे : हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, 1–3 भाग, पूना, 1930–46

बी.जी. गोखले : ऐन्शियेन्ट इंडिया हिस्ट्री एण्ड कल्चर मुम्बई, 1962

बी.एन.एस. यादव : सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दन 'इडिया, इला., 1973

बी.एन.पुरी : इंडिया इन द टाइम्स आफ पतंजलि, मुम्बई, 1957

भगवत शरण उपाध्याय : भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, दिल्ली 1978
भोजराज द्विवेदी : हिन्दू मान्यताओं का वैज्ञानिक आधार, नई दिल्ली, 2001
मोहन लाल महतो : जातक कालीन भारतीय सस्कृति, पटना, 1958
यू.एन. घोषाल : स्टडीज इन इंडियन हिस्ट्री एण्ड कल्पचर, कलकत्ता 1965
राम प्रसाद त्रिपाठी : स्टडीज इन पोलिटिकल एण्ड सोशियो – इकनॉमिक हिस्ट्री आफ अर्ली इण्डिया, इला, 1981.
राजबली : हिन्दू संस्कार, वाराणसी
राधा कुमुद मुखर्जी : प्राचीन भारतीय शिक्षा, लंदन 1947
लक्ष्मीदत्त ठाकुर : प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, लखनऊ, 1965
लज्जाराम तोमर : भारतीय शिक्षा के मूल तत्व, नई दिल्ली 1995
वसु : इंड़ियन टीचर्स आफ दी बुद्धिस्ट यूनिवर्सिटीज, मद्रास, 1925
विद्याभूषण : ए हिस्ट्री आफ इंडियन लॉजिक, कलकत्ता, 1921
विंटरनिट्ज : हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, भाग–1
वी.डब्लू करंबेलकर : दि अर्थर्ववैदिक सिविलाइजेशन
वी.ए. अग्रवाल : इंडिया ऐज नोन टु पाणिनि, लखनऊ, 1953
वासुदेव शरण अग्रवाल : कला और संस्कृति, इला., 1952 ; कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, 1970 ; पाणिनीय कालीन भारत, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, वि.सं 2012। हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना 1953
शांति कुमार व्यास : रामायण कालीन संस्कृति, दिल्ली, 1958
शकुन्तला राव शास्त्री : वीमेन इन दि वैदिक एज, भारतीय विद्या भवन, मुम्बई।
सच्चिदानन्द भट्टाचार्या : भारतीय इतिहास कोश, लखनऊ, 1967
सरेजान मार्शल : तक्षशिला, भाग1–3, कैम्ब्रिज वि.वि. प्रेस 1951
स्वामी विवेकानन्द : शिक्षा, रामकृष्ण मठ, नागपुर
स्टार्क : बर्नाक्यूलर एजूकेशन इन बंगाल फ्रॉम 1813 टु 1912 कलकत्ता, 1916

विदेशी यात्रियों के विवरण

अलबीरूनीज इंडिया, साचो, पापुलर एडिशन, 1914
आन–यवान च्वांग, वाटर्स, 1905
फाहियान, लेग्गे आक्सफोर्ड, 1886
फाहियान, गाइल्स, लन्दन, 1867
लाइफ आफ श्वान–च्वांग, भारतीय संस्करण दिल्ली, 1973
मेगस्थनीज ऐड एरियन, मेक्रिण्डिल, लण्डन, 1887
लाइफ आफ यवान–च्वांग, बील, लन्दन, 1914

ऐंशियेन्ट इडिया ऐज डिसक्राइब्ड इन क्लैसिकल लिटरेचर, प्रथम भारतीय संस्करण, नई दिल्ली, 1979

ट्रैवेल्स इन मुगल इम्पायर, वर्नियर, आक्सफोर्ड, 1914

अभिलेख

: एपिग्राफिया इन्डिका और इण्डियन एटिक्विरि में प्रकाशित लेख

: साउथ इंडियन एपिग्राफी की रिपोर्ट

: कार्पस इन्सिक्रिप्शन्स् इण्डिकेरम्, जिल्द, 4, कनिंघम

: गुप्त अभिलेख, फ्लीट, जे.एफ.

: लिस्ट ऑफ इन्सिक्रिप्शन्स आफ नार्दन इंडिया, ए.इ., परिशिष्ट, भाग 19, 23, डी.आर. भण्डारकर

: सेलेक्ट इन्सिक्रिप्शंस विचरिंग आन इंडियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन, जिल्द 1, कलकत्ता, 1965, जिल्द, 2 कलकत्ता, 1983, डी.सी. सरकार

: हिस्टारिकल इन्सक्रिप्शंस आफ सदर्न इण्डिया, मद्रास, 1932, स्वेल राबर्ट एण्ड कृष्णा

शोध पत्र—पत्रिकायें

अमेरिकन जर्नल ऑफ सोशियोलॉजी

अवर हेरिटेज — कलकत्ता

आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, ऐनुअल रिपोर्ट

इण्डियन ऐन्टिक्वेरी

इण्डियन हिस्टारिकल कर्क्टर्ली

इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू

इंडियन कल्चर

इस्लामिक कल्चर हैदराबाद

इस्लामिक हिस्ट्री रिव्यू

एनाल्स ऑफ दि भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना

एपिग्रेफिया इण्डिया

एन्शियेन्ट इण्डिया

जर्नल ऑफ दि आन्ध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसाइटी

जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता

जर्नल ऑफ दि युनिवर्सिटी ऑफ बाम्बे

जर्नल ऑफ दि पंजाब हिस्टारिकल सोसाइटी

जर्नल ऑफ दि रॉयल दि रॉटल एशियाटिक सोसाइटी, लन्दन

जर्नल ऑफ दि बिहार, उड़ीसा रिसर्च, सोसाइटी
जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल कलकत्ता
जर्नल ऑफ दि यू.पी. हिस्टारिकल सोसाइटी, लखनऊ
जर्नल ऑफ दि ईश्वरी प्रसाद रिसर्च इन्स्टीट्यूट
जर्नल ऑफ दि गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट, इलाहाबाद
जर्नल ऑफ एशियन स्टडीज
नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वाराणसी
न्यू इडियन ऐक्टिवेरी, मुम्बई
पटना युनिवर्सिटी जर्नल
पुराणम : रामनगर, वाराणसी
प्रोसीडिंग्स ऑफ दि इन्डियन हिस्ट्री कांग्रेस
प्रोसीडिंग्स एण्ड ट्रॉजेक्शन्स ऑफ दि आल इण्डिया ओरियन्टल कॉन्फरेन्स
पुराणम
पूना ओरिएंटेलिस्ट, पूना
बुलेटिन आफ द स्कूल ऑफ ओरिएण्टल स्टडीज, लण्डन
भारतीय विद्या : मुम्बई

● ● ● ● ●

जर्नल ऑफ दि बिहार, उडीसा रिसर्च, सोसाइटी
जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बगाल कलकत्ता
जर्नल ऑफ दि यू.पी. हिस्टारिकल सोसाइटी, लखनऊ
जर्नल ऑफ दि ईश्वरी प्रसाद रिसर्च इन्स्टीट्यूट
जर्नल ऑफ दि गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट, इलाहाबाद
जर्नल ऑफ एशियन स्टडीज
नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वाराणसी
न्यू इंडियन ऐक्टिवेरी, मुम्बई
पटना युनिवर्सिटी जर्नल
पुराणम : रामनगर, वाराणसी
प्रोसीडिग्स ऑफ दि इन्डियन हिस्ट्री कांग्रेस
प्रोसीडिग्स एण्ड ट्रॉजेक्शन्स ऑफ दि आल इण्डिया ओरियन्टल कॉन्फरेन्स
पुराणम
पूना ओरिएटेलिस्ट, पूना
वुलेटिन आफ द स्कूल ऑफ ओरिएण्टल स्टडीज, लण्डन
भारतीय विद्या : मुम्बई